भारतीय संस्कृति का उत्थान

डा॰ रामजी उपाध्याय

भारतीय संस्कृति का उत्थान

लेखक

डा० रामजी उपाध्याय

एम० ए०, डी० फिल्, डी० लिट्

सीनियर प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

सागर विश्वविद्यालय, सागर

राम नारायण लाल अरूण कुमार

प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता

प्रकाशक

रामनारायणलाल बेनीमाधव

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद—२

[...तुर्थ संस्करण]

RAM NARAIN LAL ARUN KUMAR

Revised Price

Rs 50/-

[redacted]

प्रकाशक
रामनारायणलाल बेनीमाधव
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद

चतुर्थ संस्करण
(परिवर्धित और संशोधित)
१५ जून, १९७८

मुद्रक
विजय कुमार अग्रवाल
नव साहित्य प्रेस
इलाहाबाद

समर्पण

महामनीषी

डा० द्वारकाप्रसाद मिश्र

के

कर-कमलों में

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

किसी राष्ट्र या समाज की सत्ता के प्रयोजनों में से सर्वोपरि स्थान है अपनी संस्कृति के विकास और संरक्षण का । अपनी विशिष्ट संस्कृति के बिना उसकी सत्ता व्यर्थ सी है । इसी दृष्टि से भारत ने प्राचीन काल में ऊँची संस्कृति का निर्माण किया । इसके पीछे हमारे पूर्वजों की तपःसाधना रही है । समय-समय पर संस्कृति के किञ्चित् उपेक्षित होने पर कुछ युग-पुरुषों का अवतार हुआ, जिन्होंने उस संस्कृति को पुनः उज्जीवित किया । आज कुछ ऐसा लग रहा है कि भारत अपनी सांस्कृतिक निधि के प्रति उपेक्षा-भाव बरत रहा है और योरप और अमेरिका की अर्थ और काम-प्रधान उद्दाम संस्कृति की धारा में पड़ कर अपनी स्थिति खोता जा रहा है। यह परिस्थिति भारत को भारत न रहने देगी ।

भारतीय संस्कृति की कुछ विशेषताएँ रही हैं । इस संस्कृति की चार प्रवृत्तियों --धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से भारत ने धर्म और मोक्ष को अर्थ और काम से बढ़कर आदर दिया है। आज धर्म और मोक्ष का स्थान जैसे विदेशी संस्कृतियों में नहीं है, वैसे ही भारतीय संस्कृति में भी मिटता जा रहा है। भारत की आधुनिक संस्कृति में काम और अर्थ की प्रधानता होती जा रही है । ऐसा न समझें कि प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति में अर्थ और काम का स्थान नहीं था, किन्तु ये दोनों धर्म और मोक्ष की प्रवृत्तियों से नियमित और नियन्त्रित थे । ऐसे स्थिति में हमारी प्राचीन संस्कृति की धारा अजस्त्र निर्मल थी।

न केवल भारत में, अपितु विश्व के प्रत्येक भूभाग में आज भी कुछ विचारक हैं, जो समझतेहैं कि व्यक्तिगत या राष्ट्रीय संस्कृति का परम प्रयोजन अर्थ और काम की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने से नहीं सिद्ध होगा। आप को उपर्युक्त दो मार्गों में किस एक को अपनाना है---यह निर्णय करने के लिए आप उन पद-चिह्नों को देखें, जो अमिट हैं, जो विश्ववन्दनीय हैं और जिनका दर्शन-मात्र आपको शान्ति दे सकता है । इसके विपरीत ले जाने वाले वे पद-चिह्न हैं, जो क्षणिक स्वर्ग की अनुभूति कराकर चिर नरक, अशान्ति और दुर्बलता का कारण बन जाते हैं। यह आपके विवेक पर अवलम्बित है कि आप किस रास्ते चलते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक सन्मार्ग के उन्हीं सनातन पद-चिह्नों का स्मरण कराने के उद्देश्य से लिखी गई है । आशा है, पाठकों को इससे जीवन-शोध की प्रेरणा मिलेगी ।

चतुर्थ संस्करण में अभिनव सांस्कृतिक सूचनायें यथास्थान परिवर्धित हैं। इसमें आचार और चरित्र-निर्माण नामक नया अध्याय जोड़ा गया है ।

--रामजी उपाध्याय

प्रयाग
रामनवमी वि० सं० २०३५

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
१. संस्कृति का स्वरूप	१—१३
२. संस्कार	१४—२३
३. आश्रम-व्यवस्था	२४—४४
४. दार्शनिक प्रवृत्ति	४५—५६
५. धार्मिक प्रवृत्ति	५७—१०३
६. सामाजिक संस्थान	१०४—१२५
७. मनोरंजन	१२६—१३७
८. औद्योगिक जीवन	१३८—१५१
९. रहन-सहन	१५२—१६०
१०. आचार और चरित्र-निर्माण	१६१—१६९
११. शासन-संस्था	१७०—१८९
१२. शिल्पकला	१९०—२१८
१३. विज्ञान	२१९—२३५
१४. वैदेशिक प्रसार	२३६—२५३
१५. उपसंहार	२५४—२५६
१६. चित्रावलि	२५७—२७०

प्रथम अध्याय

संस्कृति का स्वरूप

पशुओं का जीवन प्राकृतिक है। इसके विपरीत मानव-जीवन सांस्कृतिक है। इसमें कला, विज्ञान और दर्शन आदि का नित्य संवर्धन दिखलाई पड़ता है। वास्तव में प्राकृतिक जीवन में निरन्तर कठिनाइयाँ हैं। उन्हें दूर करने के लिए मानव ने जो उपाय किये, वे उसकी आरम्भिक संस्कृति व्यक्त करते हैं।

प्राकृतिक और सांस्कृतिक जीवन का तुलनात्मक अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि दोनों की मौलिक आवश्यकताएँ प्रायः समान ही हैं। मानव ने अपने सांस्कृतिक जीवन में अपनी आवश्यकताओं को नित्य बढ़ाया है। मानव को संग्रह-शीलता की उपयोगिता का परिचय मिलते अधिक समय नहीं लगा। संग्रह-शीलता के साथ ही उद्योग-धन्धों का विकास हुआ। कृषि, पशुपालन और व्यापार आदि इस दिशा में प्राथमिक समारम्भ हुए। इनके लिए आवश्यक उपादानों की प्राप्ति और तत्सम्बन्धी कला और विज्ञान की प्रगति आवश्यक थीं।

मानव का जीवन सामाजिक होना स्वाभाविक है। समाज में रहने के लिए व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार मानव-जीवन में अनुशासन की प्रतिष्ठा होती है। अनुशासन का सर्वप्रथम परिचय वैवाहिक जीवन के रूप में मिलता है। प्राकृतिक जीवन में पुरुष और नारी के सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध होना आवश्यक नहीं है। यह प्रतिबन्ध सांस्कृतिक जीवन के साथ ही दृढतर होता गया। इसी क्रम से धीरे-धीरे राजनीतिक जीवन का विकास हुआ।

उपर्युक्त सांस्कृतिक जीवन की रूप-रेखा का विन्यास आधिभौतिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। मानव-जीवन की जिन आवश्यकताओं की चर्चा की गई है, वे प्रायः शारीरिक हैं और उनके बिना जीवन या सृष्टिक्रम असम्भव-सा है। मानव ने इस दिशा में जो कुछ किया है, वह प्राकृतिक संविधानों का परिष्कार-मात्र कहा जा सकता है।

सांस्कृतिक जीवन के कुछ तत्त्व प्राकृतिक जीवन से बाहर के भी हैं। इनमें प्रधान हैं—आध्यात्मिक, कलात्मक, सेवात्मक, साहसात्मक और बौद्धिक। आध्यात्मिक जीवन के मूल में बुद्धि-तत्त्व आवश्यक है। बुद्धि-तत्व को प्राकृतिक जीवन के क्षेत्र में उपयोग में लाने पर विज्ञान की प्रगति होती है, पर बुद्धि-तत्त्व के द्वारा प्राकृतिक जीवन से बाह्य तत्त्वों का अनुशीलन करने पर दर्शन का विकास होता है। मैं क्या हूँ, यह

सृष्टि क्या है, जीवन का उद्देश्य क्या है, सुख और दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या है--आदि विषयों पर बुद्धि लगाने पर दार्शनिक तथ्यों का उद्भव होता है। मानव प्राकृतिक जीवन के तत्त्वों से संतोष न करके जीवन के दार्शनिक पक्ष को महत्त्व देते हुए दर्शन की विविध प्रणालियों का विकास करने में सफल हुआ है। दर्शन के साथ ही धर्म का उदय होता है। दर्शन के द्वारा मानव को जो प्रकाश मिलता है, उसके आधार पर वह अपने लौकिक व्यवहार एव चराचर के सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्यों की जो दिशा बनाता आया है, वह धर्म है।

जीवन के कलात्मक अथवा रसात्मक पक्ष का सम्बन्ध मन या हृदय से है। मन को रुचिकर लगने वाले पदार्थों को अमर रूप देने के लिए चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला आदि का प्रादुर्भाव हुआ है और मन को आनंद देने वाली स्वर-लहरी को संगीत में प्रतिष्ठा मिली है। हृदयहारी क्रिया-कलापों को अभिनय में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। उपर्युक्त सभी तत्त्वों को समष्टिगत प्रतिष्ठा काव्य में प्राप्त हुई है। सृष्टि में जो कुछ मनोरम प्रतीत हुआ, वह काव्य-बन्ध में बाँधकर सदा के लिए अपना लिया गया।

सेवात्मक प्रवृत्तियों का इस युग में सर्वोच्च विकास महात्मा गाँधी के जीवन-चरित में प्रत्यक्ष ही रहा है। इस प्रवृत्ति के मूल में सहानुभूति का स्रोत प्रधान है। हिमालय के शिखर पर चढ़ने वाला वीर प्राण जाने के भय की भी चिन्ता नहीं करता। उसे इस पराक्रम में आनन्द की अनुभूति साहसिक संस्कृति के द्वारा होती है।

ज्ञान-विज्ञान के प्रश्नों का उत्तर तपस्वी की भाँति लगन से ढूंढ़ लेने पर जो आनन्द मिलता है, वह बौद्धिक संस्कृति के परिणाम स्वरूप है। मानव उत्पादन के लिए कम से कम श्रम करना चाहता है, अधिक से अधिक उपभोग की सामग्रियाँ चाहता है और भय और दुःख का अन्त कर देना चाहता है। कभी-कभी जीवन की विडम्बनाओं से ऊबकर वह गहन दर्शन, कला और मनोरंजन की शरण लेता है। इस प्रकार नित्य विज्ञान के अनुसंधानों के द्वारा नये-नये उत्पादन के साधन तथा उनसे उत्पादित भोग-विलास की सामग्रियाँ उत्पन्न हो रही हैं और राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के द्वारा युद्ध और अत्याचार का अन्त किया जा रहा है। इसमें मानव को जो सफलता मिल रही है, उससे उसको पूरा संतोष नहीं हो रहा है। वह असंतुष्ट होकर जीवन के दार्शनिक और कलात्मक पक्ष की ओर देखता है। संसार में कदाचित् ही कोई ऐसी वस्तु रह गई हो, जिसे मानव अपने लिए उपयोगी बनाने की समस्या पर विचार न कर रहा हो। यदि वह किसी वस्तु को अपने लिए सर्वथा हानिकर समझता है तो उसे मिटा देना चाहता है। यही जीवन का सांस्कृतिक

संग्राम है, जिसमें मानव के कार्य-कलाप अपने लिए और दूसरों के लिए भी होते हैं। वह अपना और दूसरों का भी सुख बढ़ाने और दुःख दूर करने में तत्पर रहा है। यही संस्कृति का उदात्त पक्ष है।

सांस्कृतिक और प्राकृतिक जीवन की जो रूप-रेखा ऊपर प्रस्तुत की गई है, उसके अनुसार हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राकृतिक जीवन सांस्कृतिक जीवन की पृष्ठभूमि में अंशतः अवश्य ही है। मानव ने प्राकृतिक जीवन को अपने बुद्धि-तत्त्व के द्वारा सँवारा है और उसकी कठिनाइयों को अधिक से अधिक दूर करने की चेष्टा की है। सांस्कृतिक जीवन का आध्यात्मिक, कलात्मक और सेवात्मक पक्ष प्राकृतिक जीवन में नहीं पाया जाता। प्राकृतिक जीवन में जो कुछ कलापक्ष दिखाई देता है, वह प्रायः स्थिर है। उसमें प्रगति और विकास अदृश्य-से हैं। सांस्कृतिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अङ्ग आध्यात्मिक बौद्धिक और कलात्मक हैं। आज मानव की कृतियों में जो कुछ शिव और सुन्दर है तथा सत्य की प्रतिष्ठा करता है, वह इन्हीं से उत्पन्न हुआ है। ये तत्त्व सांस्कृतिक उत्कर्ष के आधार हैं।

प्राकृतिक जीवन को व्यवस्थित और शालीन बनाकर सँवारना तथा जीवन में बौद्धिक, आध्यात्मिक, कलात्मक साहसात्मक और सेवात्मक पक्ष की प्रतिष्ठा और विकास करना संस्कृति है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति मानव-व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया है। संस्कृति का मौलिक अर्थ सुधारना अथवा सुन्दर या पूर्ण बनाना है।

प्राकृतिक विन्यास

प्रकृति मानव की आवश्यकताओं की सृष्टि करती है और मानव प्रकृति से ही उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करता है। ऐसी परिस्थिति में किसी भी देश में मानव-जीवन के कार्य-व्यापार अथवा रहन-सहन की रूप-रेखा बहुत-कुछ उस देश की प्राकृतिक दशा पर अवलम्बित होती है। प्रत्येक देश की प्राकृतिक दशा में कुछ विशेषता होती है। यही कारण है कि प्रत्येक देश की संस्कृति की भी अपनी निजी विशेषतायें होती हैं। ये विशेषतायें बहुत कुछ प्राकृतिक दशा के अनुकूल होती हैं।

भारत एशिया महाद्वीप के दक्षिण में विशाल प्रायद्वीप की भाँति निकला हुआ है। इसकी लम्बाई और चौड़ाई अधिक से अधिक १,८०० मील है। प्राचीन संस्कृति की दृष्टि से भारत की सीमा इससे भी अधिक विस्तृत माननी चाहिए। संस्कृति की दृष्टि से उत्तर में अफगानिस्तान और मध्य एशिया का कुछ भाग, दक्षिण में लंका तथा पूर्व में एशिया के पूर्वी द्वीपसमूह तथा हिन्दचीन सैंकड़ों वर्षों तक भारत के साथ रहे।

भारत के उत्तर में हिमालय पर्वत शिरस्त्राण की भाँति फैला हुआ है। यह पर्वत इतना ऊँचा है कि यह उत्तर की ओर से आने वाली ठंडी वायु को रोक कर इस देश की जलवायु को सुहावनी रखता है तथा दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम से आने वाले बादलों को रोक कर उत्तर भारत में भरपूर जल बरसाता है। भारत की संस्कृति-साधना में हिमालय का सुखप्रद तथा उत्साहवर्द्धक योग रहा है।[1]

हिमालय की अत्यधिक ऊँचाई के कारण इसके उत्तर के देशों से बहुत कम जातियाँ आक्रमणकारी बन कर आ सकीं। ऐसी परिस्थिति में इस देश में चिरकाल तक सुव्यवस्था और शान्ति रह सकी थी और संस्कृति का विकास हो सका था।

हिमालय के दक्षिण में उत्तर भारत का नदियों का चौरस मदान है। यह मैदान सारे संसार में अपनी कोटि का निराला ही है। इसमें सुखपूर्वक खेती, पशु-पालन और व्यापार किये जा सकते हैं। लोगों के आपस में मिल-जुल सकने से तथा आने-जाने में किसी प्रकार की कठिनाई न पड़ने से इस प्रदेश में धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक एकता बनी रही।

उत्तर भारत में सदा से नदियों का महत्त्व रहा है। इनके तट के प्रदेश की भूमि प्रायः प्रतिवर्ष बाढ़ आने पर नई होती रहती है और उसकी उर्वरा-शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। नदियों में नावो के चलने से दूर-दूर के देशों से व्यापार की सुविधा रहती है। इनमें वर्षभर जल का प्रवाह रहता है और तट-प्रदेश में रहने वाले लोगों को अपने उपयोग के लिए स्वास्थ्य-वर्धक जल की प्राप्ति अनायास ही हो सकती है। इन सुविधाओं का विचार करके इस देश में प्राचीन काल से ही लोग अधिकाधिक संख्या में नदियों के तट पर रहते आये हैं। इन्हीं नदियों के तट पर प्राचीन काल के प्रायः सभी नगर और आश्रम बने। नदियों के तट भारतीय संस्कृति और सभ्यता के केन्द्र रहे हैं।

उत्तर भारत के विपरीत दक्षिण भारत पर्वत-श्रेणियों का देश है। इस प्रदेश में जीवन की सुविधायें उतनी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलतीं, जितनी उत्तर भारत में। यहाँ न तो समतल मैदान ही अधिक हैं, जो खेती के लिए उपयोगी होते, न नदियाँ ही बड़ी-बड़ी हैं, जिनसे व्यापार और यातायात में सुविधा होती और न वर्षा ही पर्याप्त मात्रा में होती है। ऐसी परिस्थिति में इस प्रदेश के निवासियों के जीवन की न तो एकसूत्रता ही हो सकी और न सर्वत्र सभ्यता का विकास ही हो सका। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दक्षिण भारत में जो प्रदेश चौरस हैं और नदियों के तट पर हैं, वहाँ सभ्यता का सर्वोच्च विकास हो सका था। अनेक बाधाओं के होते हुए भी उत्तर

---

१. हिमालय के विषय में अर्जुन ने महाभारत में कहा है--जैसे बालक पिता की गोद में सुख से रहता है, उसी प्रकार मैं तुम्हारी गोद में रहा हूँ।

भारत और दक्षिण भारत के लोग सदा से मिलते-जुलते रहे हैं। अनेक विषमताओं और विभिन्नताओं के होते हुए भी भारत के इन दो खंडों में संस्कृति की एकरूपता प्रायः रही है।। दक्षिण भारत ने प्राचीन संस्कृति को उत्तर भारत की अपेक्षा अधिक सुरक्षित रखा है। उत्तर भारत में समय-समय पर जो विदेशी आये, उनकी सभ्यता का सम्मिश्रण होता रहा, पर इन विदेशियों का दक्षिण भारत में स्वल्प प्रसार होने से वहाँ की संस्कृति शुद्ध रूप में बनी रही।

प्राचीन काल में भारत का अधिक भाग वनों से लहलहाता था। इन वनों का भारतीय संस्कृति पर अनुपम प्रभाव पड़ा है। कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में भारतीय 'सभ्यता का मूल स्रोत नगर में नहीं, वन में है।' भारतवासियों ने कभी भी इन वनों को सुख और शान्ति के मार्ग में बाधक नहीं माना, वरं अपने अभ्युदय के लिए उनकी शरण ली। वन के निवास ने ऋषियों को जड़ या जंगली नहीं बनाया, अपितु उनके लिए आवश्यक शान्ति और समाधि की सामग्री और वातावरण प्रस्तुत करके उनकी उदात्त विचार-धारा को प्रस्फुटित किया है। वनवासियों की संस्कृति की धारा में सारे भारत ने अवगाहन किया और आज भी कर रहा है। वन के इन्हीं ऋषियों की उपासना करने के लिए तत्कालीन सम्राट् भी समय-समय पर जाया करते थे।[1]

भारत में प्रायः सर्वत्र जलवायु सुहावनी है। ऐसी जलवायु में लोगों की रहन-सहन का सरल होना स्वाभाविक है। जीवन की साधारण आवश्यकतायें स्वल्प हैं और इनकी पूर्ति करने के लिए होड़ करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जलवायु के अनुकूल भारतीय चरित्र का विकास हुआ है। लोग प्रायः निश्छल, सच्चे और विनयी होते आये हैं। जलवायु का प्रभाव लोगों के वेश-विन्यास और गृह-निर्माण की कला पर भी पड़ा है। ढीले-ढाले वस्त्र और चारों ओर से खुले घर जलवायु के अनुकूल पड़ते हैं। लोगों को बहुत कम वस्त्र धारण करने की आवश्यकता पड़ती है। इस देश में रहने के लिए बहुत सुरक्षित घर की भी आवश्यकता नहीं है। प्राचीन काल से ही आज तक पत्ते और फूस के झोपड़ों में भी लोग रह सके हैं। यदि किसी ने चाहा तो अपनी रात्रि खुले आकाश के नीचे बिता ली।

भारत के कलात्मक उत्कर्ष के लिए प्रकृति ने पर्याप्त उपादान प्रस्तुत किये हैं। कवि की कल्पनाओं के लिए, मूर्तिकार की छेनी के लिए और चित्रकार की तूलिका के लिए प्रकृति ने अतिशय समृद्धि प्रदान की है।

प्रकृति ने भारतवासियों को मानव-जीवन के लिए सभी उपयोगी वस्तुओं को उदारतापूर्वक प्रस्तुत किया है। कृषकों को तो थोड़ा श्रम करने से भरपूर धन-धान्य की प्राप्ति होती है, पर वन में रहनेवाले तपस्वियों और ऋषियों के लिए वन अनायास

---

१. महाभारत आदिपर्व ७१·८।

ही जीविका, वल्कल-वस्त्र और आवास प्रस्तुत कर देता है। इस देश के वनों और घास के मैदानों में देख-भाल किये बिना भी सहस्रों गौवों का भरण-पोषण हो सकता था। केवल धनिकों के पास ही नहीं; ऋषियों और आश्रमवासियों के पास भी सहस्रों गायें रहा करती थीं। धरातल के ऊपर की समृद्धि के समान ही भूगर्भ की सम्पत्ति भी अत्यधिक रही है। कोयले और लोहे से लेकर स्वर्ण तथा बहुमूल्य रत्न भारतीय वसुन्धरा में भरपूर पाये जाते हैं। रत्नाकर मोती प्रस्तुत करके भारत को धनी बनाता है। इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है कि जलवायु लोगों को सरल जीवन के लिए अवसर प्रदान करती है, किन्तु उपज भोग-विलास के सारे साधन अनायास प्रस्तुत कर देती है। ऐसी परिस्थिति में एक ओर दिगम्बर संन्यासी का आनन्दमय कोश दिखाई पड़ता है और दूसरी ओर भोग-विलास में लिप्त सम्राट् का ऐश्वर्य।

हम ऊपर देख चुके हैं कि संस्कृति का निर्माण करने में प्रकृति का सर्वाधिक महत्त्व है। प्रकृति के अतिरिक्त किसी देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ और ऐतिहासिक परिस्थितियां, वहाँ पर जन्मे हुए महापुरुष और लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ सांस्कृतिक वैशिष्ठ्य का निर्माण करती हैं।

सांस्कृतिक एकता

बहुत प्राचीन काल से ही केवल भारतवासियों ने ही नहीं, विदेशियों ने भी कश्मीर से कन्याकुमारी तक तथा सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक फैले हुए भूभाग को एक देश माना है।[1] विष्णुपुराण में इस देश की एकता के विषय में लिखा है :—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ।।

यह देश सदा से संस्कृति की दृष्टि से अपने पड़ोसी देशों से भिन्न रहा है। भारतीय संस्कृति के अनुसार पवित्र मानी हुई नदियाँ (गंगा, यमुना, सरस्वती, सिन्धु, नर्मदा, गोदावरी और कावेरी), तीर्थस्थान (बदरिकाश्रम, रामेश्वर, द्वारिका, जगन्नाथ-पुरी, हरद्वार, प्रयाग, काशी, गया, उज्जैन, काँची आदि) और महापुरुष (राम, कृष्ण, जनक, अशोक, विक्रमादित्य, हर्ष, शंकराचार्य, रामानुज आदि) सारे भारत के सभी भागों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कोई भी कला, धर्म, दर्शन या विज्ञान एकदेशीय न रहकर सारे भारत का होकर रहा। प्राचीन काल से लेकर आज तक संस्कृत भाषा और साहित्य समग्र भारतीय राष्ट्र की सम्पत्ति रहे हैं और इस देश की सांस्कृतिक एकता को स्वयंसिद्ध बनाया है। दिग्विजय के लिए राजाओं ने सारे भारत को

---

१. उदाहरण के लिए देखिए—ह्वेनसांग ने समूचे भारत को अपनी परियात्रा का क्षेत्र बनाया।

अपनी विजय-भूमि मानी। मनुस्मृति के आदर्श पर शासित होने वाले सारे भारत की राजनीतिक एकता सदैव प्रत्यक्ष रही है।

भारत के सभी भागों में विकसित हुई भाषाओं का सर्वत्र समादर हुआ। संस्कृत तो सारे भारत की एक भाषा रही ही है। इसके साथ देश की सभी प्राकृतों को साहित्य में और विशेषतः नाटकों में स्थान दिया गया। एक ही नाटक या काव्य में बम्बई से लेकर पटना तक प्रयुक्त प्राकृतों का प्रयोग सिद्ध करता है कि इन दोनों प्रदेशों की एकता लोगों के मानस-पटल पर थी।

भारत का कोई भाग उस प्राचीन काल में किसी एक वर्ग, वर्ण, जाति या सम्प्रदाय के लिए निर्धारित नहीं था। कश्मीर से कन्याकुमारी तक जहाँ जिसको सुविधा प्रतीत हुई, वहीं वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा बसता था।

कवियों ने सारे भारत को सदा एक माना है। उनकी रचनाओं में प्रायः सारे भारत का समान आदर से वर्णन मिलता है। उन्होंने कभी नहीं समझा कि इस देश के कई भाग है, जिनमें से कोई एक किसी विशेष प्रान्तवासी का है।

अपने में सारे भारत को और पूरे भारत में अपने को देखने में राष्ट्रिय एकता प्रस्फुटित होती है।

सांस्कृतिक विशेषतायें

सार्वजनीनता

भारतीय संस्कृति अतिशय प्राचीन है। इसका प्रसार अत्यन्त सुविस्तृत भूभाग पर हुआ था। ऐसी परिस्थिति में देश-देशान्तर में जो सांस्कृतिक परम्परायें विकसित हुईं, उनका सारे भारत में प्रसार हुआ। इस प्रकार की संस्कृति को सीमित अर्थ में सार्वजनीन कह सकते हैं। भारत में अनेक स्थानीय या सामुदायिक संस्कृतियों में उच्चतम तत्त्वों का सम्मिश्रण समय-समय पर होता रहा। ऐसी संस्कृति की प्रवृत्तियों का सुसंयत होना स्वाभाविक है।

सर्वांगीणता

भारतीय संस्कृति का निर्माण करने में सभी वर्णों और आश्रमों के लोगों का योगदान रहा है। इसकी रूप-रेखा बनाने में राज-प्रासाद से किसान की कुटिया तक और तपोभूमि से शिल्पागार तक की कृतियों और विचारणाओं का सामञ्जस्य रहा है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति की सर्वांगीणता उल्लसित हुई है और इसमें जीवन की सारी प्रवृत्तियों का योग हुआ है। इसमें जीवन के चारों वर्ग--धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सफल समन्वय है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति की आशा-वादिता प्रस्फुटित है।

देवपरायणता

भारतीय संस्कृति की देवपरायणता सदा से विशेष उल्लेखनीय रही है। भारतीय धारणा के अनुसार 'सर्वं देवमयम्' सर्वोच्च सत्य है।[1] जिस ब्रह्म से सबकी उत्पत्ति हुई है, उसी में लय हो जाना जीवन का परम उद्देश्य माना गया। ब्रह्म परमदेव है। भारतवासी देववाणी बोलते थे और देवताओं के परितोष के लिए जीवन के सभी कार्य करते थे। इस प्रकार देवताओं का सान्निध्य मानवता के अभ्युत्थान के लिए हुआ था।[2] 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा इसी देवपरायणता के बल पर परिपुष्ट हुई।

धर्मपरता

भारतीय संस्कृति की धर्मपरता प्रत्यक्ष रही है। जीवन के प्रथम क्षण से अन्तिम क्षण तक अपनी शक्ति और समृद्धि का सदुपयोग करते हुए मानव मोक्ष कैसे प्राप्त करे—यही जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है। जीवन की सारी प्रवृत्तियाँ धर्मानकूल होनी ही चाहिए थी। यह धर्म सबके कल्याण के लिए था और मानव की व्यक्तिगत और समष्टिगत शान्ति का उत्स था। धर्म और मोक्ष की भावना ने अर्थ और काम को नियमित किया है——यही आदर्श जीवन है।

आश्रम-व्यवस्था

भारतीय संस्कृति की आश्रम-व्यवस्था व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से विश्व के इतिहास में अनुपम ही है।[3] इस व्यवस्था में जीवन की धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी प्रवृत्तियों को सन्तुलित रखकर किसी भी आश्रम के लिए अवांछनीय दुर्वृत्तियों को रोकने का सफल प्रयास मिलता है। यह वैज्ञानिक योजना वैदिक संस्कृति की चिरस्थायिता के लिए प्रधान कारण बन कर रही है। आश्रम-व्यवस्था के साथ वर्ण-व्यवस्था का सामञ्जस्य रहा है। वर्ण-व्यवस्था के विधानों के द्वारा सभी वर्णों के लोगों को अपनी रुचि के अनुसार अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर दिया गया है। इस प्रकार के विकास में आश्रम-व्यवस्था की सर्वोदयात्मक विकास-योजना अद्वितीय ही मानी जा सकती है।

---

१. इस देववाद की प्रतिष्ठा के लिए केवल एक ही उदाहरण पर्याप्त है कि जिन पंचभूतों का यह विश्व बना है, उनमें से प्रत्येक शिव का स्वरूप माना गया है।

२. गीता में इस विषय का प्रतिपादन इस प्रकार है——

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

३. बौद्ध संस्कृति में इस व्यवस्था का अभाव परवर्ती युग में उसके गौरव के विनाश का कारण हुआ।

आध्यात्मिकता

भारतीय संस्कृति की बहुविध प्रवृत्तियों में आध्यत्मिकता सर्वाधिक सम्मानित थी। आध्यात्मिक पथ था आत्मा के द्वारा परमात्मा का आनन्द प्राप्त करना। ऐसे अध्यात्म-परायण लोगों के सामने राजा भी नतमस्तक था।

कर्मफल

भारतीय संस्कृति की सभी परम्पराओं में कर्मफल की प्रतिष्ठा रही है। कर्म का फल इस जीवन में तो मिलता ही है, पर मरने के पश्चात् स्वर्ग, नरक आदि लोकों में या नानाविध योनियों में परिभ्रमण करते हुए कर्म कर्त्ता को विना फल भोगाये नहीं छोड़ते। इसी विश्वास से इस देश में सदाचार की विशेष प्रतिष्ठा हुई।

सर्वे सुखिनः सन्तु

सभी के सुख की जितनी चिन्ता भारतीय संस्कृति में मिलती है, उतनी विश्व की किसी अन्य संस्कृति में नहीं मिलती। इसका निदर्शन भर्तृहरि के इस श्लोक में मिलता है—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये॥

'सर्वेसुखिनः सन्तु' के इस आदर्श का सर्वोच्च उन्नायक अशोक हुआ। गौतम बुद्ध ने इस सिद्धान्त की सर्वोपरि प्रतिष्ठा की।[1] अपने को सुखी बनाने के लिए दूसरों को सुखी बनाना आवश्यक है।

निःसीमता

भारतीय संस्कृति के सभी क्षेत्रों में निःसीमता दिखाई पड़ती है और संस्कृति के महासागर में नित्य अभिनव विचारणाओं का संगम होता रहा है। इन सबका सदा परिपाक हुआ है। उन्हीं के परियोग से सास्कृतिक रत्नों की अनुपम दीप्ति उत्पन्न हुई, जिससे तत्कालीन विश्व आलोकित हो उठा था। इसी निःसीमता का सर्वोच्च निदर्शन 'भूमा वै सुखम्' वाक्य में प्रतिष्ठित है।

सनातनता

भारतीय संस्कृति में जीवन की मान्यताओं के सम्बन्ध में कुछ सनातन सत्यों की प्रतिष्ठा की गई है, जिनके सम्बन्ध में यह शाश्वत दृष्टिकोण रहा है कि वे

---

१. माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवं पि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं॥

अपरिवर्तनशील हैं ।[१] उन्हीं सनातन-तत्वों को लेकर चलने वाली भारतीय संस्कृति सनातन संस्कृति है ।

समृद्धिशालिता का वातावरण

भारतीय जीवन सदैव आधिभौतिक दृष्टि से सुखी रहा है । अन्य देश के निवासियों को प्रकृति से संघर्ष करते हुए अपनी संस्कृति का निर्माण करना पड़ा है। इसके विपरीत भारतवासियों ने प्रकृति की उदारता और सहयोग के सौरभ में अपनी संस्कृति को विकसित किया है ।

श्रेष्ठों का आदर्श

भारतीय संस्कृति में श्रेष्ठों का आदर्श ऊपर से नीचे प्रवाहित होता रहा है । यथा कर्मयोगी संन्यासी और ब्राह्मण सर्वोच्च प्रतिष्ठित थे । उनकी संस्कृत को आदर्श मानकर यथासम्भव गृहस्थ, क्षत्रिय, वैश्य आदि ने अपनाया । इस सम्बन्ध में शास्त्र-वचन है--

यद्यदाचरते श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

तप की प्रधानता

भारतीय धारणा के अनुसार सृष्टि का समारम्भ तप से हुआ है और कोई भी महान् समारम्भ तप के द्वारा ही सफल हो सकता है । यह तप सभी आश्रम, सभी धर्म और सभी उपलब्धियों में समान रूप से प्रतिष्ठित हुआ है । मनु ने व्यवस्था दी है--

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।

संस्कृति और सभ्यता

भारतीय मान्यता के अनुसार 'सभायां साधुरिति सभ्यः' ।[२] सभ्यों के गुणों का भाव सभ्यता है । किसी मनुष्य या समाज के उन गुणों का आश्रय लेकर सभ्यता का विकास होता है, जिनके द्वारा वे लोग समाज का संघटन करते हैं, परस्पर संवर्द्धित होते हैं और सौहार्द तथा सहिष्णुता का प्रदर्शन करते हैं । सभ्य के गुणों का आकलन पंचतन्त्र में इस प्रकार किया गया है--

---

१. उदाहरण के लिए--सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को व्यक्तित्व के विकास का चरम लक्ष्य मानना ।

२. सभा का अर्थ है सह भान्ति यत्र, अर्थात् जिसमें बहुत से लोग परस्पर सहयोग से चमकते हैं ।

ते धन्यास्ते विवेकज्ञास्ते सभ्या इह भूतले ।
आगच्छन्ति गृहे येषां कार्यार्थं सुहृदो जनाः ।।

अर्थात् सभ्य वे ही हैं, जो मित्रों का कार्य करते हैं। मित्र ही क्यों, जो शत्रुओं का भी काम करें, वे सभ्य हैं।

जहाँ संस्कृति मानवीय व्यक्तित्व के विकास के सभी पक्षों को व्यक्त करती है, वहाँ सभ्यता सबका परोपकार करने की क्षमता-मात्र व्यक्त करती है। इस प्रकार सभ्यता संस्कृति का एक प्रमुख अङ्ग है।

अंगरेजी के सिविलिजेशन को सभ्यता का समानार्थक मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता। सिविलजेशन में नागरिक की सभी उपलब्धियाँ परिगणित होती है और सभ्यता उससे सर्वथा भिन्न है।

संस्कृति-ज्ञान के साधन

प्राचीन संस्कृति का परिचय प्राप्त करने के लिए प्रधान रूप से इस देश के पूर्वजों की कृतियाँ तथा भारत में आनेवाले विदेशी यात्रियों के ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध हुए हैं। पूर्वजों की कृतियाँ साहित्य, शिलालेख, ताम्रपट्ट, मुद्रा, शिल्प, अस्त्र-शस्त्र आदि के रूप में मिलती हैं। आज से लगभग ५,००० वर्ष पहले सिन्धु-प्रदेश में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नगर बसे हुए थे। इन नगरों के ध्वंसावशेष की खुदाई करने पर उस समय के लोगों की प्रायः सभी कृतियाँ जीती-जागती मिली हैं। इनके आधार पर उस समय की संस्कृति का प्रायः पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। सिन्धु-सभ्यता के पहले की संस्कृति का कुछ-कुछ परिचय तत्कालीन अर्ध-सभ्य लोगों के पत्थर तथा धातुओं के अस्त्र-शस्त्रों से लगता है। इनके बनाये हुए बरतन और चित्रकारियाँ मिलती हैं। प्राचीन काल के अन्य प्रसिद्ध नगर, जिनके ध्वंसावशेष इस दृष्टि से उपयोगी हैं, तक्षशिला, सारनाथ, पाटलिपुत्र, नालन्दा, कौशाम्बी आदि हैं। इन्हीं ध्वंसावशेषों के समकक्ष प्राचीन काल के मन्दिर, स्तूप और गुफायें हैं, जो आज भी मिलती हैं।

भारत का प्राचीन साहित्य असीम है, जो संस्कृत, प्राकृत और द्राविड भाषाओं में मिलता है। संस्कृत भाषा के दो रूप प्राचीन अथवा वैदिक तथा नवीन अथवा लौकिक हैं। वैदिक संस्कृत में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् कोटि के ग्रन्थों की रचना हुई थी। वैदिक संस्कृत का विकसित रूप ही लौकिक संस्कृत है। इसका प्रारम्भ सूत्र-साहित्य से होता है। संस्कृत के आदिकाव्य वाल्मीकि-कृत रामायण और व्यास-कृत महाभारत हैं। रामायण और महाभारत के आधार पर संस्कृत में असंख्य महाकाव्यों और नाटकों की रचना हुई है। इनके अतिरिक्त अनेक काव्य-ग्रन्थ गद्य-शैली में लिखे हुए मिलते हैं।

संस्कृत में काव्य-ग्रन्थों के साथ ही साथ शिल्प-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, नीति-शास्त्र व्याकरण, ज्योतिष, छन्दःशास्त्र, काव्य-शास्त्र, गणित और आयुर्वेद-विषयक ग्रन्थों की रचना हुई है। संस्कृति की दृष्टि से संस्कृत के स्मृति और पुराण-ग्रन्थों का अत्यधिक महत्त्व है।

प्राकृत साहित्य की मुख्य रूप से तीन शाखायें हैं--पालि, प्राकृत (शौरसेनी और महाराष्ट्री) तथा अपभ्रंश। इन भाषाओं में प्रायः धार्मिक साहित्य की रचना हुई है। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के साहित्य के अतिरिक्त सुदूर दक्षिण की भाषा तामिल का समृद्ध साहित्य ईसवी शती के पहले से ही लिखा हुआ मिलता है।

प्राचीन काल के सर्वप्रथम शिलालेख सम्राट् अशोक के मिलते हैं। अशोक तीसरी शती ई० पू० में केवल भारत का ही नहीं, तत्कालीन विश्व का सर्वश्रेष्ठ सम्राट् था। उसने भारत के विभिन्न भागों में प्रजा और राजकीय कर्मचारियों को सत्पथ पर अग्रसर करने के लिए सन्देश लिखवाया। दूसरी शती ई० पू० में उत्कल के राजा खारवेल ने हाथीगुम्फा का शिलालेख लिखवाया। इसके पश्चात् के अनेक छोटे-बड़े राजाओं के शिलालेख सारे भारत में मिलते हैं। इन शिलालेखों के वर्णन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रमाणों के लिए पूर्णरूप से विश्वसनीय माने जाते हैं।

प्राचीन काल की मुद्रायें भी अपने समय की संस्कृति का परिचय देती हैं। इस देश में सिन्धु-सभ्यता के युग से ही मुद्राओं का प्रयोग होता आया है। विदेशों की मुद्रायें भी कई स्थानों पर पाई गई हैं। इन मुद्राओं से सिद्ध होता है कि जिन देशों से वे यहाँ आई हैं, उनसे भारत का व्यापारिक सम्बन्ध प्राचीन काल में था। देशी मुद्राओं से तत्कालीन इतिहास, धर्म सामाजिक दशा तथा कलात्मक प्रगति का परिचय प्राप्त होता है।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की अनेक प्रवृत्तियाँ आज तक प्रायः अपने सनातन रूप में हमारे दैनिक और सांस्कारिक जीवन में सुरक्षित मिलती हैं। प्राचीन संस्कृति के ज्ञान के लिए आधुनिक जीवन का भारतीयांश बहुविध उपयोगी है।

विदेशी यात्रियों ने प्राचीन काल में असह्य कष्टों को झेलकर भारत की तत्कालीन परिस्थितियों का परिचय प्राप्त किया और अपने देशवासियों के उपयोग के लिए उनका वर्णन लिखा। उस समय भारतीय संस्कृति की गौरव-गाथा एशिया और योरप में सर्वत्र फैली हुई थी। भारत ज्ञान और धर्म का गुरु माना जाता था। बौद्ध धर्म के अनेक धार्मिक अनुयायी उस धर्म के पुण्य तीर्थों को देखने के लिए तथा धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने के लिए और अनुवाद करके अपने साथ ले जाने के लिए भारत आए थे। विदेशी यात्रियों के अतिरिक्त अनेक व्यापारी तथा सैनिक भी कार्यवश भारत आए और उन्होंने इस देश के वर्णन से अपने देश के साहित्य को समृद्धिशाली

बनाया। इस प्रकार के प्रसिद्ध विदेशी लेखक ग्रीस के हेरोडोटस, मेगस्थनीज[1] प्लीनी; चीन के फाह्यान, ह्वेनसांग; अरब के सुलेमान, अबूजैदुल हसन इब्न खुर्दवा, अलमसूदी, अल इदरीसी तथा फारस के अलबेरूनी आदि हैं।

युगान्तरकारी विकास की दृष्टि से प्राचीन संस्कृति का समय सभ्यता के आदिकाल से लगभग बारहवीं शती ईसवी तक माना गया है। इसके पश्चात् मध्य-युगीन संस्कृति प्रधानतः इस्लाम धर्म को मानने वाली जातियों की संस्कृति से आदान प्रदान करती हुई विकसित होती है और ऐसी परिस्थिति में अपनी प्राचीन परम्परा से कई क्षेत्रों में स्खलित होती हुई प्रतीत होती है। मध्ययुग में इस देश के सामाजिक राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक प्रवाह की जो धारा बही, वह कई अंशों में उपर्युक्त विदेशी संस्कृति की धारा से मिली-जुली है। आधुनिक संस्कृति का आरम्भ अठारहवीं शती ईसवी के अन्त से माना जा सकता है। इसी युग में भारतीय संस्कृति योरप की पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आकर अपनी रूप-रेखा बदलती हुई सी प्रतीत होती है।

सांस्कृतिक धारा का उपर्युक्त युग-विभाजन केवल उतनी ही मात्रा में ठीक माना जाना चाहिए, जितनी गंगा नदी की धारा के विषय में यह कहना कि वह तीन है।—पर्वत-प्रदेश की गंगा, समतल-प्रदेश की गंगा और संगम प्रदेश की गंगा। वस्तुतः गंगा की धारा तो एक ही है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति की भी एक ही धारा है। समयानुकूल परिवर्तन और विकास का सरलता से परिचय देने के लिए उसको तीन युगों में विभाजित किया गया है।

भारत में आज भी प्राचीन काल के जीवन के आदर्श, धर्म, आचार-व्यवहार तथा कला की परम्परा अपने प्राचीन रूप में देखी जा सकती है। प्राचीन संस्कृति प्रधानतः अपने मौलिक रूप में और साथ ही इस्लामी और अँगरेजी संस्कृतियों को अपनाती हुई आज भी जीवित है। इस देश में लोगों का प्राचीनता से अतिशय प्रेम रहा है और यही कारण है कि संस्कृति की कोई भी धारा कदाचित् ही लुप्त हो सकी है।

---

१. मेगस्थनीज की रचना अब प्राप्य नहीं है, पर उसके उदाहरण स्ट्राबो, प्लीनी, एरियन, डायडोरस, फोटियस आदि की रचनाओं में सुरक्षित होकर प्राप्य हैं।

द्वितीय अध्याय

संस्कार

मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में संस्कारों का सर्वप्रथम स्थान है। लोगों का सदा से विश्वास रहा है कि मनोविचारों का प्रभाव मनुष्य की कार्य करने की प्रवृत्ति और शक्ति पर पड़ता है। इस प्रकार संस्कार भविष्य के लिए प्रगति का संदेश देते हैं और उत्साह बढ़ाते हैं। मानव-जीवन की प्रगति के पथ में संस्कार सोपान के समान हैं, जो क्रम से उसको अधिक ऊँचा उठाते जाते हैं। पराशर ने संस्कारों की उपयोगिता का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

चित्रकर्म यथानेकै रङ्गैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥

(जिस प्रकार चित्रण अनेक रंगों के द्वारा प्रस्फुटित होता है, वैसे ही विधि-पूर्वक सम्पन्न किए हुए संस्कारों के द्वारा ब्राह्मणत्व का विकास होता है।) संस्कार कराने वाले महामहिम की महिमा संस्कृत-व्यक्ति में प्रतिपन्न होती है।

गर्भाधान

सबसे पहला संस्कार गर्भाधान है। इसके द्वारा माता-पिता अच्छी सन्तति पाने की कामना करते थे। इस संस्कार के आरम्भ में वैदिक मन्त्रों के द्वारा हवन करके देवताओं का आह्वान किया जाता था और उनसे प्रार्थना की जाती थी कि वे माता के गर्भ में योग्य सन्तान धारण करा दें। महाभारत के अनुसार तप, ब्रह्म-चर्य, सत्य, तितिक्षा, उपवास और यज्ञ से अच्छा पुत्र मिलता है।[1]

इस संस्कार में माता-पिता के मनोविचारों की शुद्धि होती थी और प्रधान रूप से इसमें इन्हीं दोनों का संस्कार होता था, पर इनके संस्कार के द्वारा माता के गर्भ में आने वाले शिशु का संस्कार समझा जाता था।[2]

---

१. तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येनच तितिक्षया।
उपवासै स्तथेज्याभिर्व्रत कौतुकमंगलैः ॥ शान्ति७·१३

२. गाँधी जी के मतानुसार—शिशु की शिक्षा माँ के पेट से आरम्भ होती है। आत्मकथा, पृष्ठ २५५।

पुंसवन

गर्भ के शिशु को पुत्र-रूप देने के लिए गर्भाधान के दो-तीन मास बीतने पर पुंसवन-संस्कारहोता था। उस समय शिशु के शरीर की रचना आरम्भ हो जाती है इस संस्कार में अथर्ववेद के पुत्रेष्टि मन्त्रों के द्वारा हवन करके अग्निदेव की प्रदक्षिणा की जाती थी। पिता गाय के दही में दो माष और एक जौ का कण रख कर माता को तीन ग्रास खिलाता था और उससे पूछता था--तुम क्या पी रही हो? वह उत्तर देती थी--पुंसवन। इस संस्कार के अवसर पर माता के शरीर को फूलों की मालाओं से अलंकृत करके उसके शरीर पर नाना प्रकार के फलों की वर्षा करता था और उसकी सभी इच्छाएँ पूरी करके प्रसन्न करता था।

सीमन्तोन्नयन

पुंसवन के दो या चार मास पश्चात् सीमन्तोन्नयन-संस्कार के अवसर पर एक बार और माता-पिता पुत्र पाने की अपनी कामना प्रकट करते थे। उस समय माता भात पर डाले हुए घी को देखती थी। पिता उससे पूछता था--तुम क्या देख रही हो? वह उत्तर देती थी--मैं पुत्र, पशु और पति का दीर्घ जीवन देख रही हूँ। इसके पश्चात् पिता साही के काँटे, कच्चे फलों के गुच्छे और कुश से तीन बार माता का केश सुधारता था और उसका गुच्छा बना कर सँवार देता था। अन्त में पिता कहता था--भूः भुवः स्वरो३म्। इस संस्कार के समय सामूहिक रूप से आनन्द मनाया जाता था वीणा की संगीत लहरी तथा मधुर गायन से चारों ओर हर्ष का वातावरण उत्पन्न हो जाता था। माता मनोरम वस्त्रों और अलंकारों से सजधज कर स्वयं गाती थी। वीणा-गायक सोम से मानव-जाती के कल्याण के लिए प्रार्थना करता था। सभी वयोवृद्ध लोग उस माता को वीर-प्रसविनी होने का आशीर्वाद देते थे।

जातकर्म

जातकर्म-संस्कार पुत्र का जन्म हो जाने के पश्चात् किया जाता था। इसके द्वारा पुत्र के तेजस्वी, बलशाली और पशुमान् होने की सम्भावना थी। पिता शिशु को गोद में लेकर कामना प्रकट करता था कि मैं सहस्र पुरुषों का भरण-पोषण कर सकूँ सदा उन्नति करूँ, मेरी सन्तान कभी नष्ट न हो तथा मेरे पशु बढ़ते रहें। इसके पश्चात् पिता शिशु के दाहिने कान में तीन बार कहता था--वाक्। वह शिशु को सोने की सलाई से दही मधु और घी का घोल चटाता था और कहता था--मैं तुममें भूः (पृथिवी), भुवः (वायु-लोक), स्वः (स्वर्ग-लोक) सब कुछ स्थापित करता हूँ। इस विधान के द्वारा पिता शिशु को अखिल विश्व की विभूतियों का उपभोग करने तथा स्वार्थ-भावना से ऊपर उठने का संस्कार आयोजित करता था। 'तुम वेद हो' यह कर पिता उसका गुप्त

नाम रखता था। वह शिशु को माता के हाथों में दूध पिलाने के लिए देकर सरस्वती की स्तुति करता था और फिर माता का अभिनन्दन करते हुए कहता था--तुम इला हो, तुमने वीर पुत्र को जन्म दिया है, तुम वीरवती हो। इस अवसर पर दर्शक लोग शिशु को आशीर्वाद देते थे--'तुम पिता से बढ़ कर हो, पितामह से बढ़ कर हो।' पिता शिशु को सौ वर्ष जीने का आशीर्वाद देता था और मेधाजनन का नीचे लिखा मन्त्र शिशु के कान में सुनाता था :--

मेधां त्वे देवः सविता मेधां देवी सरस्वती।
मेधां त्वे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥

(तुमको सविता, सरस्वती और कमल की माला धारण करने वाले अश्विद्वय, मेधा (बुद्धि) दें।)

इसके पश्चात् पिता मन्त्र पढ़ता था--'पत्थर के समान दृढ बनो, ठोस स्वर्ण बनो, तुम पुत्र नामक वेद हो, सौ वर्ष जीओ। इन्द्र! इसे धन दो।'

नामकरण

नामकरण-संस्कार शिशु-जन्म से दसवें या बारहवें दिन सामूहिक उत्सव के रूप में सम्पन्न किया जाता था। देवताओं की तृप्ति के लिए होम-विधि के समाप्त हो जाने पर शिशु का नाम रखा जाता था। प्राचीन काल के नामों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि साधारणतः नाम चुनने में किसी नियम और विधि का ध्यान नहीं रखा जाता था। फिर भी अभीष्ट देवताओं, महापुरुषों अथवा ऋषियों के नाम पर अपने पुत्र का नाम रख कर समाज के सामने उच्च आदर्श रखने की प्रथा सदा रही है। पुत्र के नामों से माता-पिता के नाम का सम्बन्ध भी देखा जाता है। आश्वलायन ने नियम बनाया है कि पुत्र के नाम का प्रथम व्यंजन मृदु होना चाहिए, अन्त में विसर्ग होना चाहिए। यदि पिता पुत्र के लिए प्रतिष्ठित पद चाहता हो तो उसके नाम में दो अक्षर रखे और यदि ब्रह्मवर्चस् चाहता हो तो चार अक्षर का नाम रखे। कन्या के नाम में विषम अक्षर होने चाहिए। सबके नामों का उच्चारण सरलता से होना चाहिए और उनके अर्थ अच्छे होने चाहिए।[1] नाम के पहले श्री का प्रयोग आदरार्थ होता था।[2]

---

१. वैष्णव और शैव आदि सम्प्रदायों के अनुयायी अपने आराध्य देवता के नाम पर सन्तान का नाम पौराणिक युग से रखते आए हैं, जिससे उनका नाम लेने पर पुण्य हो।

२. देवगुरु-गुरुस्थानं क्षेत्रं क्षेत्राधिदेवतम्।
सिद्ध, सिद्धाधिकारांश्च श्रीपूर्वं समुदीरयेत्।

निष्क्रमण

निष्क्रमण-संस्कार के विभिन्न नाम उपनिष्क्रमण, आदित्य-दर्शन और निर्णयन भी मिलते हैं। इसमें प्रकृति की विभूतियों से सहानुभूति के लिए शिशु को घर से बाहर निकालने की क्रिया प्रधान थी। शिशु की अवस्था चार मास हो जाने पर यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था।

निष्क्रमण के समय पिता शिशु को सूर्य का दर्शन कराता था और देवताओं की स्तुति करके प्रार्थना करता था कि शिशु का सौ वर्ष का जीवन सफल हो। सभी वयोवृद्ध लोग उसे सौ वर्ष जीने का आशीर्वाद देते हैं। रात्रि के समय माता शिशु को चन्द्र का दर्शन कराती थी। इस संस्कार में हवन से वातावरण पवित्र बनाया जाता था और सूर्य और चन्द्रमा की स्तुति की जाती थी।

अन्न-प्राशन

जब शिशु की अवस्था पाँच से लेकर आठ मास तक होती थी और उसके दाँत निकल आते थे तो उसको अन्न देना आरंम्भ किया जाता था। पहली बार अन्न देने के उत्सव का नाम अन्न-प्राशन-संस्कार है। इस अवसर पर पिता स्वयं घी, मधु, दही और भात को मिला कर भोजन बनाता था और 'भूः, भुवः, स्वः' का गायन करते हुए शिशु को खिलाता था। सभी लोग शिशु को अन्न का स्वामी और भोक्ता होकर बढ़ने का आशीर्वाद देते हुए गाते थे––त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः। (तुम अन्न के स्वामी हो, तुममें अन्न ग्रहण करने की योग्यता है, तुम बढ़ो।)

चूडाकर्म

शिशु की अवस्था लगभग एक वर्ष हो जाने पर चूडाकर्म का उत्सव मनाया जाता था। इस संस्कार में पहली बार शिशु का केश काटा जाता था और शिर पर चूड (शिखा) छोड़ दिया जाता था। देवताओं की स्तुति करते हुए पिता विधिपूर्वक स्वयं केश काट कर कुल की रीति के अनुसार एक से पाँच चूड छोड़ देता था। इसके पश्चात् नाई केश को सुधार देता था। चूडाकर्म के आरम्भ में हवन-विधि से देवताओं का आवाहन किया जाता था और उनकी उपस्थिति में संस्कार के द्वारा शिशु को पवित्र किया जाता था।

कन्याओं के लिए जातकर्म से लेकर चूडाकर्म तक संस्कार बिना मन्त्र पढ़े हुए सम्पन्न किए जाते थे।

उपनयन

बालक को आचार्य के द्वारा स्वीकार करवा कर उसे वेदाध्ययन करने के लिए विद्यार्थी बना देने की क्रिया उपनयन-संस्कार है। इसके पश्चात् वह बालक

ब्रह्मचारी कहलाता था।[१] संस्कारों में उपनयन का सर्वोच्च स्थान है। इस संस्कार के लिए मनु ने नियम बनाया कि यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालक के व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास की कामना करता हो तो उसका उपनयन क्रमशः ५, ६ और ८ वर्ष की अवस्था में कर दे। साधारण परिस्थितियों में इन तीनों जातियों के उपनयन क्रमशः ८, ११ और १२ वर्ष की अवस्था में हो जाना चाहिए।

उपनयन के समय ब्रह्मचारी उत्तरीय और वास दो वस्त्र धारण करता था। उत्तरीय से शरीर का ऊपरी भाग और वास से नीचे का भाग आच्छादित होता था। उत्तरीय वास प्रायः मृग-चर्म के होते थे। इस वेश में आए हुए बालक को आचार्य उपनयन-विधि से अपनाता था।[२] आचार्य विभिन्न देवताओं की स्तुति करते हुए उसका हाथ पकड़ता था और सविता से प्रार्थना करता था––देव सवितर्! यह आपका ब्रह्मचारी है। इसकी रक्षा करें। इसकी मृत्यु न हो। अग्नि की स्तुति करते हुए ब्रह्मचारी कहता था––मैं तेज से समायुक्त हो रहा हूँ। अग्नि मुझे मेधा, प्रजा और तेज दे। हे अग्नि, मैं तुम्हारे तेज से तेजस्वी, तुम्हारी शक्ति से शक्तिमान् और तुम्हारे प्रदाहन से तपस्वी बनूँ। इसके पश्चात् वह आचार्य का चरण पकड़ कर प्रार्थना करता था––महोदय! आप सावित्री का उच्चारण करें। महोदय! आप बोलें। आचार्य सावित्री-पाठ पहली बार पदशः, दूसरी बार आधा और तीसरी बार सम्पूण करते थे। ब्रह्मचारी इस मन्त्र का पाठ करते हुए गाता था––ओ३म् भूर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयात्' [ओ३म् भूः (पृथिवी), भुवः (वायुमण्डल), स्वः (स्वर्गलोक)। हम लोग सविता (सूर्य या ब्रह्म) देव के तेज का ध्यान करते हैं। वह हमारी धी (बुद्धि) को विकसित करे।] आचार्य ब्रह्मचारी के हृदयदेश पर अँगुलियों को ऊपर की ओर करके हाथ रखते थे और कहते थे, 'मैं तुम्हारा हृदय अपने व्रत के परिपालन में लगाता हूँ। तुम्हारा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल बने। एकव्रत होकर मेरी बातों को सुनो। बृहस्पति तुमको मेरे लिए नियुक्त करे।' अन्त में आचार्य बह्मचारी की कटि में मेखला बाँधकर और दंड देकर ब्रह्मचर्य-व्रत का आदेश देता था 'तुम ब्रह्मचारी हो। जल पीओ। काम करो। सोओ मत। आचार्य के अधीन होकर वेद का अध्ययन करो।'

---

१. प्राचीनतम युग में ब्रह्म उन लोगों का नाम था; जिन्होंने एक ब्रह्म की सत्ता से सारे समाज का विकास माना। उन्होंने अपने दर्शन का सामंजस्य, जिस तपोमय जीवन के साथ समीचीन माना उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। चर्य है जीवन-पद्धति।

२. यज्ञोपवीत सदैव धारण करने के सम्बन्ध में सनातन मत इस प्रकार है––

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्॥

नया यज्ञोपवीत पहनने के पहले उसे पृथ्वी को अर्पित करते हुए संकल्प किया जाता है कि मैं पृथ्वी को परिधान दे रहा हूँ। उपनयन धारण कर लेने पर ब्रह्मचारी द्विज होता था।[1] आधुनिक नव धागे के यज्ञोपवीत का मूल अथर्ववेद के मन्त्रों में मिलता है।[2] धागों में क्रमशः भूमि, जल, अग्नि, चन्द्र, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्युलोक, दिशायें और उपदिशायें हैं। इनसे स्वस्थ दीर्घ जीवन की कामना की गई है।

केशान्त

केशान्त या गोदान-संस्कार सोलहवें वर्ष में किया जाता था। इस संस्कार की विधि प्रायः चौड-संस्कार की भाँति है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें केश के अतिरिक्त दाढ़ी और काँख के बाल बना दिए जाते थे और नख काट दिया जाता था।

समावर्त्तन

ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए आचार्य के आश्रम में यथेष्ट विद्या प्राप्त कर लेने पर ब्रह्मचारी आचार्य की आज्ञा लेकर अपने माता-पिता के समीप लौट आता था। आने के पहले आचार्य के आश्रम से ब्रह्मचारी की जो प्रस्थान-विधि होती थी, उसे समावर्त्तन-संस्कार कहते थे। इसमें ब्रह्मचारी का विधिपूर्वक स्नान महत्त्वपूर्ण है। स्नान की प्रधानता के कारण इस संस्कार को 'स्नान' भी कहते हैं।

समावर्त्तन के दिन ब्रह्मचारी उत्तर-पूर्व दिशा से किसी यज्ञीय वृक्ष की समिधा लाता था। इसके पश्चात् केशान्त-संस्कार की विधियाँ सम्पन्न होती थीं और शीतोष्ण जल से स्नान करके वह नागरिक वेश-भूषा धारण करता था। हवन करते समय अग्नि में समिधा डाल कर वह स्मृति, विद्या, श्रद्धा, प्रज्ञा, यज्ञ, दान अध्ययन पुण्य-कर्म, सत्य, ज्ञान और व्रतों को अपनाता था। वह सर्वव्रत होने की कामना करता था, जिसके द्वारा चराचर विश्व के सभी प्राणियों और देवताओं के प्रति वह अपने कर्तव्य का पालन कर सके।

समावर्त्तन के अवसर पर आचार्य शिष्य को भावी कर्त्तव्य-पथ-का निर्देश करते हुए कहता था, 'सच बोलो, धर्म का आचारण करो, स्वाध्याय न छोड़ो, आचार्य के लिए

---

१. इसका विश्लेषण इस प्रकार है--

आचार्यस्तु पिता प्रोक्तः सावित्री जननी तथा।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां मौञ्जीबन्धनजन्मनि॥

२. नव प्राणान् नवभिः संमिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
हरिते त्रीणि रजते त्रीणि त्रीणि तपसा विष्टितानि॥ इत्यादि
अथर्व ५-२८-१॥

प्रिय धन दो। तुम्हारी सन्तति का कहीं विच्छेद न हो जाय। सत्य और धर्म से मत डिगना। स्वास्थ्य का ध्यान रखना। सांसारिक अभ्युदय के प्रति उदास न होना। पढने-पढ़ाने से प्रमाद न करना। देवताओं और पितरों के प्रति कर्तव्य का पालन करना। माता-पिता, अतिथि और आचार्य के प्रति देव-भाव रखना। सत्कर्मों को अपनाना, बुरे कामों को नहीं। सुचरित को अपनाना, बुरे कामों को नहीं। हमसे भी अच्छे ब्राह्मण हैं। उनको आसन देकर सम्मान करना। जो कुछ देना, वह श्रद्धापूर्वक, आनन्दपूर्वक, विनय से, भय से तथा प्रेमपूर्वक देना। कर्तव्य के विषय में सन्देह होने पर सद्ब्राह्मणों के आदर्श पर चलना। समावर्त्तन के पश्चात् विवाह होने के समय तक ब्रह्मचारी स्नातक कहा जाता था। इस बीच वह लोक-कल्याण करते हुए विचरण करता था।

कुछ विद्यार्थी गृहस्थ बनना नहीं चाहते थे। वे जीवन भर ब्रह्मचारी रहते थे। उनको नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता था। यथा--

वेदस्वीकरणे हृष्टो गुर्वधीनो गुरोर्हितः।
निष्ठां तत्रैव यो गच्छेत् नैष्ठिकः स उदाहृतः॥

विवाह

विवाह का मूल अर्थ है 'वध्वा आनयनम्' अर्थात् वधू को लाना। इसके साथ सभी उत्सव विवाह के अन्तर्गत परिगणित होते हैं।

आचार्य के आश्रम से लौटने पर स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने का अधिकारी समझा जाता था। वर के चुनाव के सम्बन्ध में कन्या का पिता पूरी छानबीन कर लेता था।[१] वैदिक काल में प्रायः कन्याएँ विदुषी होती थीं और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थीं। उनके विवाह ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन करने वाले स्नातकों से ही करने की विधि थी। कन्याएँ अपने पति का चुनाव कुछ परिस्थितियों में कर सकती थीं। प्रायः वेही वर चुने जाते थे, जो अपने व्यक्तित्व का पूरा विकास कर लेते थे, और जो बुद्धिमान्, यशस्वी, विद्वान्,गुणवान्, स्वस्थ, युवा, सुन्दर, कुलीन और सच्चरित्र होते थे। मनु ने नियम बनाया कि संस्कार-विहीन पुरुष-रहित, शरीर पर बढ़े हुए रोम वाले और रोगी परिवारों में विवाह नहीं करना चाहिए। महाभारत में समान धन और विद्वत्ता वाले कुलों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध को समुचित माना गया है।

वर के समान कन्या के गुणों की छान-बीन होती थी। अच्छे वर के जो गुण कहे गए हैं, प्रायः उन्हीं का कन्या में होना आवश्यक माना जाता था।

---

१. वर नाम की सार्थकता इस बात में है कि वह वधू का वरण करता है। वरो वधूं वरयते।

विवाह के लिए सुन्दर रूप वाली, मंजुभाषिणी और सच्चरित्र कन्याएँ उत्तम समझी जाती थीं।

प्रारम्भ में विवाह के समय वर और कन्या की आयु के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बने थे, पर इतना निःसन्देह है कि अल्पायु में विवाह नहीं होते थे। स्नातक लगभग २५ वर्ष के हो ही जाते थे। कन्याओं की अवस्था वर की अवस्था से अवश्य कम रहती थी। प्रायः युवावस्था में उनके विवाह होते थे। धर्मशास्त्रकारों ने विवाह के लिए कन्याओं की अवस्था क्रमशः कम निर्धारित की है। वैदिक काल में १५ वर्ष, मनु के अनुसार लगभग १२ वर्ष और आगे चलकर लगभग आठ वर्ष की कन्या विवाह के योग्य मान ली गई।

विवाह-संस्कार बहुत प्राचीन काल से संसार के प्रायःसभी देशों में बहुत धूमधाम से सम्पन्न किया जाता रहा है। भारत में इस धूमधाम के साथ संस्कार की विधियाँ जुटी रहती हैं। इसकी विधियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वर के द्वारा कन्या का पाणि (हाथ) ग्रहण करना है। पाणिग्रहण की महत्ता के कारण इस संस्कार का नाम पाणिग्रहण-संस्कार पड़ गया। वर कन्या का पाणिग्रहण करते समय गृहस्थाश्रम के भावी जीवन में सदा उस कन्या के साथ प्रेम और आनन्दपूर्वक रहने का व्रत लेता था। वह समझता था कि मुझे देवताओं ने यह कन्या दी है और उस कन्या को दिव्य विभूति मानकर वह जीवन भर उसकी प्रतिष्ठा करता था। इस संस्कार के अन्त में सप्तपदी होती थी। वर के पीछे पीछे कन्या सात पद चलती थी और उनका सम्बन्ध अमर हो जाता था। प्रत्येक पद का अभिप्राय अलग-अलग होता था। सातों पद दम्पति के जीवन में क्रमशः अन्न, बल, धन, सुख, सन्तति, ऋतु और मैत्री की प्रतिष्ठा करने वाले माने जाते थे। पति कामना करता था कि उसकी पत्नी के अनेक दीर्घायु पुत्र हों।

विवाह के आठ भेद

विवाह के भेद के प्रकरण में विवाह शब्द का अर्थ है पाणिग्रहण-संस्कार के लिए वधू-प्राप्ति की योजना। इसके द्वारा पति का निश्चय मात्र होता था। विभिन्न सांस्कृतिक स्तर के लोग उस प्राचीन युग में अपनी संस्कृति के अनुरूप युक्तियों से कन्याएँ प्राप्त करके उनसे पाणिग्रहण करते थे। कालान्तर में अशिष्ट वैवाहिक विधियों का लोप होता गया और केवल उच्च सांस्कृतिक स्तर की कुछ विधियाँ सनातन धर्म में प्रचलित रहीं।

सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वोच्च वर्ग था उन ब्रह्मपरायण लोगों का, जो वेदज्ञ होते थे।[1] ऐसे लोगों को वधू की प्राप्ति उनकी वेद-ज्ञान की श्रेष्ठता पर अवलम्बित होती थी। मनु के अनुसार कन्या को वस्त्र पहनाकर, पूजा करके वेदज्ञ और शीलवान् स्नातक को अपने घर बुलाकर दे देना ब्राह्मविवाह है। क्षत्रियों में ब्राह्मविवाह के समकक्ष उन स्वयंवरों की योजना थी, जिनमें क्षत्रिय-कुमार को अपने सर्वोच्च पराक्रम का प्रदर्शन करके कन्या प्राप्त होती थी।

ब्राह्मणों का एक दूसरा सांस्कृतिक वर्ग था, जो देवपरायण था और यज्ञ-विद्या में निष्णात था। यज्ञ-सम्पादन करने वाले स्नातकों के कौशल पर मुग्ध होकर यदि कोई यजमान अपनी कन्या दक्षिणा-रूप में दे देता था तो उस विवाह को दैव कहते थे।

प्राचीन युग के ऋषि-वर्ग में गोधन की अतिशय प्रतिष्ठा थी।[2] कन्या के पिता को इस परमधन गो को देकर मानो ऋषि उसको सम्मानित करते थे। इस प्रकार जो विवाह नियत होते थे, उन्हें ऋषियों की संस्कृति के नाम पर आर्ष कहा जाता था। गौ को देना कन्या के क्रय के लिए नहीं कहा जा सकता। यह रैतिक था, शौल्किक नहीं। उस युग में गौ का मूल्य एक रुपये से भी कम था।

प्राजापत्य या मानव-विवाह की रीति प्रजापति मनु के नाम से प्रचलित रही है। मनुवंशीय मानवों की एक संस्कृति-विशेष थी। मानव गृहमेधी रहे हैं।[3] वे प्रजापति-व्रत का आचरण करते थे। प्रजापति-व्रत है सन्तानोत्पत्ति। इस विवाह के लिए वर को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि प्रजापति-व्रत का जीवनभर पालन करूँगा अर्थात् वानप्रस्थ और संन्यास न लूँगा। यह देश की जनसंख्या बढाने के लिये था।

आसुर विवाह असुर-संस्कृति का द्योतक है। असुर अतिशय समृद्ध होते थे। वे अपनी समृद्धि का मानो परिचय देने के लिए ही कन्या के लिए धन देना आवश्यक

---

१. मूलतः ये वे ही दार्शनिक संस्कृति के लोग थे, जो ब्रह्म से अखिल विश्व की उत्पत्ति मानते थे और जिनके लिए वेद शब्द-ब्रह्म है।

२. भागवत ८.८२ के अनुसार समुद्र के मन्थन के समय ब्रह्मवादी ऋषियों ने अग्निहोत्र के लिए उपयोगी कामधेनु को हवि के लिए ग्रहण किया था। अफ्रीका के अनेक देशों में आज भी कन्या पक्ष के लिए वर पक्ष पशु देकर विवाह निष्पन्न कराता है।

३. शतपथ ब्राह्मण १३.४.३.३.१४ के अनुसार।

मानते थे ।[1] गन्धर्व-संस्कृति के लोगों में संगीत, नृत्य आदि का विशेष प्रचलन था। उनके विवाह का निश्चय इन्हीं गुणों के बल पर कन्या को आकृष्ट कर लेने पर होता था । इस विवाह में माता-पिता की अनुमति अपेक्षित नहीं थी ।

तीक्ष्णकामास्तुगन्धर्वाः

राक्षसों की जाति बलशालिनी और युद्ध-प्रिय थी । वे युद्ध करके बाहुबल से कन्या प्राप्त करने में गौरव मानते थे । इस प्रकार का राक्षस-विवाह या वीर्य-विवाह पहले राक्षसों में प्रचलित था । फिर तो क्षत्रियों में इसकी लोकप्रियता प्रतिष्ठित हुई । अन्तिम विवाह पैशाच है। पिशाच जाति स्वभावतः क्रूर और पिशुनवृत्ति की थी । वे चोरी करने और छलने में प्रवीण थे और अपने विवाह में इसी कर्म के द्वारा कन्या प्राप्त करने में सिद्धहस्त थे । राक्षस बल से और पिशाच छल से विवाह करने में कौशल मानते थे ।

उपर्युक्त विवाहों की मान्यता से भारत में सांस्कृतिक समन्वय की विचारधारा प्रत्यक्ष होती है । चाहे किसी सांस्कृतिक वर्ग के लोग अपनी सनातनपद्धति से क्यों न विवाह के लिए कन्या प्राप्त करें, आर्य-धर्मशास्त्र उस विवाह को मान्यता देने के लिए प्रस्तुत था । इस प्रकार सामाजिक जीवन में विवाहों की मान्यता होने पर उच्छृंखलता और धोखा-धड़ी का अन्त हो सका होगा । भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए अष्टविवाह-मान्यता का अप्रतिम महत्त्व रहा है ।

उपर्युक्त विवाहों में प्रथम तीन तो केवल ब्राह्मणों के लिए थे । क्षत्रियों के कुछ विवाह स्वयंवर की रीति से सम्पन्न होते थे, पर उनमें प्राजापत्य, गान्धर्व और राक्षस-विवाह की रीति भी सुप्रचलित थी । आसुर विवाह और पैशाच-विवाह परिगणित वर्ग में प्रचलित थे । स्वयंवर वयस्क कन्याओं के लिए ही सीमित था । इसमें अपने पराक्रम से श्रेष्ठ विजयी को कन्या चुन लेती थी । सीता और द्रौपदी के विवाह इस कोटि में आते हैं । विवाह के पश्चात् कन्या का पिता उसे भूरिशः धन देता था । ऐसा सभी प्रकार के विवाहों में होता था ।

---

१. पंजाब में १९ वीं शताब्दी तक शूद्रों और वैश्यों की विविध जातियों में ५० रुपये से १५०० रुपये तक वधू-मूल्य देकर ही विवाह निश्चित होता रहा है ।

तृतीय अध्याय

आश्रम-व्यवस्था

मानव-जीवन की दीर्घता को दृष्टि में रखते हुए इसे सौ वर्ष का माना गया है। सौ वर्ष के जीवन के चार भाग मानवीय क्षमता के विकास और ह्रास की प्रवृत्तियों की दृष्टि से किये गये हैं। वास्तव में सम्पूर्ण जीवन सतत प्रयत्न करते हुए व्यक्तित्व के विकास के लिए है, किन्तु व्यक्तित्व के विकास की दिशा अवस्था-भेद के अनुसार बदलती रहती है। विशेष प्रकार की योग्यताओं को विकसित करने के लिए तदनुकूल वातावरण की आवश्यकता पड़ती है।[1] आश्रम-व्यवस्था के अनुसार जीवनभर पूर्ण श्रम करते हुए मानव अधिकाधिक सफलता प्राप्त कर सकता है।[2] इस सफलता की दिशा आध्यात्मिक, सेवात्मक, कलात्मक और आधिभौतिक होती थी। जीवन का प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए था। वास्तव में प्राप्त ज्ञान की मात्रा पर किसी व्यक्ति के जीवन की सफलता की मात्रा अवलम्बित होती है। ब्रह्मचर्य-आश्रम में प्राप्त ज्ञान आगे के तीन आश्रमों में उपयोगी होता है। इसी के बल पर गृहस्थ-आश्रम में वह अधिक से अधिक अर्थ-संग्रह करके लोक-कल्याण करने में समर्थ होता था। गृहस्थाश्रम की प्रवृत्तियाँ सेवात्मक और कलात्मक होती हैं। सेवात्मक प्रवृत्तियाँ लोककल्याण के लिए और कलात्मक प्रवृत्तियाँ काव्य और शिल्पादि से रस की प्राप्ति के लिए हैं। इन दोनों की पृष्ठभूमि में आधिभौतिकता की प्रधानता होती है, अर्थात् जो कुछ सेवा गृहस्थ करता है, वह दूसरों की आधिभौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रायः होता है। कलात्मक जीवन का सम्बन्ध साधारणतः आधिभौतिकता की परिधि के भीतर सीमित होता है।

परवर्ती युग में ब्राह्मण के लिए चार, क्षत्रिय के लिए तीन, वैश्य के लिए दो आश्रम निर्णीत हुए।[3]

---

१. गेटे ने इसी को दृष्टि में रखकर कहा है—

Talent is developed in retirement, character is formed in the rush of the world.

२. आश्रम का अर्थ है आ+श्रम अर्थात पूर्ण श्रम। श्रमेण तपसारिणन्, तस्मा दृषयः। श० प्र० ब्रा० ६·१·१·१

३. क्षत्रिय संन्यास का तथा वैश्य ब्रह्मचर्य और संन्यास का अधिकारी न रहा। वामन १४·४–१८

ब्रह्मचर्याश्रम

वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम में मानव की प्रवृत्तियाँ आध्यात्मिक होती हैं। इनके लिए वह तप और योग का सहारा लेता है। वह लोक की जो कुछ सेवा करता है, वह साधारणतः आध्यात्मिक कोटि की होती है। वास्तव में ये आश्रम क्रमशः ज्ञानात्मक, सर्जनात्मक, तपस्यात्मक और योगात्मक हैं। इनमें से ब्रह्मचर्याश्रम सर्व-प्रथम है।

शिक्षा का आदर्श

ज्ञान अपनी आधिभौतिकता के बल पर विश्व में सदैव प्रतिष्ठित रहा है और रहेगा। प्राचीन भारत में इसके अतिरिक्त ज्ञान की प्रतिष्ठा के कुछ अन्य कारण भी थे। वैदिक धारणा के अनुसार ज्ञान के द्वारा मानव का व्यक्तित्व दिव्य हो जाता है। ऐसे विद्वान् को समाज में सर्वोच्च आदर प्राप्त होता था।

शतपथ-ब्राह्मण में ज्ञान की प्रतिष्ठा को प्रमाणित करते हुए कहा गया है—स्वाध्याय और प्रवचन करने से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है। वह स्वतन्त्र बन जाता है। नित्य उसे धन प्राप्त होता है। वह सुख से सोता है।

उपनिषद्-काल में ब्रह्मज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व था। इस युग में ब्रह्मचर्य को न अपनाने वाला व्यक्ति ब्रह्मबन्धु कहा जाता था और अविद्वान् के नरक के अन्धेरे में जा गिरने की सम्भावना मानी जाती थी।

मनु के अनुसार ब्राह्मण-समाज की प्रतिष्ठा का आधार ज्ञान है। यदि ब्राह्मण अध्ययन न करके कोई अन्य कार्य करता है तो वह जीवन-काल में ही वंश-सहित शूद्र हो जाता है। अशिक्षित ब्राह्मण तृण की अग्नि की भाँति निस्तेज हो जाता है।

समाज की प्रतिष्ठा के लिए जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है, उनको ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान सभी प्राणियों का भरण-पोषण करता है। विद्वान् स्नातक को मनु ने समाज का सर्वोच्च अभिनन्दनीय व्यक्ति माना। तत्कालीन धारणा के अनुसार श्रुति और स्मृति ब्राह्मण की आँखें हैं। एक के बिना वह काना और दोनों के बिना अन्धा है।

विष्णु-पुराण के अनुसार वेद मानवता के परिधान हैं। जो व्यक्ति मोहवश इनका परित्याग करता है, वह नंगा और पापी है। राजाओं के द्वारा स्नातकों और विद्वानों को बहुविध सुविधाएँ प्राप्त होती थीं।

बौद्ध संस्कृति में उच्चकोटि के विद्वानों को संघ में शारीरिक सुख और सुविधा देने के अतिरिक्त सार्वजनिक विधि से उन्हें सम्मानित करने का आयोजन किया

गया था। विद्वानों के विवाद के अवसर पर विजयी पण्डितों को हाथी पर चढ़ाकर सम्मानित किया जाता था।

प्राचीन काल में विद्याध्ययन केवल गौण रूप से ही धन-कमाने के लिए था। विद्या के द्वारा मानव प्रधान रूप से अपनी वैयक्तिक चेतनाओं को जागरित करके तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करके आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए प्रवृत्त होता था। दिग्विजयी राजा भी उसकी चरण-रज लेकर अपने को धन्य मानता था।

विद्या के अधिकारी

प्राचीन काल में योग्य विद्यार्थियों की प्राप्ति के लिए गुरु सदैव प्रयत्नशील रहते थे। प्रतिभाशाली शिष्य-परम्परा के द्वारा आचार्य परिश्रम से अर्जित की गई अपनी ज्ञाननिधि को अक्षुण्ण बनाये रखने की इच्छा करता था।

वैदिक काल में आचार्य विद्या-प्राप्ति में समर्थ प्रतिभा को देखकर विद्यार्थियों को स्वीकार करता था। प्रतिभा-हीन छात्र गुरु-गृह को छोड़कर कृषि अथवा वस्त्र-निर्माण के कार्य में लगाये जाते थे। विद्यार्थी की मनोवृत्ति की परीक्षा कर लेने के पश्चात् उसके लिए उचित व्यवसाय का नियोजन किया जाता था। विद्यादान का यह सिद्धान्त सनातन रूप से प्रतिष्ठित था। मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु तथा हारीत ने इसी सिद्धान्त का विधान किया है।

उपनिषदों में विद्यार्थियों को स्वीकार करने के पूर्व उनकी परीक्षाओं की कथाएँ मिलती हैं। सर्वप्रथम गुरुओं के साथ बातचीत के पूर्व तप की वार्ता दिखाई देती है। पिप्पलाद ने कौसल्य की ब्रह्मनिष्ठता को देखकर ही उसे विद्या-दान के लिए स्वीकार किया था। कठोपनिषद् में नचिकेता की परीक्षा का वर्णन है।

शूद्रों का विद्याधिकार

वैदिक युग में शूद्र भी विद्याध्ययन के लिए स्वीकार किये जाते थे। अनेक आर्येतर विद्वान् वैदिक मन्त्रों के रचयिता हुए। परवर्ती युग में वेदाध्ययन ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों के लिए नियत कर दिया गया। फिर भी अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ शूद्रों तथा आर्येतरों के अध्ययन के लिए थे। आश्वलायन गृह्यसूत्र में शूद्रों की समावर्त्तन-विधि का उल्लेख किया गया है। बौद्ध संस्कृति में संघ में प्रविष्ट होने पर शूद्र भी ज्ञानी हो जाते थे। जैन संस्कृति में चाण्डालों का भी विद्याधिकार समाहित है।

स्त्रियों का विद्याधिकार

सामान्यतः सुकुमारी स्त्रियों में अध्ययन के लिए अपेक्षित तपोमय जीवन नहीं पाया जाता है। वैदिक काल में वेद के अध्ययन के लिए थोड़ी ही स्त्रियाँ आई थीं।

किन्तु उस युग में वेदाध्ययन करने के लिए उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। उस परिस्थिति में लोपामुद्रा, विश्ववारा, आत्रेयी, अपाला, काक्षीवती, घोषा आदि ऋषिकाएँ हुईं। उपनिषद्-युग में मैत्रेयी, गार्गी, वाचक्नवी आदि प्रातः स्मरणीय विदुषियाँ हुईं। परवर्ती युग में स्त्रियों को शिल्प, कला, कामशास्त्र और गृहोपयोगी शिक्षा देने का विशेष प्रचलन हुआ।[1]

कालान्तर में स्त्रियाँ आचार्या और उपाध्याया हुईं। कतिपय स्त्रियाँ अस्त्र-शस्त्र-विद्याओं में प्रशिक्षित थीं। उन सबकी समावर्त्तन-विधि का वर्णन आश्वलायन-गृह्यसूत्र में मिलता है।

महाभारत के अनुसार स्त्रियाँ ललित कलाओं में प्रशिक्षित की जाती थीं। राजकुमारियों की शिक्षा के उल्लेख सुविदित हैं।

परवर्ती भारतीय साहित्य में स्त्रियों की रचना का अभाव नहीं है। गाथा-सप्तशती में कवयित्रियों के द्वारा रचित पचास गाथाएँ मिलती हैं। राजशेखर ने स्त्री-शिक्षा की प्रवृत्ति का निर्देश किया है।

शंकर तथा मण्डन मिश्र के विवाद में मिश्र की पत्नी निर्णायिका थीं। विक्रमाङ्कदेव चरित के अनुसार कश्मीर की विदुषी स्त्रियाँ संस्कृत और प्राकृत बोलने में निष्णात होती थीं।[2]

भारतीय धारणा के अनुसार सरस्वती और पार्वती विद्या की देवियाँ हैं। इस परिस्थिति में स्त्रियों के अध्ययनाधिकार में बाधा की बात समीचीन नहीं है।

विद्यायल

प्रारम्भ में वैदिक गृहस्थ-ऋषि आचार्य होते थे और उनके घर विद्यालय थे। वैदिक युग में ही पर्वत-प्रदेश और नदी के तट को ज्ञान-संवर्धक माना गया।[3] महाभारत-युग में नैमिष वन में महर्षि शौनक का आश्रम था। कण्व का आश्रम मालिनी-नदी के तट पर फैले हुए वन में था। कुरुक्षेत्र के निकटवर्ती एक आश्रम में स्त्रियों की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। तक्षशिला के विद्यालय में आचार्य धौम्य के शिष्य उपमन्यु, आरुणि और वेद ने शिक्षा पाई थी। रामायण में महर्षि भरद्वाज के आश्रम का उल्लेख है। इस आश्रम में सहस्रों विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। ऐसे ही आश्रमों के संचालक वसिष्ठ, विश्वामित्र और व्यास थे। बौद्ध साहित्य में तक्षशिला, काशी, सारनाथ आदि उच्चकोटि के विद्यालयों का वर्णन

---

१. कुट्टनीमत १२२–१२४

२. वि० च० १८·६

३. उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् धिया विप्रोऽजायत। ऋग्वेद से

मिलता है। गौतम बुद्ध ने विहारों में शिक्षा देने की पद्धति चलाई। इन विहारों में बौद्ध भिक्षु आजीवन रहते थे और अध्ययन-अध्यापन तथा चिन्तन तथा समाधि में अपना समय बिताते थे।

नालन्दा के विश्वविद्यालय में लगभग १०,००० विद्यार्थियों के अध्ययन का प्रबन्ध था। ह्वेनसाँग ने इसी विद्यालय में शिक्षा पाई और अन्त में इसका उपाध्यक्ष बनाया गया। इसका वर्णन करते हुए उसने लिखा है, 'इस विद्यालय का मानमन्दिर प्रातःकाल के कुहरे में अदृश्य हो जाता है। इसके ऊपर के कमरे मानो बादलों में छिपे रहते हैं। पर्वतों के समान ऊँचे विद्यालयों के शिखर पर ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती है। इनकी खिड़कियों से लोग वायु और बादलों के परिवर्तन का अनुमान कर लेते हैं। यहाँ से सूर्य और चन्द्र भी दिखाई पड़ते हैं।' नालन्दा के समान ही बौद्ध विहार वलभी और विक्रमशिला में भी थे। ह्वेनसाँग ने लिखा है कि सारे भारत में उस समय लगभग ५,००० बौद्ध विहार ऊँची शिक्षा के केन्द्र थे।

धीरे-धीरे विहारों का स्थान विद्यापीठों ने ले लिया। विद्यापीठ आध्यात्मिक शिक्षा के केन्द्र थे। धार्मिक आचार्यों ने इनकी स्थापना की थी। शैवों और वैष्णवों ने धार्मिक शिक्षा देने के लिए मठों की स्थापना की। दक्षिण भारत में मन्दिरों में शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। कोडियमठ, हिरण्यमठ, पंचमठ और तिपुरान्तक के विद्यालयों में शिक्षा का द्वार सबके लिए खुला था। शंकराचार्य ने कई मठों में विद्यालय खोलकर सार्वजनिक शिक्षा का प्रबन्ध किया। ऐसे मठ कांची, शृंगेरी, द्वारका, बदरी और जगन्नाथपुरी में खुले थे। राजाओं के द्वारा ब्रह्मपुरी की स्थापना की जाती थी।[1]

अध्ययन के विषय

संस्कृति के आदिकालीन युग में लोग किन विषयों का अध्ययन-अध्यापन करते थे--यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना तो निःसन्देह प्रतीत होता है कि आधिभौतिक जगत् की उपयोगिता को नित्य संवर्धित करने की दिशा में उस युग के लोगों ने भी सतत वैज्ञानिक अनुसन्धानों की शरण ली थी। इस विज्ञान की उपयोगिता शिल्प-कर्म के लिए थी, जिसके द्वारा नित्य की आवश्यकताओं की वस्तुओं और साधनों का उत्पादन किया जाता था।

---

१. १८ वीं शताब्दी में महाराज जयसिंह ने जयपुर और काशी में आचार्यों के अध्ययन-अध्यायन के लिए ब्रह्मपुरियों की स्थापना की थी।

प्रागैतिहासिक प्रवृत्तियाँ

सर्वप्रथम भारतीय शिक्षण की प्रवृत्तियों की शिल्पात्मक दिशा का परिचय सिन्धु-सभ्यता-युगीनध्वंसावशेषों से मिलता है। उस समय की नागरिकता को समुल्लसित रखने के लिए शिल्पकला और विज्ञान का चरम उत्कर्ष अपेक्षित था। लोगों ने आचार्य-परम्परा से वास्तु-विन्यास, मूर्तिकला, चित्रकला और इंजीनियरिंग आदि के ज्ञान को सीखते हुए सनातन स्वरूप दिया था। इनके साथ ही, मानवता की सामाजिक प्रगति को निर्बाध बनाने के लिए आचार की शिक्षा प्रचलित थी। सिन्धु-युगमें सुन्दर लिपि में लिखने का प्रचलन था। इतना स्पष्ट है कि उस तथा प्रदेश की जनता में आज से पाँच सहस्र वर्ष पहले साक्षरता थी तथा योगाभ्यास और तप आदि का शिक्षण प्रचलित था।

वैदिक शिक्षण

वैदिक शिक्षण में शब्द और अर्थ की अभिव्यक्तियों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए वेद-वेदांग आदि विषयों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र, पुराणेतिहास, धर्म, दर्शन आदि के अध्ययन और अध्यापन की सुव्यवस्था होना अनुमानित सत्य है। वेदांग के अन्तर्गत शिक्षा (स्वर-ज्ञान), कल्प (यज्ञ-विद्या), निरुक्त (शब्द-व्युत्पत्ति), छन्द, ज्योतिष और व्याकरण आते है। इन विषयों के परिपक्व ज्ञान के बिना वैदिक साहित्य की रचना या उसे समझना दोनों ही असम्भव हैं।

वैदिक विद्यार्थी मन्त्र-रचना का अभ्यास करते थे। उस युग में शिक्षा के अन्य विषय--अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य गाथा-नाराशंसी आदि थे। परवर्ती वैदिक युग में देवजन-विद्या, माया-वेद आदि के प्रचलन के उल्लेख मिलते हैं।

उपनिषदों में उस समय की प्रचलित विद्याओं के नाम इस प्रकार मिलते हैं--चार वेद, इतिहास-पुराण, वेदों का वेद (व्याकरण), पित्र्य (श्राद्धविधि), राशि (गणित), दैव (भौतिक विज्ञान), निधि (समय-विज्ञान), वाकोवाक्य (तर्क), एकायन (नीति), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या (छन्दःशास्त्र,) भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्पविद्या (विष-विज्ञान), देवजन-विद्या (शिल्पकला)।

उपनिषद्-युग में विद्याओं से दो विभाग स्पष्ट हैं।--परा और अपरा। इनमें से परा विद्या उच्च दर्शन के तत्वों का विश्लेषण करने के लिए थी, जिससे ब्रह्म का सर्वात्मक स्वरूप ज्ञात होता था। अपरा विद्या लौकिक उपयोगिता के लिए थी। इसके अन्तर्गत वेद, वेदांग आदि आते थे।

भारतीय विद्वानों ने पूर्ववर्ती साहित्यिक निधि को कभी भी उपेक्षणीय नहीं माना और सदैव उसको अध्ययन-अध्यापन के माध्यम से सुरक्षित बनाये रखा, किन्तु

पूर्ववर्ती साहित्य को कभी ज्ञान की अन्तिम सीमा नहीं माना गया। नित्य नूतन ग्रन्थों की रचनाएँ साहित्य की अभिनव दिशाओं की प्रतिष्ठा करती रही हैं। कालान्तर में सूत्र और स्मृति का धार्मिक और समाजशास्त्रीय ज्ञान अतिशय समृद्ध हुआ। दर्शन-शास्त्र की न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और वेदान्त—छः शाखाएँ समुन्नत हुईं और अर्थशास्त्र, नाट्य-शास्त्र आदि का प्रणयन हुआ। इन सभी-विषयों का अध्ययन-अध्यापन प्रायः सदा ही प्रचलित रहा। इनके साथ ही काव्यात्मक साहित्य--महाकाव्य, नाट्य-साहित्य, गद्य-काव्य आदि को शिक्षण-संस्थाओं में अध्यापन के विषयों में क्वचित् समादर प्राप्त हुआ।

वेदों से सम्बद्ध उपवेदों का अध्ययन-अध्यापन लौकिक उपयोगिता के लिए सविशेष रहा है। उपवेदों में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थशास्त्र सुप्रतिष्ठित रहे हैं। इनमें से धनुर्वेद युद्ध-विज्ञान का प्रतीक रहा है। गन्धर्ववेद में नृत्य, नाट्य संगीत आदि प्रमुख कलात्मक मनोरंजनों की गणना होती है। अर्थशास्त्र समाजशास्त्र है, जिसमें समाज में सुव्यवस्थित गतिविधि का संचार करने के लिए राजनीतिक और औद्योगिक ज्ञान-विज्ञान की प्रतिष्ठा की गई है।

बौद्ध शिक्षण

बौद्ध शिक्षण में त्रिपिटक साहित्य का प्रारम्भिक युग में विशेष महत्व था। त्रिपिटकों में गौतम बुद्ध के उपदेशों का संग्रह मिलता है। इन्हीं त्रिपिटकों के ज्ञान को विकसित करने के लिए दर्शन, इतिहास और कथा-सम्बन्धी असंख्य ग्रन्थों की रचना समय-समय पर हुई। इन सभी ग्रन्थों का पठन-पाठन विहारों में होता था।

बौद्ध विहारों में वैदिक संस्कृति के ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन भी चलता था। पाणिनि के व्याकरण में सभी बौद्ध भिक्षुओं की रुचि थी।

जैन शिक्षण

जैन शिक्षण-संस्थाओं में महावीर-स्वामी के द्वारा प्रवर्तित अङ्ग और उपाङ्ग साहित्य का अध्ययन-अध्यापन प्रचलित रहा है। इन्हीं की पृष्ठभूमि लेकर जैन संस्कृति के उन्नायकों ने दर्शन, धर्म, पुराणेतिहास और काव्य-सम्बन्धी विशाल साहित्य की रचना की। इन ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन शिक्षण-संस्थाओं में चलता रहा। इनके अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, गणित, राजनीति आदि के अनेक ग्रन्थ जैन संस्कृति से सम्बद्ध रचे गये, जिनका अध्ययन-अध्यापन इन संस्थाओं में चलता रहा।

उपर्युक्त विद्याओं के अतिरिक्त भारतीय शिक्षण-संस्थाओं में उपविद्याओं को सदैव सम्मानित स्थान मिला है।[1] शिल्पों की गणना उपविद्याओं में होती है।[2] प्रारम्भिक भारतीय शिल्प-शिक्षण की कुछ चर्चा प्रागैतिहासिक प्रवृत्तियों में की जा चुकी है। सिन्धु-सभ्यता के युग में नृत्य, संगीत, वाद्य आदि प्रचलित कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। इन विषयों का शिक्षण आभ्यासिक विधि से आचार्यों के घर पर ही होता था।

उपविद्याएँ

शिल्पों का प्रथम प्रसिद्ध विद्यालय तक्षशिला में था। वहाँ १८ शिल्प पढ़ाये जाते थे।[3] परवर्ती युग में इन १८ शिल्पों को लेकर शिल्प-कलाओं की संख्या ६४ तक जा पहुँची। इन सभी कलाओं के विद्यार्थी होते थे। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों इनका अध्ययन करते थे। चौसठ कलाओं में प्रमुख के नाम इस प्रकार मिलते हैं—गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य (चित्र), पुष्पास्तरण, शयन-रचन, माला-विरचन, नेपथ्य-प्रयोग, गन्धयुक्ति, ऐन्द्रजाल, पाककर्म, प्रहेलिका, काव्यसमस्या-पूरण, मूर्ति-रचना, वास्तुविद्या, रत्न-परीक्षा, आयुर्वेद, शुक-सारिक-प्रलापन, देश-भाषा-विज्ञान, पुष्प-शकटिका, द्यूत, व्यायाम आदि।

समृद्धिशाली लोग रसास्वाद के लिए इन उपविद्याओं को सीखते थे और साधारण लोग अपनी जीविका चलाने के लिए इनका संग्रह करते थे।

आचार्यों का व्यक्तित्व

वैदिक शिक्षण-विधि में देवताओं के व्यक्तित्व के अनुरूप आचार्यों के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा हुई थी। इन्द्र और सविता प्रथम आचार्य हैं। इन देवताओं की सर्वज्ञता, अन्धकार को दूर करना, बुद्धि का संवर्धन करना आदि विशेषताएँ वैदिक साहित्य में प्रतिष्ठित हैं। आचार्य प्रायः मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुआ करते थे।

---

१. विद्याश्चतुर्दशैवोक्ता वेदाद्यास्तत्त्वदर्शिभिः।
चित्रेन्द्रजालनृत्याद्या उपविद्याः प्रकीर्तिताः॥
पुरुष-परीक्षा १९.१

चतुर्दश विद्याएँ हैं—चार वेद, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छः वेदांग। चारउपवेद, आयुर्वेद धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, स्थापत्यवेद हैं।

२. मुक्तिविद्यामृते यदधीतं तत् शिल्पम् विष्णुपुराण १.१९.४१

३. इन शिल्पों में गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, चित्र, मूर्ति, गणित जन्त्र, कृषि पशुपालन, व्यापार, आयुर्वेद, राजनीति, धनुर्वेद आदि परवर्ती ६४ कलायें हैं।

वैदिकयुगीन ऋषि अपने पुत्रों को स्वयं पढ़ाते थे। उनके पुत्रों के साथ ही गाँव के अन्य बालक भी आ जाया करते थे। वह ऋषि न केवल अपने पुत्रों का, अपितु सभी पढ़ने वाले बालकों का पिता बन जाता था। अथर्ववेद की कल्पना के अनुसार आचार्य उपनयन करते समय अपने ब्रह्मचारी को ज्ञान-शरीर देने के लिए गर्भ में उसे धारण करता है। इस प्रकार आचार्य का मातृत्व प्रत्यक्ष है। वस्तुतः औरस पुत्र से बढ़ कर महत्त्व विद्याकृतवंशविस्तार का रहा है।

वैदिक आचार्य का अध्यापन धन-प्राप्ति के लिए नहीं था। जैसे सूर्य प्रकाश देता है और नदी जल देती है, वैसे ही आचार्य विद्यार्थी के लिए ज्ञान देता है।

उपनिषद्-युग का वह आचार्य कितना सत्यपरायण होगा, जिसने अपने शिष्यों को शिक्षा दी—सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। ये सत्प्रवृत्तियाँ आचार्य के व्यक्तित्व में पहले से ही समाहित होती होंगी, तभी ऐसे वाक्यों का उद्‌गार सम्भव होगा। इसी युग के एक आचार्य ने अपनी कामना प्रकट की है—'मेरा शरीर कर्मण्य हो, मेरी जिह्वा मधु का प्रवाह करे। मेरे चारों ओर सभी प्रकार की समृद्धि रहे।' इन वाक्यों से आचार्य की महिमा व्यक्त होती है।

शिष्य और आचार्य की दृढ एकता नीचे लिखे वाक्य से प्रकट होती है—सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु।

रामायण और महाभारत में प्राचीन युग के महान् आचार्यों के उल्लेख मिलते हैं। भरद्वाज, अगस्त्य, वसिष्ठ, वाल्मीकि, व्यास, द्रोण, परशुराम, कण्व आदि आचार्यों के नाम से ही उनके व्यक्तित्व की गरिमा प्रतिभासित होती है। उन महर्षियों की तत्कालीन समाज में इतनी प्रतिष्ठा थी कि राम भी उनका दर्शन करके अपने को धन्य मानते थे।

परवर्ती साहित्य में जाबालि ऋषि का वर्णन कादम्बरी में और वसिष्ठ का वर्णन रघुवंश में मिलता है। इन वर्णनों की स्वीकरणीयता से इतना स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज के समक्ष आचार्यों के उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा करने की प्रवृत्ति थी।

भारतीय आचार्यों की ऐतिहासिक परम्परा परम उज्ज्वल रही है, जिसमें सर्वोच्च शंकराचार्य हुए हैं। बौद्ध संस्कृति में गौतम बुद्ध को आचार्य रूप में सर्वोच्च प्रतिष्ठित किया गया है। जैन संस्कृति में महावीर-स्वामी सर्वोच्च आचार्य प्रतिष्ठित हुए। इन महान् आचार्यों के व्यक्तित्व की छाया परवर्ती युग में दिग्दिगन्त में परि-व्याप्त हुई और उनके पदचिह्नों पर चलने वाले आचार्यों का कभी अभाव नहीं हुआ।

शिक्षण-विधि

वैदिक यज्ञों में मन्त्रों का पाठ तिशुद्ध होना चाहिए था, अन्यथा सुफल के स्थान पर कुफल की प्राप्ति हो सकती थी। ऐसी परिस्थिति में शुद्ध पाठ का अधिक महत्त्व माना जाता था। आचार्य वेदों का अध्यापन करते समय स्वयं शुद्ध पाठ प्रस्तुत करता था और शिष्य उस पाठ का अनुकरण करते थे। उस युग में नित्य नई स्तुतियों के द्वारा देवताओं की अर्चना करने की रीति थी। स्तुतियों की रचना करने के लिए विद्यार्थी काव्य-रचना का अभ्यास करते थे। आचार्य विद्यार्थियों की रचनाओं का संशोधन करते थे।

भारत में संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में कण्ठाग्र करने की रीति सदैव प्रशस्त मानी गई है। विशुद्ध पाठ करने की दृष्टि से वैदिक पद्धति में पाठ के भेद थे—संहिता, पद, क्रम, जटा और घन। इन पाठों में पदों की पुनरावृत्ति की विशेषता रही है। एक ही पद १३ बार तक पाठ करते समय रटना पड़ता था। इस प्रकार की अध्ययन-शैली का सबसे बड़ा लाभ हुआ कि वैदिक साहित्य का पाठ आज भी हमारे समक्ष अक्षुण्ण वर्तमान है।

अध्ययन करते समय केवल कण्ठाग्र करना ही पर्याप्त नहीं माना जाता था। अपितु अर्थ का ज्ञान महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठित हुआ। अर्थ को समझे विना अध्ययन करना वैसा ही समझा जाता था, जैसे वेदों का भार ढोना।

अध्यापन की पद्धति में प्रश्नोत्तर की शैली विशेष रूप से अपनाई गई थी। विद्यार्थी अपनी जिज्ञासा प्रकट करता था और आचार्य उत्तर देता था। इस प्रश्नोत्तर की प्रक्रिया में आचार्य और शिष्य का पिता-पुत्र भाव उनके सौहार्द का द्योतक रहा है। आचार्यों की व्याख्यान-शैली में वात्सल्य की झलक रहती थी। आचार्य शिष्यों को समय-समय पर अध्ययन के विषयों की महत्ता और गरिमा का वर्णन करते हुए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करते चलते थे।

सूक्ष्म विषयों को समझाने के विविध प्रकार के उदाहरण देने की रीति सुप्रचलित थी। बुद्धि, शरीर और आत्मा के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन करते हुए आचार्य ने स्पष्ट समझाया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

(आत्मा को सवार, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि और मन को पगहा समझो।)

प्रत्यक्ष और स्थूल लक्षणों से सूक्ष्म विषयों का ज्ञान कराया जाता था। वट के बीज को तोड़-तोड़ कर इतना छोटा कर दिया कि उसमें कुछ भी नहीं दिखाई देता था, फिर आचार्य शिष्य को समझाता था कि जिस सूक्ष्मता को तुम नहीं देख पा रहे हो, उसी से यह बड़ा वट का वृक्ष है। इस उदाहरण से आचार्य को समझाना था कि आत्मतत्व अदृश्य होने पर भी सर्वव्यापी है।

उपनिषद् के आचार्यों की वाणी मधुर थी। वे शिष्य को सौम्य कहकर पुकारते थे। शिष्यों का उत्साह-संवर्धन करने के लिए कहते थे—उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत। वे अपने प्रवचन के आरम्भ में कहते थे—सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम् आदि। इस प्रकार शिष्य और आचार्य की पारस्परिक भावना से उदात्त वातावरण की सृष्टि होती थी। आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके विद्यार्थी मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा उसका परिपोषण करते थे।[1] अपने ज्ञान को सुस्थिर करने के लिए अनेक आचार्यों से उसी विषय को सीखना भी अपेक्षित था।[2]

अध्ययन करने के लिए विद्यार्थी आचमन करके उत्तराभिमुख होकर और ब्रह्माञ्जलि बाँधकर प्रस्तुत होता था। उसके शरीर पर अधिक वस्त्र उस समय भारस्वरूप नहीं होने चाहिए। जितेन्द्रिय तो वह सदा रहता ही था। अध्ययन के आरम्भ और अन्त में वह आचार्य का चरण स्पर्श करता था। अध्ययन की विधि में ओ३म् और प्राणायाम का विशेष महत्त्व था। मनु ने अध्ययन के क्षेत्र में प्रेम-पूर्वक व्यवहार को उपयोगी माना है। सैन्य-शिक्षण, ज्योतिष और आयुर्वेद का ज्ञान कराने में आभ्यासिक शिक्षण का विशेष उपयोग रहा है। ज्योतिष के अध्यापन में चित्रों और यन्त्रों का सहारा लिया जाता था। आयुर्वेद में शल्य-चिकित्सा का बहुविध अभ्यास कराया जाता था। साथ ही जड़ी-बूटियों का ज्ञान कराया जाता था।

ब्रह्मचारी की जीवन-विधि

प्राचीनकाल में माता-पिता को शिक्षा के लिए व्यय नहीं करना पड़ता था। स्वयं आचार्य अपने शिष्यों को पुत्र के समान रखकर भरण-पोषण करता था। वैदिक काल में शिष्यों को गुरु की सेवा करनी पड़ती थी और कभी-कभी उसे गुरु की गायें चराने के लिए वन में जाना पड़ता था। बौद्ध-काल में गुरु की सेवा का विधान मिलता है, पर गायों के चराने की पद्धति लुप्तप्राय-सी हो गई। भिक्षा माँग कर

---

१. श्रुतेः शतगुणं विद्यात् मननं मननादपि।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम्॥ विवेक चूडामणि ३६।

२. न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्—भागवत

अपना और आचार्य का भरण-पोषण करने की रीति वैदिक काल में विशेष रूप से थी। शनैः-शनैः इस रीति का अन्त हो गया। आगे चलकर राजा, धनी लोग या गाँव के लोग अन्न-वस्त्र देकर उन विद्यार्थियों का भरण-पोषण करते थे। इस प्रकार तत्कालीन शिक्षा का व्यय सारे समाज पर पड़ता था, न कि किसी एक व्यक्ति पर, जिसका पुत्र विद्यार्थी हो।

परवर्ती युग में मन्दिरों और विहारों में जब विद्यालय चलने लगे तो राजाओं और समृद्धिशाली लोगों की ओर से आचार्यों और ब्रह्मचारियों के उपयोग के लिए धन-धान्य मिलता था।

विद्यार्थी का जीवन अत्यन्त सरल और तपोमय था। उसे जीवन की पवित्रता का व्रत लेना पड़ता था। वह मन, कर्म और वचन से शुद्ध होता था। गोपथब्राह्मण के अनुसार ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मतेज, ख्याति, निद्रा, क्रोध, आत्म-प्रशंसा, सौन्दर्य और सुगन्धि का परित्याग कर देता था।

ब्रह्मचारी गुरु के सोने के पीछे सोता था और जागने के पहले ही उठ जाता था और प्रातःकाल ही ठंडे पानी से स्नान करता था। इसके पश्चात् वह दाहिने और बायें हाथ से क्रमशः गुरु के दाहिने और बायें चरण का स्पर्श करता था। गुरु के लिए वह प्रतिदिन समिधा, जल, पुष्प, गोबर, मिट्टी और कुश लाता था और हवन-स्थान को झाड़-पोंछ करके अग्नि प्रज्वलित कर देता था।

ब्रह्मचारी को किसी वस्तु के छूने, खाने, देखने, सूँघने और सुनने से हर्ष और विषाद नहीं होता था। वह अपने शरीर को फूल, माला, गन्ध आदि से सजाता नहीं था और न स्त्रियों के समीप जाता था। कभी भी ब्रह्मचारी स्वादिष्ठ भोजन के चक्कर में नहीं पड़ता था। वह मधु और मांस का सर्वथा त्याग कर देता था।

ब्रह्मचारी शरीर पर तेल या चूर्ण तथा आँखों में काजल नहीं लगाता था और न जूते और छाते का प्रयोग करता था। वह द्यूत, नृत्य, नाटक, गीत और वाद्य से सदा अलग रहता था। वह ज्ञान और सदाचार के अतिरिक्त किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता था। उसकी एकमात्र सम्पत्ति विनय और ज्ञान-पिपासा थी।

गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् स्नातक विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। प्राचीन काल से इस आश्रम को बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण माना गया है। मनु ने इस आश्रम की श्रेष्ठता इन शब्दों में बतलाई है:—

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

(गृहस्थ प्रतिदिन ज्ञान और अन्न से तीनों आश्रम के लोगों का भरण-पोषण करता है। अतः गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ है।)

महाभारत के अनुसार

सिद्धिक्षेत्र मिदं पुण्यमयमेवाश्रमो महान्। शान्ति० ११-१५

मनु के मत का समर्थन करते हुए वसिष्ठ ने लिखा है कि जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र में जाकर संस्थान पाती हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमों के लोग गृहस्थ के घर पहुँचकर संस्थान पाते हैं। जिस प्रकार माता का आश्रय लेकर सभी जन्तु जीते हैं, वैसे ही सभी भिक्षुक गृहस्थ का आश्रय लेकर जीते हैं।[१] गृहस्थाश्रम में ही मनुष्य चार ऋण—देव, मुनि, पितृ और मानव—से मुक्ति पाता है। इसी आश्रम के लोग राष्ट्र की आधिभौतिक प्रगति में सर्वाधिक योग देते हैं और देश की रक्षा के लिए सर्वोच्च त्याग और बलिदान करते हैं।

कालिदास ने गृहस्थाश्रम की प्रशस्ति में लिखा है कि यह आश्रम सबका उपकार करने में समर्थ है।[२]

भारतीय साहित्य में असंख्य ऐसे गृहस्थों की उदात्त चरित-गाथाएँ मिलती हैं, जिनके विषय में यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि उन्होंने गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठ बनाया है। निष्काम कर्मयोग की योजना से गृहस्थाश्रम में रहते हुए लोक-संग्रह करना और अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास कर लेना सम्भव माना गया। इस प्रकार गृहस्थाश्रम की उच्चतर उपयोगिता प्रतिष्ठित हुई।

कर्मण्यता और क्षमता

भारतीय विचार-धारा के अनुसार गृहस्थाश्रम के विधान में पुरुष के अर्थ, काम और यशोवृत्ति को किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती थी।[३] वास्तव में किसी विद्वान् गृहस्थ को समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का सदा ध्यान रहता

---

१. यथा नदीनदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम् ।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ।
एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षवः ॥

२. सर्वोपकारक्षम आश्रमोऽयम् । रघुवंश ५.१०

३. सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम् ।
अर्थं कामं यशोवृत्तिं यो न बाधते कर्हिचित् ॥ भागवत ८.२०.२

था। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि "मैं वस्तुतः अपने विद्यार्थी-जीवन में समाज की उपकारमयी प्रवृत्तियों और सहायशीलता के बल पर अपने व्यक्तित्व का विकास करने में सफल हुआ हूँ"––इस बात को वह विस्मत नहीं कर सकता था। उपर्युक्त पंच महायज्ञों का विधान बहुत-कुछ समाज के प्रति विद्वान् गृहस्थ की उसी उपकाराश्रित वृत्ति का परिचायक है। जैसा समाज ने मेरे लिए किया, वैसा मुझे भी समाज के लिए करना चाहिए—यह मानसिक वृत्ति स्वाभाविक ही थी। समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए गृहस्थ का अतिशय कर्मण्य और समर्थ होना अत्यावश्यक था।

वैदिक युग के गृहस्थ अतिशय समृद्धिशाली बनना चाहते थे, क्योंकि उन्हें यज्ञ करने के लिए और अधिकाधिक लोगों का भरण-पोषण करने के लिए महती समृद्धि की आवश्यकता प्रतीत होती थी। उनकी कामना थी सहस्रपोष्य, अर्थात् हजारों का पोषण करने वाला बनने की। सहस्रपोष्य बनने के लिए अधिक से अधिक श्रमपरायण बनने की प्रवृत्ति उनमें थी, क्योंकि उनका विश्वास था कि परिश्रमी को छोड़कर किसी अन्य की सहायता देवता नहीं करते हैं और देवताओं की सहायता के बिना समृद्धि का होना असम्भव है।[1]

वैदिक ऋषि सशक्त शरीर रखने के लिए सचेष्ट थे। वे सब के लिए चाहते थे कि शरीर पत्थर (के समान दृढ) हो।[2] वे निरन्तर काम करते हुए ही सौ वर्ष तक जीना चाहते थे।[3] उनकी कर्मण्यता ही व्यक्त होती है उस युग के इस आदर्श वाक्य से कि कल के भरोसे मत बैठो, मनुष्य का कल किसे ज्ञात है? आज निश्चित है, जो कल है, वह अनिश्चित है। जो हो चुका है, वह निश्चित है। जो होगा, उसको कौन जाने।[4] उनकी कर्मण्यता का सर्वोच्च प्रमाण नीचे के श्लोक से मिलता है––

> कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
> उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥ ऐतरेयब्राह्मण ७·१५

---

१. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा। ऋग्वेद ४-३३-११ नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति। ऐतरेय ब्राह्मण ७·१५

२. अश्मा भवतु नस्तनूः। यजुर्वेद २९-४९। शरीरं मे विचर्षणम्। तै० शि-४-९

३. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। यजुर्वेद ४२-२

४. न श्वः श्वमुपासीत। को हि मनुष्यस्य श्वो वेद। शतपथ २.१.३.१ श्रद्धा हि तद् यदद्य, अनद्धा हि तद् यच्छवः २.३.१.२८। श्रद्धा हि तद् यद् भूतम् अनद्धा हि तद् यद् भविष्यति। २.२.१.२५

अर्थात् सोते हुए (पुरुष के लिए) कलियुग रहता है, जँभाई लेते हुए द्वापर होता है, उठते हुए त्रेता होता है और काम में लग जाते हुए सत्ययुग होता है।

इसी प्रकरण में कहा गया है कि इन्द्र परिश्रमी लोगों की ही सहायता करता हैं।[१]

उपनिषद्-युगीन महर्षि की कामना थी अधिकाधिक अन्न उपजाओ। वे वस्त्र और पशुओं की अधिकता चाहते थे, साथ ही अन्न और पान की भी।

महाभारत में गृहस्थ-जीवन की समृद्धिशालिता की प्रशंसा की गई है। लोक को वार्ता (कृषि, व्यापार) आदि से सुख मिलने की सम्भावना मानी जाती थी।[२] सबसे श्रेष्ठ वह जीविका बतलाई गई, जिसके लिए अपने शरीर का पसीना सूखा हो—

अर्जितं स्वेन वीर्येण नाप्यपाश्रित्य कंचन।
फलशाकमपि श्रेयो भोक्तुं ह्यकृपणं गृहे॥ वनपर्व १९३.२९

अर्थात् किसी का आश्रय लिए बिना अपने बल से अर्जित किए फल और शाक का अपने घर में अदीन भाव से खाना श्रेयस्कर है।

गीता में अकर्म में आसक्ति होने की बारंबार निन्दा मिलती हैं।[३] इस पुस्तक में कर्मयोग का तात्पर्य है मानवता को कर्म से जोड़ देना।

गौतम बुद्ध ने गृहस्थ के लिए सुखी जीवन का उपदेश करते हुए बतलाया है कि परिश्रमी मानव धन प्राप्त करने में समर्थ होता है।[४]

दिनचर्या

इस देश में बहुत प्राचीन काल से ही रात्रि के अन्तिम भाग—ब्राह्म मुहूर्त में जागने की रीति चली आ रही है। उसी समय से दिन का आरम्भ मानना चाहिए। जागते ही आँखें धोकर दिन में अन्धकार के पाश से विमुक्त होने की प्रार्थना की जाती थी। वैदिक युग में लोग उषाकाल में देवताओं की स्तुति करते थे। पौराणिक युग में लोग प्रातःकाल विभिन्न देवताओं, महापुरुषों और नारियों की स्तुति करते थे। इसके पश्चात् शारीरिक शुद्धि की प्रक्रिया आरम्भ होती थी। दंतधावन के लिए जिस वृक्ष की टहनी तोडी जाती थी, उसकी प्रार्थना इन शब्दों में की जाती थी—'हे वृक्ष!

१. इन्द्र इच्चरता सखा ७.१५

२. वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते। सभापर्व ५.४२

३. उदाहरण के लिए देखिए—मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि। २.४७। नियतं कुरु कर्म त्वम्। ३.१८

४. पतिरूपकारी धुरवा उट्ठाता विन्दते धनम्॥ सुत्तनिपात के आलवक सुत्त से

मुझे दीर्घायु, बल, यश, तेज, सन्तति, पशु, धन, ब्रह्म (वेद-ज्ञान), स्मरण-शक्ति और उत्कृष्ट बुद्धि प्रदान करो।' दन्तधावन के पश्चात् स्नान होता था। गृहस्थ ब्राह्मण प्रायः सूर्योदय के पहले और दो पहर के पहले दो बार स्नान करते थे। स्नान करते समय वैदिक मन्त्रों से जल की स्तुति की जाती थी। स्नान कर लेने पर गीले वस्त्र धारण किये हुए तर्पण के द्वारा देवताओं और पितरों को जल अर्पित किया जाता था। यह सारा काम दिन के प्रथम भाग में समाप्त हो जाता था।

दिन के दूसरे भाग में लोग वेदों का स्वाध्याय करते थे और समिधा, पुष्प और कुश आदि पूजा के द्रव्य लाते थे। चौथे भाग में दोपहर के पहले स्नान और तर्पण किये जाते थे। लोगों का ऐसा विश्वास था कि सभी चराचर को जल की आवश्यकता है और विश्व के भरण-पोषण की इच्छा रखने वाले मनुष्य को अवश्य तर्पण करना चाहिए। तर्पण में जल से देव, ऋषि, पितर, मानव और अन्यान्य चराचर-वर्ग की तृप्ति की जाती थी। दिन के पंचम भाग में वैश्वदेव-विधि के द्वारा सभी देवताओं को पका हुआ भोजन अग्नि के माध्यम द्वारा दिया जाता था।[1]

महायज्ञ

प्रत्येक गृहस्थ के प्रतिदिन पाँच महायज्ञ का सम्पादन समाज के प्रति उसके कर्त्तव्यों के रूप में होता था।[1] ब्रह्म-यज्ञ का संक्षिप्त रूप आजकल की सन्ध्या है। इसके लिए गृहस्थ गाँव से दूर किसी निर्जन स्थान पर जाकर स्वाध्याय,[2] गायत्री-मन्त्र का पाठ करता था, वेद पढ़ता था और वेदों का अध्यापन करता था।[3] देव-यज्ञ में स्तुतियों और हवन से देवताओं को सन्तुष्ट किया जाता था। आगे चलकर देवयज्ञ में देवताओं की मूर्तियों की पूजा का प्रचलन हुआ और हवन करने की क्रिया न्यून हो गई। पितृ-यज्ञ में माता-पिता और पूर्वजों के तर्पण और श्राद्ध का विधान था। भूत-यज्ञ में विश्व के चराचर सभी प्राणियों के भरण-पोषण के लिए गाँव से बाहर सावधानी से भोजन की बलि रख दी जाती थी। इस यज्ञ में राक्षसों तक के लिए जीविका का ध्यान रखकर उनके लिए बलि देने की विधि रही है। अतिथि-यज्ञ के द्वारा अतिथियों को भोजन देने और रहने की सुविधा करने की परिपाटी थी। ऋग्वेद में अकेले खाने वाले व्यक्ति को पाप का भागी बताया गया है। वैदिक काल से भारतीय

---

१. यज्ञों का संक्षिप्त परिचय एक श्लोक में इस प्रकार है—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ मनु ३.७०

२. तत्त्वादिशास्त्राभ्यासश्च स्वाध्यायः परिकीर्तितः।

२. विद्यां दत्त्वा ब्राह्मणाय ब्रह्मलोके महीयते। पद्म पु० १.५१-१०

जीवन की यह विशेषता रही है कि प्रत्येक गृहस्थ के द्वार पर प्रतिदिन कोई न कोई अतिथि आया ही रहता था। उपनिषदों में अतिथि को देवता के समान मानकर उनका आदर और सम्मान करने की सीख दी गई है। यज्ञों का सम्पादन करके भोजनकरने वाला विघसाशी उपाधि से अलंकृत किया गया था।[१]

कुछ शास्त्रकारों ने इन महायज्ञों को संस्कारों में गिना है। इनके द्वारा मानव सङ्कीर्णता और एकान्तता की संकुचित भूमि से उठकर अपने व्यक्तित्व को व्यापक बनाता है और मनु के शब्दों में इस शरीर को 'ब्राह्मी' स्थिति प्रदान करता है। इन महायज्ञों से मानवीय अभ्युत्थान और संस्कृति की उत्कृष्टता की प्रतीति होती है। इन्हीं के बल पर अकिंचन भी अपने व्यक्तित्व का विकास करने में समर्थ हो सकते थे। अथर्ववेद के अनुसार इनसे मनुष्य पवित्र होता है यथा।

पुनन्तुमा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया पुनन्तु विश्वानि भूतानि पवमानः पुनातुमा ॥

वानप्रस्थ

ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम में जीवन के लगभग ५० वर्ष बीत जाते थे। इस अवस्था में न तो मनुष्य को सांसारिक भोग-विलासों के प्रति बहुत आस्था रह जाती है और न उसमें गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व-पूर्ण कर्त्तव्यों का पालन करने की शक्ति रह जाती है। ऐसी परिस्थिति में लोग आध्यात्मिक ज्ञान की खोज में प्रकृति की शरण लेते थे और हिमालय और विन्ध्याचल आदि पर्वतों पर नैसर्गिक वन्य जीवन को अपना लेते थे। वन के लिए प्रस्थान कर देना वानप्रस्थ है। कोई भी मनुष्य वानप्रस्थ का अधिकारी तभी माना जाता था, जब वह अपने कुटुम्ब के पुत्र और पुत्रियों के सुखपूर्वक रहने का प्रबन्ध कर लेता था। अपनी कन्या का विवाह करके जाना तो आवश्यक ही था। वह अपने पुत्र पर किसी प्रकार का ऋण छोड़ कर नहीं जा सकता था। पति के साथ पत्नी भी वानप्रस्थ आश्रम अपना सकती थी। विधवा स्त्रियाँ अकेले इस आश्रम के लिए वन में जा सकती थीं। महाभारत के अनुसार कृष्ण के मर जाने पर उनकी पत्नियाँ तप करने के लिए वन में चली गईं। शूद्र भी वानप्रस्थ अपना सकते थे।

गृहस्थाश्रम छोड़कर वानप्रस्थ क्यों? स्वामी राम तीर्थ के शब्दों में Only to seek a larger one and share ones joy with the whole world.

वानप्रस्थ-आश्रम में मनुष्य नगरों और गाँवों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता था। वह वनों में सदैव विचरण किया करता था। यदि स्त्री साथ होती तो

---

१. दत्त्वातिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः ॥ शान्तिपर्व ११-२४

वह किसी गुफा में अपनी कुटिया बना लेता था। उसके भोजन, वस्त्र और पेय का सारा प्रबन्ध स्वयं वनदेवी कर देती थी। वह जङ्गली चावल (नीवार) या फल-मूल खाता था, कुश, वल्कल या मृगचर्म का परिधान बना लेता था, वन की नदियों, झीलों या सोतों का जल पी लेता था तथा वन में रहने वाले मुनियों और संन्यासियों से दार्शनिक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करता था। रोगी हो जाने पर वह प्रकृति को ही चिकित्सा करने का अवसर देता था। मरणासन्न अवस्था में वह वायु और जल से ही जीवन-निर्वाह करता था। उसके लिए मरण-काल की शान्ति और उच्च विचारों से जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की सिद्धि सुलभ मानी गई है।

वानप्रस्थ-आश्रम के मुख्य उद्देश्य तप और तत्त्व-ज्ञान हैं। इस आश्रम में मनुष्य शारीरिक सुखों की उपेक्षा करके शीत, वायु, अग्नि, धूप और वर्षा के प्रकोप को सहकर शरीर की ओर से निश्चिन्त रहते थे। शरीर-धारण-मात्र के लिए ही उनके भोजन, पान और परिधान होते थे। उनके सिर पर जटाएँ होती थीं और मूँछ, नख और दाढ़ी बढ़ी रहती थी। इससे यह न समझना चाहिए कि वे किसी प्रकार की शारीरिक स्वच्छता से विमुख होते थे। उनके लिए वन के निर्मल झरनों के जल में दो या तीन बार स्नान करने का विधान था। वानप्रस्थ-आश्रम में भी गृहस्थाश्रम के पाँच महायज्ञों का प्रतिदिन सम्पादन करना आवश्यक था। इस आश्रम की विशेषताएँ योगाभ्यास, वेद, आरण्यक और उपनिषद्-ग्रन्थों का अध्ययन और मनन तथा आध्यात्मिक चिन्तन हैं।

इस प्रकार तप और तत्त्वज्ञान के द्वारा वानप्रस्थ ब्रह्म में लीन हो जाने की इच्छा करता था। वानप्रस्थ का कर्तव्य था कि वह प्राणियों का उपकार करे। अनेक वानप्रस्थ अध्यापन करते थे। उनके विद्यालय भी होते थे[१]।

प्राचीन भारत में व्यक्तित्व के विकास के लिए तप को प्रारम्भिक साधन के रूप में ग्रहण किया गया था।[२] वैदिक और अवैदिक सभी संस्कृतियों में किसी न किसी रूप में तप को अपनाया गया। लोगों का विश्वास था कि आध्यात्मिक उन्नति का जहाँ आरम्भ होता है, वहीं आधिभौतिक सुखों का अन्त होना चाहिए। शरीर को जीवित-मात्र रखने के लिए भोजन, वस्त्र और आवास आदि हो सकते हैं। कालान्तर में एक ऐसा युग आया, जब शरीर को अधिकाधिक कष्ट देना ही आध्यात्मिक उन्नति

---

१. कण्व का यश इस दिशा में प्रख्यात है। वाल्मीकि का सेवा-कार्य सर्वविदित है। ऐसे मुनियों का एक काम था अध्यापन। जाबालि ने कादम्बरी में बतलाया है––अनाथपरिपालनं हि धर्मोऽस्मद्विधानाम्।

२ तपश्चेन्द्रिय-निग्रहः।

का स्वरूप माना जाने लगा। आरम्भ में शारीरिक सुखों की उपेक्षा इसलिए की जाती थी कि उनके चक्कर में पड़कर मनुष्य को समाधि और योग के लिए मन लगाना सरल नहीं रहता है, पर आगे चलकर कुछ लोगों के लिए शरीर को कष्ट देना ही तप का एक मात्र उद्देश्य हो गया।

विदेशों में कतिपय मनीषी भारतीय वानप्रस्थ आश्रम की आवश्यकता आध्यात्मिक अभ्युदय की दिशा में मानते आये हैं। जर्मनी के प्रो० डर्कहीम ने पश्चिमी जर्मनी के ब्लैक फारेस्ट में एक विश्वविश्रुत वानप्रस्थाश्रम विकसित किया है।[1]

संन्यास

संन्यास के दो रूप हैं—यति-संन्यास और कर्मयोग। यति-संन्यास में सभी कर्मों को छोड़कर केवल आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए ब्रह्म-विषयक चिन्तन का विधान है और कर्मयोग में लोककल्याण के लिए सदैव कर्म करते रहना आवश्यक है। संन्यास के लिए यह नियति विधान था कि मनुष्य अपना सर्वस्व त्याग (न्यास) दे। इसी सम्यक् न्यास के कारण इस आश्रम को संन्यास कहते हैं। अपरिग्रह का सुख संन्यासी के लिए ही है।[2] अथर्ववेद १०-१-३२ में संन्यास-वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

संन्यासी के लिए नित्य परिभ्रमण करते रहना आवश्यक था। जहाँ-कहीं भी सन्ध्या हो जाती थी, वह वृक्ष के नीचे अथवा निर्जन घर में रात बिता लेता था। केवल वर्षा-काल में ही वह एक स्थान पर रह सकता था। भ्रमण करते समय उसका अकेले रहना आवश्यक था। इस सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही एक मनोरम रूपक चला आता है—दो संन्यासियों की जोड़ी, तीन का गाँव और तीन से अधिक का नगर बन जाता है। ऐसी धारणा थी कि जहाँ संन्यासी एक से दो हुए कि रागद्वेष उनके मन को विषाक्त कर देते हैं।

वानप्रस्थ की भाँति संन्यासी भी तीन बार स्नान करता था। वह केवल भोजन के लिए गाँव में जाता था। आवश्यकता पड़ने पर अधिक से अधिक एक रात वह गाँव में बिता सकता था। वह खप्पर में ही भोजन कर लेता था और वृक्ष की

---

१. डा० प्राफ कार्लफ्रीड डर्कहीम ने १९७४ ई० में दिल्ली में जवाहर लाल-स्मारक-भाषण माला में 'योरपीय आधुनिक आध्यात्मिकता पर भारतीय प्रभाव' पर भाषण दिया था।

२. निद्रा के समय मनुष्य को जो सुख मिलता है, वह अपरिग्रह का ही तो सुख है। नींद में सब भूल जाता है कि मेरा कुछ है भी। संन्यासी तो वास्तव में सब कुछ छोड़ ही देता है। उसका अपरिग्रह-सुख असीम है।

जड़ के समीप रात बिता लेता था। उसके भिक्षा-पात्र और कमण्डलु धातु के नहीं होते थे, अपितु कद्दू के फल, काठ, मिट्टी या बेंत के बने होते थे। वह सात घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेता था, पर उन घरों का चुनाव पहले से ही नहीं कर बैठता था। वह केवल उच्च कोटि के ब्राह्मणों से ही भिक्षा ग्रहण करता था। विशेष परिस्थितियों में अन्य वर्ण के लोगों से भी अन्न ले सकता था। वह एक मनुष्य का अन्न अथवा मधु और मांस नहीं खाता था। संन्यासी रोगी होने पर अपने कुटुम्ब या सम्बन्ध के लोगों से अन्न ग्रहण कर सकता था। भिक्षा मिलने पर न तो वह प्रसन्नता प्रकट करता था और न भिक्षा के न मिलने पर विषाद व्यक्त करता था। वह किसी रूप में धन-संग्रह नहीं करता था। वस्त्र के लिए चीथड़े, पानी छानने के लिए 'पवित्र' नाम का कपड़ा, खड़ाऊँ, आसन और कन्था—ये ही उसके सर्वस्व थे। वह त्रिदण्ड (तीन डण्डे) से पहचाना जाता था। संन्यासी नंगा भी रह सकता था या मृगचर्म अथवा घास से शरीर को ढक सकता था। वह अपने नख तथा केश और दाढ़ी के बाल काट लेता था, और स्वेच्छा से शिखा रख सकता था।

संन्यासी का समभाव और सभी प्राणियों के प्रति मैत्री-भावना उसकी विशेषताएँ हैं। यदि कोई उसका अपमान करता, तो वह बिना उत्तर दिये चुपचाप सह लेता। वह क्रोध करने वालों और निन्दकों को मधुर वाणी से उत्तर देता था। वह सदैव आध्यात्मिक चिन्तन में लगा रहता था और नित्य प्राणायाम आदि योग की क्रियाओं से मन पर अधिकार रखता था। संन्यासी प्रायः मौन रहता था, कभी-कभी वेदों का पाठ-मात्र कर लेता था। संन्यासी का ऐकात्म्य प्रसिद्ध है, क्योंकि वह सबमें एक आत्मा देखता है। संन्यास साधक सिद्ध बनकर ज्ञान विज्ञान-पारग, लोक तत्त्वार्थ-कुशल, सुख-दुःख-ज्ञातार्थ और ब्राह्मी श्री से दीप्त होता है।

कर्मयोग

कर्मयोग की सबसे स्पष्ट व्याख्या गीता में की गई है। इस ग्रन्थ के अनुसार संन्यास के बिना कर्मयोग सम्भव नहीं है, पर वह संन्यास कर्मों का संन्यास नहीं, अपितु कर्म-फल की आशा का संन्यास है। आसक्ति-रहित होकर आत्महित के लिए अथवा लोक-कल्याण के लिए सदैव कर्म करते रहना कर्मयोग है।

कृष्ण ने गीता में कर्मयोग और कर्म-त्याग का समन्वय करते हुए बताया है :—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

(जितने काम्य कर्म हैं, उनका न्यास अर्थात् छोड़ना ही संन्यास है। सभी कर्मों के फल का त्याग ही वास्तविक त्याग है।)

उपर्युक्त आश्रमों को जीवन का परम उद्देश्य जानने वाले उच्च कोटि के कुछ विद्वान् ही अपना पाते थे । किसी भी युग में सारा भारत निरपवाद रूप से इन आश्रमों को सार्वजनिक नहीं बना सका । ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम तो किसी न किसी रूप में सदैव प्रतिष्ठित रहे हैं और आज भी हैं, पर वानप्रस्थ में जीवन की कठोरता को वे ही सहने के लिए उद्यत हो सके हैं, जिन्हें वास्तव में विराग हो गया है । बौद्ध और जैन मत में गृहस्थाश्रम को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है । इनके अनुसार यथाशीघ्र गृह का परित्याग ही कल्याणकर है, पर जो ऐसा नहीं कर सकते, उनके लिए जैन धर्म ने पवित्र जीवन की व्यवस्था कर दी है, जो बहुत कुछ वैदिक धर्म के गृहस्थाश्रम के अनुरूप ही है । इन आश्रमों को स्त्री, पुरुष और चारों वर्णों के लोग अपना सकते थे ।

हठ योग के द्वारा अलौकिक शक्तियों का समुदय होता है । हठयोगी राजबली मिश्र ने १८० हार्स पावरवाली जेट नौका को प्रयाग में गतिहीन कर दिया ।[1]

भारतीय समाज में आजकल साधु-संन्यासियों का कहीं-कहीं अनादर दिखाई देता है । इसका कारण प्राचीन काल से ही साधुओं की जमात में रहा है । इसके अतिरिक्त साधु-संन्यासी का वेष बनाकर प्राचीन काल में जब गुप्तचर कुकार्य करते थे, तब उनकी प्रवृत्तियों का प्रभाव साधु-वेष पर पड़ता ही था । साधु-वेष का इस स्थिति में घृणास्पद होना स्वाभाविक हो जाता है । कहीं-कहीं अपने प्राचीन साहित्य में भिक्षु और भिक्षुणियों के असंगत आचरण की चर्चा मिलती है । वे सच्चरित्रता के पथ से गिरे हुए दिखाई पड़ते हैं । इस प्रकार की बातें मूलतः बुरे साधु-संन्यासियों के विषय में हैं, पर इसका फल अच्छे साधुओं को भी भोगना पड़ा है और पड़ रहा है ।

प्राचीन काल में साधुओं के व्यक्तित्व के विकास के लिए उच्च कोटि की संस्थाएँ थीं । उन संस्थाओं में अपने व्यक्तित्व को आदर्श बनाकर जो साधु निकलते थे, उनसे राष्ट्र-कल्याण की विशेष सम्भावना थी । आज साधुओं की इस दिशा में प्रवृत्ति कुछ विशेष नहीं दिखाई देती ।

रामतीर्थ के शब्दों में सूर्य सब से बड़ा संन्यासी है, क्योंकि वह सबको प्रकाश देता है और जीवन-प्रदान करता है । संन्यासी का आदर्श है—मम ये दो अक्षर मृत्यु हैं, न मम ये तीन अक्षर शाश्वत हैं ।[2]

———

१: इसका प्रदर्शन १३ सितम्बर १९७७ ई० में प्रयाग में हुआ था ।

२. द्वयक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ शान्ति० १३.४

चतुर्थ अध्याय

दार्शनिक प्रवृत्ति

संस्कृति के आदि काल से दर्शन का प्रारम्भ माना जा सकता है। मनुष्य ने देखा और बुद्धि से विवेचन करके सत्य की खोज की। यही दर्शन की परम्परा है। विचार और तर्क द्वारा निर्धारित परिपक्व परिणामों को तथा विचार करने की प्रणाली को दर्शन कहते हैं। मानव-जाति की उन्नति के लिए उसकी दार्शनिक शक्ति का अतिशय महत्त्व रहा है। यों तो प्रत्येक मनुष्य का अपना निजी दर्शन हो सकता है और प्रतिदिन के अनुभवों के आधार पर उसमें परिवर्तन सम्भव है, किन्तु महान् विद्वानों के द्वारा दर्शन की जो सुव्यवस्थित प्रणालियाँ निर्मित हुईं, वे प्रायः अपने मौलिक और विकसित रूप में सहस्रों वर्षों से प्रचलित रही हैं। दर्शन, विशेषतः वेदान्त के अनुसार जीवन-विधान है, जिसे मनीषियों ने अपनाया है।

वैदिक साहित्य में भारतीय दर्शन का जो बीज अंकुरित हुआ, वही आगे चलकर दर्शन की बहुविध शाखाओं के रूप में विकसित हुआ। वैदिक दर्शन के प्रारम्भिक काल में ऋषियों ने अखिल विश्व को विभिन्न देवों के रूप में देखा। उन्होंने विश्व को पृथ्वी, वायु-लोक और स्वर्ग-लोक में विभक्त माना और इन तीनों लोकों के देवताओं में मानवीय रूप-रेखा तथा प्रवृतियों का आरोपण किया।

उसी प्राचीन युग में आत्मा की अमरता मान ली गई थी। लोगों का ऐसा विश्वास था कि अपने पाप और पुण्य-कर्मों का फल पाने के लिए मरने के पश्चात् मानव क्रमशः नरक और स्वर्ग में जाता है।

धीरे-धीरे अनेक देवताओं में एकता का दर्शन हुआ और प्रजापति अथवा ब्रह्मा सारी सृष्टि के रचयिता माने गये।[1] वैदिक काल में एकतत्त्व की कल्पना हुई। वही एकतत्त्व सृष्टि के पहले था। जिस समय कुछ भी नहीं था, उस समय वही एक था। उसी एकतत्त्व की तपःशक्ति से सृष्टि का समारम्भ हुआ। अखिल विश्व की रचना का कारण और उपादान वही एक हुआ।

उपनिषद्-काल में ब्रह्म की सत्ता-विषयक गम्भीर छान-बीन हुई। उस समय ब्रह्म की सर्वमयता तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), तत्त्वमसि (तुम भी वही हो) की सुदृढ नींव पड़ी। देवताओं की प्रतिष्ठा कुछ कम हो चली। उनको भी ब्रह्म का अंश उसी भाँति माना गया, जैसे मानवों को। उपनिषदों का ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द था। वह भौतिक, मानसिक और भावात्मक जगत् का प्रतीक हुआ।

१. योरप में आदम को स्रष्टा माना गया।

ब्रह्म से पंच महाभूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) का उद्भव हुआ है। इनमें से प्रत्येक में अपने-अपने निजी गुण और विविध रूपों के धारण करने की क्षमता है। यही विविधता सृष्टि में प्रत्यक्ष होती है। प्रलय के समय उसी ब्रह्म में सबका पुनः समावेश हो जाता है।

उपनिषद्-काल में दार्शनिक तत्त्वों की खोज के लिए तर्क के अतिरिक्त ध्यान, चिन्तन, योग, उपासना और समाधि को महत्त्वपूर्ण साधन माना गया। श्रद्धा और विश्वास मानव की कल्पना-परिधि को विस्तृत करने में सहायक हुए। ऐसी परिस्थिति में सत्य का निदर्शन विविध रूपों में किया जा सका।

ब्रह्म का जो स्थान ऊपर निरूपित किया गया है, कालान्तर में वही स्थान शिव और विष्णु को भी दिया गया। श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव को और श्रीमद्भगवद्गीता में विष्णु (कृष्ण) को सर्वोच्च देवाधिदेव मानकर उनकी भक्ति को मुक्ति का प्रधान सोपान बताया गया।

स्वभाववाद

स्वभाववाद में स्वभाव (प्रकृति) को सर्वेसर्वा मानकर स्वाभाविक प्रजनन की गति से सारी सृष्टि के विस्तार की व्याख्या की गई है। इसमें ब्रह्म अथवा अन्य देवताओं का मानव-संसार से कोई सम्बन्ध नहीं माना गया। प्रत्यक्ष की सत्ता विश्वसनीय है ही, पर जो कुछ दृष्टिगोचर नहीं, वह न तो कोई कारण हो सकता है और न गौण रूप से भी उसका कोई हाथ विश्व की किसी वस्तु में हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में मोक्ष, पुनर्जन्म और कर्मफल आदि की भी प्रतिष्ठा स्वभाववाद में नहीं हो सकी। इस दर्शन के अनुसार जीवन में शारीरिक सुखों की यथासाध्य प्राप्ति को सर्वोच्च लक्ष्य ठहराया गया है।

स्वभाववाद के विचारक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानते हैं। उनके महाभूत केवल चार ही हैं---पृथिवी, वायु, अग्नि और जल। इन्हीं के सम्मिश्रण से सारा जगत् बना है। जीवित शरीर में इन्हीं चारों की सन्तुलन-शक्ति से कार्य होते हैं।

भारत में चार्वाक स्वभाववाद के प्रमुख आचार्य गिने जाते हैं। सदा ही उनके वाद को व्यवहार-रूप में सफलता मिली है, पर इस वाद को विद्वानों के बीच सुप्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हुई।[1]

---

१. सर्वदर्शन-संग्रह के अनुसार---दुरुच्छेदं हि चार्वाकस्य चेष्टितम्। प्रायेण सर्वप्राणिनः तावत्

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

जैन-दर्शन

जैन-दर्शन के २४ तीर्थङ्करों या आचार्यों का उल्लेख मिलता है। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर (५४० ई० पू० ४६८ ई० पू०) ने इस दर्शन को सुव्यवस्थित रूप दिया और अपने अथक परिश्रम से इसके अनुयायियों की संख्या बढ़ा दी।

इस दर्शन के अनुसार तत्वों की संख्या सात है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव या आत्मा के स्वाभाविक गुण सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र हैं, पर जीव पर कर्मों का संस्कार पड़ने से वह पूर्ण रूप से अपने शुद्ध रूप में नहीं रह जाता। शुद्ध जीव मुक्त है। जीव अनादि और अनन्त है। मुक्त हो जाने पर वह अकेले ही नित्य परम सुख और शान्ति में पड़ा रहता है।

अजीव के पाँच भेद—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं। पुद्गल में रूप, रस, गन्ध और वर्ण पाए जाते हैं। पुद्गल से पृथ्वी, जल, वायु आदि की रचना होती है। धर्म से जीव और पुद्गल को गति मिलती है तथा अधर्म से उनकी गति रुक जाती है। आकाश में सब पदार्थों को अवकाश मिलता है। काल के अनुसार सभी पुद्गलों में परिवर्तन होता है।

आस्रव के द्वारा कर्म के परमाणु जीव को प्रभावित करते हैं। आस्रव का ठीक उलटा संवर है, जिससे कर्म जीव को प्रभावित नहीं कर पाते। कर्म से जीव का बँध जाना बन्धन है। निर्जरा के द्वारा कर्म के प्रभाव से जीव को छुटकारा मिलता है। कर्मों के सर्वथा नष्ट हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। जब तक मोक्ष नहीं मिलता जीव का विभिन्न कोटियों में पुनर्जन्म होता रहता है।

उपर्युक्त दिशा में मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिए ज्ञान की अतिशय उपयोगिता है। सबसे उत्कृष्ट 'केवल' ज्ञान है। यह शुद्ध आत्मा का स्वभाव है। इसके द्वारा एक समय में एक स्थान पर, प्रत्यक्ष रूप से तीनों काल और सभी लोकों का सारा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। 'केवल' ज्ञान सर्वज्ञता है।

'केवल' ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष—इन दो प्रमाणों की आवश्यकता होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—पारमार्थिक और सांव्यवहारिक। पारमार्थिक ज्ञान आत्मा का विषय है। इसके लिए इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित नहीं है। सांव्यवहारिक ज्ञान के लिए इन्द्रियों की सहायता ली जाती है। परोक्ष ज्ञान के लिए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान (पहचान), तर्क, अनुमान और आगम (आप्तवचन) साधन हैं।

जैन-दर्शन में स्याद्वाद अनूठी वस्तु है। इसके द्वारा किसी पदार्थ का सर्वाङ्गीण और सापेक्ष ज्ञान सम्भव हो सकता है। ज्ञान प्राप्त करने के सात दृष्टिकोणों को स्याद्वाद कहते हैं। इसको सप्तभंगी न्याय भी कहते हैं। यदि कोई वस्तु अपने आप में वर्त्तमान है, तो कहा जा सकता है कि वह 'स्यात् अस्ति', पर यदि वही वस्तु किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा से देखने पर नहीं है, तो उस वस्तु के विषय में कहा जा सकता है—स्यात् नास्ति। यदि उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से साथ ही उस वस्तु की परीक्षा की जाय, तो वह 'स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति' है। उदाहरण के लिए कोई घड़ा सामने वर्त्तमान है तो वह पहले दृष्टिकोण से स्यात् अस्ति। वही घड़ा किसी अन्य वस्तु के उपापान, समय और स्थान से रहित है। धातु का बना हुआ, किसी अन्य स्थान पर, अन्य समय में अथवा अन्य आकार-प्रकार का वह घड़ा नहीं है। इस दृष्टि से वह 'स्यात् नास्ति' है। कोई घड़ा क्या है और क्या नहीं है—ये दोनों बातें साथ ही बताते समय तीसरे दृष्टिकोण 'स्यात् अस्ति नास्ति' का उपयोग होता है। यदि घड़े के सम्बन्ध में कुछ भी न कहा जा सके तो उस दृष्टिकोण को 'स्यात् अवक्तव्य' कहेंगे। पहले के तीन दृष्टिकोण के साथ चौथे दृष्टिकोण को संयोजित कर देने पर क्रमशः अन्तिम तीन दृष्टिकोणों 'स्यात् अस्ति अवक्तव्य', 'स्यात् नास्ति अवक्तव्य' और 'स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य' बन जाते हैं।

बौद्ध-दर्शन

बौद्ध-दर्शन के प्रमुख प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध का जन्म ५६७ ई० पू० में आधुनिक नेपाल के समीप कपिलवस्तु नगरी में शाक्य-राजवंश में हुआ था। मानव-जीवन की दुखःमयी घटनाओं को प्रत्यक्ष देखकर उन्होंने उस चिरन्तन सत्य की खोज आरम्भ की, जिससे मानवता के दुःख का अन्त हो जाय। गया में वट-वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए उन्हें बोधि प्राप्त हुई, जिससे उन्हें उस सत्पथ का ज्ञान हो गया, जो दुःख का अन्त कर सकता है। उनको इस सम्बन्ध में चार आर्य सत्यों का ज्ञान हुआ—जीवन दुःख है, दुःख का कारण अविद्या है, दुःख से छुटकारा मिल सकता है और वह छुटकारा अष्टाङ्गिक मार्ग पर चलने से मिल सकता है।

गौतम बुद्ध को संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख दिखाई दिया। उनको केवल निर्वाण सुखावह प्रतीत हुआ। ऐसी परिस्थिति में बौद्ध-दर्शन के अनुसार वह मनुष्य निरा मूढ है, जो नश्वरता और मृत्यु के पाश में फँसा हुआ सांसारिक भोग-विलास के चक्कर में पड़ा है। मृत्यु की छाया कब और कहाँ पीछा छोड़ती है? गौतम ने प्रत्येक वस्तु को क्षणिक देखा। सुख, यदि परिश्रम के पश्चात् मिला तो केवल क्षणमात्र के लिए। युवावस्था आई तो उसे ठहरने के लिए क्षण-मात्र समय मिला। फिर सुख

के पश्चात् दुःख का आना तो और भी उत्पीडक होता है। युवावस्था के भोग-विलासों के पश्चात् वृद्धावस्था की क्षीणता की अवश्यम्भावी कल्पना किसे शान्त रहने देगी ? गौतम ने समझाया कि ऐसा जीवन अभीष्ट नहीं। इससे छुटकारा पाने का उपाय है—निर्वाण। बुद्ध ने जीवन की भयङ्करता का चित्र सफलता से खींचा, पर साथ ही निर्वाण की जो सुखद कल्पना उन्होंने प्रस्तुत की वह मनोहारिणी है।

दुःख की उत्पत्ति के विषय में गौतम ने बताया कि तृष्णा ही दुःख उत्पन्न करती है। तृष्णा की उत्पत्ति अज्ञानवश होती है। ज्ञान-रूपी सूर्य के समक्ष तृष्णा की रात्रि नहीं ठहर सकती।

आत्मा के विषय में बुद्ध कुछ कहना नहीं चाहते थे। फिर भी उन्होंने यह तो बताया ही है कि आत्मा क्या नहीं है। बौद्ध-दर्शन अनात्मवादी नहीं है। निर्वाण की अवस्था आत्मा ही की तो होती है।

निर्वाण का मौलिक अर्थ है बुझ जाना। बौद्ध-दर्शन के अनुसार तृष्णा, घृणा और अज्ञान आदि का मिट जाना निर्वाण है। इसी परिभाषा को दृष्टि-पथ में रखते हुए कहा जाता है कि ३५ वर्ष की अवस्था में बुद्ध को निर्वाण की प्राप्ति हो गई थी। ऐसी निर्वाण की अवस्था वैदिक दर्शनों के अनुसार जीवन्मुक्ति है।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। इस दर्शन में ईश्वर की कहीं आवश्यकता नहीं पड़ती। कोई व्यक्ति अपने किए कर्मों का फल इस जन्म में और पुनर्जन्म में भोगता है। ऐसी परिस्थिति में ईश्वर का क्या महत्त्व है ?

बौद्ध-दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ ही अनुमान-प्रमाण की प्रतिष्ठा हुई है। शब्द-प्रमाण को इस दर्शन में खोखला बताया गया है। वेद-वाक्यों की तो कहीं पूछ ही नहीं है। बुद्ध ने स्वयं कहा है कि मेरी बातों को यदि तर्क की कसौटी पर कस-कर प्रमाणित मानो, तभी उसे स्वीकार करो, अन्यथा नहीं।

न्याय-वैशेषिक

न्याय-दर्शन का सर्वप्रथम ग्रन्थ गौतम का न्याय-सूत्र है। इसकी रचना संभवतः ई० पू० तीसरी शती में हुई थी। वैशेषिक दर्शन, जो बहुत कुछ न्याय से मिलता-जुलता है, सर्वप्रथम कणाद के वैशेषिक सूत्रों में प्रतिष्ठित हुआ था। बारहवीं शती में मिथिला के दार्शनिक गंगेश ने न्याय-दर्शन की प्रगति नव्य न्याय नामक नई दिशा में की।

न्याय-दर्शन मानव को मुक्ति का मार्ग प्रस्तुत करता है। गौतम ने प्रथम सूत्र में लिखा है कि प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान का ज्ञान होने से मुक्ति मिल सकती है।

प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु के वास्तविक रूप का ज्ञान होता है। न्याय के प्रमाण चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है। अनुमान में इन्द्रियों की सहायता के अतिरिक्त कार्य-कारण आदि सम्बन्धों के पर्यालोचन की आवश्यकता पड़ती है। समानता या सादृश्य के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह उपमान कोटि में आता है। आप्त (विश्वसनीय) लोगों की बातों से जो ज्ञान होता है, वह शब्द-प्रमाण है।

उष्ण जल को हाथ से छूकर उसकी उष्णता को जान लेना प्रत्यक्ष है। कोई पुस्तक देखकर यह जान लेना कि उसका कोई लेखक अवश्य होगा, अनुमान-प्रमाण से संभव होता है। अपनी घड़ी के समान कोई वस्तु देखकर उसको घड़ी जान लेना उपमान-प्रमाण है। किसी वृद्ध पुरुष के बताए हुए मार्ग को ठीक मान लेना शब्द-प्रमाण है। देखने में तो ये प्रमाण बहुत सरल प्रतीत होते हैं, पर इनकी सहायता से परमात्मा से लेकर विश्व की सभी छोटी-मोटी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेना नैयायिकों के लिए संभव हुआ है।

प्रमेय बारह हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, पुनर्जन्म, फल, दुःख और मोक्ष। इस दर्शन में आत्मा का अस्तित्व माना गया है। आत्मा परमात्मा की कोटि का ही है।

संशय वस्तुओं या सिद्धान्तों के विषय में उत्पन्न हुआ सन्देह है। प्रयोजन मन, वचन या शरीर के विषय में होता है। दृष्टान्त समानता या विषमता का उदाहरण है। सिद्धान्त प्रमाणभूत बातों को कहते हैं। अवयव वाक्य का अंश होता है। तर्क के द्वारा सन्देह मिटाकर ज्ञान-प्राप्त किया जाता है। निर्णय तर्क के पश्चात् फल-रूप में प्राप्त होता है। वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान तर्क की पद्धति में उपस्थित होने वाली बाधाएं हैं।

वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान केवल दो ही प्रमाण माने गए हैं। इन प्रमाणों के द्वारा नैयायिक-पद्धति पर सात पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

सांख्य-योग

सांख्य और योग-दर्शनों के आदि-प्रवर्तक क्रमशः कपिल और पतंजलि माने जाते हैं। इन दोनों में प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी तत्त्वान्वेषण तथा जीवन की मौलिक समस्याओं को सुलझाने के लिए समान पद्धति को स्वीकार किया गया है। सांख्य दर्शन प्रधानतः ज्ञान-मार्ग से मानव के व्यक्तित्व के चरम विकास की योजना प्रस्तुत करता है। योग-दर्शन जीवन की पवित्रता और चिन्तन, मनन और निदिध्यासन के द्वारा उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति करता है।

सांख्य दर्शन में चराचर विश्व की उत्पत्ति का मौलिक कारण प्रकृति को बताया गया है। प्रकृति एक है, वह त्रिगुणात्मिका है। प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् स्वभावतः एक दूसरे से सम्बन्द्ध हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। सत्त्व, रजस् और तमस् क्रमशः ज्ञान, कर्म और मन्दता के कारण बनते हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का विकास होकर सृष्टि की रचना होती है।

प्रकृति का इस विविध रूप में विकसित होना परिणामवाद है। जबतक प्रकृति के गुण साम्यावस्था में पड़े रहते हैं, वे एक दूसरे के प्रभाव का प्रतिरोध करते हुए किसी प्रकार की गति नहीं होने देते। सन्तुलन की यह परिस्थिति विकास के पहले होती है; पर ज्योंही गुणों की मात्रा में किसी प्रकार असमानता आई कि उपर्युक्त विधि से विकास का आरम्भ होता है। यही सृष्टि का आरम्भ है। प्रलय के समय प्रकृति अपनी साम्यावस्था में पुनः आ जाती है। प्रकृति के सभी विकसित रूप प्रकृति ही के द्वारा समेट लिए जाते हैं। प्रकृति की यह प्रक्रिया नीचे लिखे क्रम से होती है :—

प्रकृति (प्रधान, अव्यक्त)
|
महत् (बुद्धि)
|
अहंकार (भूतादि)
|
मन | पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ | पाँच कर्मेन्द्रियाँ | पाँच तन्मात्राएँ
पाँच तन्मात्राएँ → पाँच भूत

प्रकृति के अतिरिक्त सांख्य के अनुसार पुरुष की सत्ता है। पुरुष त्रिगुणातीत, निर्विकार, शुद्ध, उदासीन, चैतन्य और विवेकी है। न तो वह कारण है और न कार्य ही। वह कोई क्रिया नहीं करता, अपितु सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। प्रत्येक प्राणी का अलग-अलग पुरुष होता है।

ऐसी परिस्थिति में पुरुष और प्रकृति का गठबन्धन एकमात्र प्रकृति की ओर से संभव होता है। पुरुष को प्रकृति के पाश से मुक्त करने की माया भी प्रकृति की ही रची हुई है। वास्तव में पुरुष सदैव निष्क्रिय है। वह न तो बन्धन में पड़ता है और न मुक्त ही होता है। बन्धन और मोक्ष की धारणा पूर्णतः बनावटी और मिथ्या है।

सांख्य और योग-दर्शनों में उपमान-प्रमाण की प्रतिष्ठा नहीं की गई है। केवल प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-प्रमाण के द्वारा ही सभी प्रकार के सत्य और उनके विविध पक्षों का रहस्योद्घाटन संभव माना गया है। सांख्य और योग के अनुमान में 'सामान्यतो दृष्ट' पद्धति का अतिशय महत्त्व है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष और लौकिक सादृश्य को दृष्टिपथ में रखते हुए अप्रत्यक्ष और अलौकिक सत्य का उद्घाटन संभव होता है। हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कर्ता होता है, अतः सृष्टि का भी कोई कर्ता होगा ही।

योग-दर्शन के अनुसार योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है। इस निरोध के लिए योग के आठ अंग माने गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम, है अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम के द्वारा शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर –प्रणिधान (भक्ति) होते हैं। यम और नियम के द्वारा चरित्र का निर्माण होता है। जबतक किसी मनुष्य का चरित्र अच्छा नहीं हो जाता, वह न तो सत्य की खोज करने में सफल हो सकता है और न मुक्ति पा सकता है। इन्हीं दोनों के पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाने पर मानव-व्यक्तित्व का विकास हो जाता है।

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के द्वारा शरीर पर पूरा अधिकार संभव होता है। चित्त की प्रवृत्तियों पर तभी रोक लग सकती है, जब पहले शरीर पर वश हो जाय। चित्त प्रधानतः शरीर की आवश्यकताओं के लिए भ्रान्त होता है। आसन के द्वारा शरीर को बैठने की शिक्षा दी जाती है। प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास की गति पर अधिकार प्राप्त होता है। इससे चित्त की स्थिरता संभव होती है। प्रत्याहार इन्द्रियों को उनके विषय से पराङ्मुख करने की प्रक्रिया है। इन्द्रियाँ प्रत्याहार के द्वारा अपने स्वाभाविक कर्मों से विरत हो जाती हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा चंचल चित्त पर शनैःशनैः अधिकार प्राप्त हो जाता है। धारणा के द्वारा चित्त को एकाग्र स्थित करते हैं। धारणा चित्त की स्थिरता है। ध्यान धारणा की ही विकसित अवस्था है। ध्यान में चित्त किसी एक विषय के चिन्तन में लीन रहता है। ध्यान की विकसित अवस्था समाधि है। समाधि ही योग है। इस अवस्था में सांसारिक बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ऐसी स्थिति जीवन के चरम विकास का द्योतक है। समाधि के दो क्रम हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में योगी को ज्ञात रहता है कि मैंने वह ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो मुक्ति के लिए अवश्यक है। इस अवस्था में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता (मैं हूँ) का सहारा लेकर समाधि होती है। असम्प्रज्ञान समाधि में चित्तवृत्ति का सर्वथा लोप जाता है। अपने व्यक्तित्व और

अस्मिता का ज्ञान नहीं रह जाता। असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहते हैं। आधिभौतिक क्षेत्र में योग की सिद्धियों के चमत्कार सदैव सुप्रसिद्ध रहे हैं।

योग की मुक्ति कैवल्य कही जाती है। मुक्ति हो जाने पर पुरुष प्रकृति की माया से सदा के लिए मुक्त होता है। इस स्थिति में सांसारिक सम्बन्धों का होना असंभव है। मानव-शरीर पाने के लिए अविद्या का होना आवश्यक है। शरीर के साथ ही चित्त होता है। चित्त और शरीर पुरुष को सांसारिक भोग-विलासों में स्वभावतः डाल ही देते हैं।

पूर्व-मीमांसा

मीमांसा-दर्शन का सर्वप्रथम परिचय ब्राह्मण-साहित्य में मिलता है। वैदिक काल में यज्ञ-सम्बन्धी प्रक्रियाओं के रूप नियत करने में जो तर्क-वितर्क उपस्थित किये गये, उन्हीं से इस दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। ईसा से लगभग ३०० वर्ष पहले जैमिनि के द्वारा रचे हुए सूत्रों में मीमांस-दर्शन को सुव्यवस्थित रूप दिया गया। संभवतः सातवीं शती में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर ने जैमिनि के सूत्रों की विशद व्याख्या लिखी।

मीमांसा-दर्शन के अनुसार पदार्थ पाँच हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव।

प्रारम्भ में जैमिनि ने तीन प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रतिष्ठित किये। प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति––दो और प्रमाणों का समावेश किया। कुमारिल ने अनुपलब्धि नामक प्रमाण जोड़ा। इस प्रकार प्रमाणों की सब संख्या इस दर्शन में छः हो गई। मीमांसा-दर्शन के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द बहुत कुछ न्याय-दर्शन के प्रमाणों से मिलता-जुलते हैं। अर्थापत्ति-प्रमाण के द्वारा ऐसे सत्य की प्रतीति की जाती है, जो प्रत्यक्ष तो नहीं होता, पर उसके सत्य होने में किसी प्रकार का सन्देह हो ही नहीं सकता। यदि किसी परीक्षार्थी का नाम सफल-विद्यार्थियों की सूची में नहीं है, तो उसकी असफलता के ज्ञान के लिए मीमांसक लोगों की अर्थापत्ति प्रमाण की आवश्यकता पड़ जायेगी। इस प्रमाण के द्वरा मीमांसा में मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की गई है। वेदों के अनुसार याज्ञिक कर्मों का फल भावी जीवन में मिलता है। फल पाने वाला तो यज्ञकर्त्ता ही होगा, अतः भावी जीवन में वही यज्ञकर्त्ता फल पाता है। इस प्रकार शरीर छूटने के पश्चात् जो दूसरे शरीर में वर्त्तमान है, वह आत्मा है। अनुपलब्धि-प्रमाण के द्वारा अभाव का ज्ञान होता है। यदि कभी रात्रि का अन्धकार हो, तो सूर्य का अभाव जानने के लिए मीमांसा-दर्शन का अनुपलब्धि-प्रमाण उपयोगी होगा।

मीमांसा-दर्शन में प्रारम्भ में ईश्वर की प्रतिष्ठा नहीं हुई। कुमारिल ने प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि ईश्वर नहीं है। भला ऐसा विपत्तिमय संसार किसी ईश्वर नामधारी सत्ता की रचना हो सकता है! यदि ईश्वर ने संसार को बनाया, तो ईश्वर को किसने बनाया? कुमारिल के तर्कों से ईश्वर का न होना तो कुछ समय के लिए मीमांसा-दर्शन में मान लिया गया, पर ईश्वर के बिना इस दर्शन का काम न चला। अन्त में ईश्वर की सत्ता मानी गई और उसके लिए भी यज्ञों का विधान बना।

ईश्वर की भाँति प्रारम्भ में मीमांसा-दर्शन में मोक्ष की कल्पना भी नहीं की गई थी। पहले तो यज्ञों और पुण्य कर्मों के द्वारा स्वर्ग पा लेना मानव-जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य बताया गया। आगे चल कर मुक्ति की प्राप्ति के लिए कर्मों से विरत होना आवश्यक बताया गया। जब तक कर्म किये जायेंगे, उनके अच्छे या बुरे फलों को भोगने के लिए स्वर्ग या नरक आदि में जाना होगा। इस दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा अपने प्राकृतिक रूप में पड़ा रहती है।

वेदान्त

वैदिक साहित्य की सारी दार्शनिक शिक्षाओं को वेदान्त नाम दिया गया है। तत्कालीन दार्शनिक ज्ञान का श्रेष्ठ भांडार प्रायः उपनिषदों में मिलता है। वेदान्त प्रधानतः उपनिषदों का निचोड़ है। महर्षि बादरायण ने ई० पू० तीसरी या चौथी शती में 'वेदान्त-सूत्र' नामक ग्रन्थ में इस दर्शन की व्यवस्थित रूप-रेखा प्रस्तुत की। आगे चलकर वेदान्त-दर्शन की तीन शाखाएँ विकसित हुईं—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत। इनके प्रवर्तकों में क्रमशः शंकराचार्य, रामानुज और मध्व प्रमुख हैं।

शंकर के अद्वैत के अनुसार एकमात्र ब्रह्म की सत्ता है। वही ब्रह्म जगत् और जीव दोनों रूपों में दिखाई देता है। दार्शनिक दृष्टि से जगत् ब्रह्म है। जिस प्रकार रात्रि के समय रस्सी को देखकर साँप की भ्रान्ति होती है, उसी भाँति तात्त्विक दृष्टि न रखने वाले को जगत् की भ्रान्ति होती है। यह जगत् नहीं, वास्तव में ब्रह्म है। जीव को तात्त्विक दृष्टि से रहित व्यक्ति नहीं पहचान पाता कि यह ब्रह्म है। काला चश्मा लगाकर कोई मनुष्य दिन को भी रात समझ लेता है, क्योंकि प्रकाश और दृष्टि के बीच में चश्मा आ गया है। यही चश्मा उपधि है। जीव की उपधि अन्तः-करण (मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त) है। इस उपधि के कारण ब्रह्म जीव के रूप में दिखाई देता है।

वेदान्त-दर्शन में माया का वही स्थान है, जो सांख्या में प्रकृति का है। माया (अविद्या) जगत् का कारण है। वह ब्रह्म से भिन्न है। ब्रह्म सत् है और माया न तो सत् ही है और न असत् ही। माया के साथ ही ब्रह्म भी जगत् का कारण है।

माया और ब्रह्म के मेल से जब जगत् की सृष्टि होती है तब ब्रह्म की सगुण सत्ता होती है। ब्रह्म को सगुण सत्ता की अवस्था में ईश्वर कहते हैं।

ब्रह्म, ईश्वर तथा माया आदि अपनी कोटि की विशिष्ट सत्ताएँ हैं। जीव इन्हीं तीनों का अंश है। वह ब्रह्म है, ईश्वर है और माया भी है; अन्तर केवल वही है, जो समुद्र की एक बूँद और समुद्र के सारे जल में होता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार मानव-जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य जीव और ब्रह्म की वास्तविक एकता का ज्ञान प्राप्त कर लेना है। इस ज्ञान का सबसे अधिक महत्त्व मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिए है। ज्यों ही मानव को यह प्रतीति हो जाती है कि वह ब्रह्म है, उसकी लौकिक विचार-धारा भी असीम होकर अस्मिता और संकीर्णता के गर्त को छोड़ कर विपुलता की ओर चल पड़ती है। मानव अपने ही में सीमित रहकर तुच्छ है, पर अपनी ब्रह्मवत् सत्ता को पहचान कर वह महान् है।

विशिष्टाद्वैत में वैष्णव-दर्शन का उपर्युक्त वेदान्त के साथ सामंजस्य किया गया। रामानुज ने ११०० ई० के लगभग विशिष्टाद्वैत-दर्शन को सुव्यवस्थित रूप दिया। रामानुज ने ब्रह्म, जीव और जगत् तीनों को सत् माना है, पर इन तीनों को एक या एक कोटि का नहीं माना है। ये तीनों अलग-अलग हैं, पर हैं तीनों सम्बद्ध। यह सम्बन्ध विशेष्य-विशेषण का है। ब्रह्म विशेष्य है और जीव तथा प्रकृति उसके विशेषण हैं। ब्रह्म ऐसी परिस्थिति में अद्वैत तो अवश्य है, पर उसके दो विशेषण सदा उसके साथ रहते हैं, जो ब्रह्मकी भाँति ही सत् हैं।

रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुसार मानव-जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य नारायण-लोक की प्राप्ति है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रपत्ति और भक्ति दो मार्ग हैं। प्रपत्ति-मार्ग में ज्ञान प्रधान है। इसमें पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण अपेक्षित है। भक्ति-मार्ग की तीन शाखाएँ हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोग में भगवान् को समर्पण करके निष्काम कर्म करने की आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान-योग में आत्मा और परमात्मा का क्रमशः ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए ध्यान और समाधि का आश्रय लेना पड़ता है। भक्ति-योग में सदैव परमात्मा का ध्यान अपेक्षित है। भक्ति का आधार ज्ञान है और यह उपनिषदों की उपासना के समकक्ष है।

द्वैत-वेदान्त-दर्शन में भी नारायण या विष्णु की प्रतिष्ठा हुई है और उनको परमात्मा माना गया है। परमात्मा की शक्ति लक्ष्मी की भी इस दर्शन में कल्पना हुई

है। लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न, पर उसके अधीन है। वह परमात्मा ही के समान गुणों वाली है। परमात्मा के सभी गुण उसमें नहीं हैं। मध्व के अनुसार जीव और परमात्मा की एकता नहीं है। परमात्मा, जीव और जगत् सभी समान रूप से सत्य हैं तथा मुक्त होने पर भी जीव और परमात्मा की एकता नहीं सम्भव होती है। यही मध्व का द्वैत है। मध्व ने भी भक्ति के द्वारा ही जीव की मुक्ति बताई है।

वेदान्त विद्या के अनुरूप वह जीवन-दर्शन प्रकल्पित है, जिससे मानव को पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द और शान्ति के लिए परिग्रह नहीं चाहिए--यह वेदान्त का आदेश हैं। परमात्मा की दया से आपका सुख, और मनोरंजन हैं। ओ३म् ब्रह्मनाद है, जिससे ब्राह्मिक आनन्द मिलता है।

———

पञ्चम अध्याय

धार्मिक प्रवृत्ति

धर्म ही मानव को इस योग्य बनाता है कि वह अपने अभ्युदय के साथ सारे विश्व के अभ्युदय में योग दे सके। विश्व के प्रायः सभी धर्मों के मूल में यही विचार-धारा प्रधान है। इसी एक विचार-धारा से मानव हृदय को प्रभावित करने के लिए धर्म के बहुविध प्रपञ्च सार्थक हैं। इन सभी के बीच एक सनातन धर्म की प्रतिष्ठा की गई है, जिसकी रूप-रेखा इस प्रकार है—

धर्मस्य तस्य लिङ्गानि दमः क्षान्तिरहिंस्रता,
तपोदानं च शीलं च योगो वैराग्यमेव च।
अहिंसा सत्यवादित्वमचौर्यं त्यक्तकामता,
निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः सनातनः॥

अर्थात् धर्म के लक्षण हैं—दम, क्षमा, अहिंसा, तप, दान, शील, योग, वैराग्य, सत्यवादिता, अस्तेय, निष्कामता, अपरिग्रह।[1] इनमें से एक-एक में स्वतन्त्र रूप से मानव की सुख और शान्ति प्रदान करने की शक्ति है।

जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में मानव किस प्रकार व्यवहार करे—वह शिशु, किशोर, युवा और वृद्ध होता हैं; पुत्र भाई, पति और पिता होता है; मित्र और शत्रु होता है; ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी होता है। इन सभी परिस्थितियों में अपने आधिभौतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए किस प्रकार व्यवहार करे—किस कर्म के द्वारा वह अपनी जीविका अर्जित करे और कैसे !आचरण को अपनाते हुए जीवन-पथ पर चले कि उसे मानसिक शान्ति की प्राप्ति हो—इन सबकी शिक्षा धर्म देता है। धर्म ही मानव का नाता संसार के सभी चराचर—दृश्य, अदृश्य और भावात्मक वस्तुओं से जोड़ता है।

धर्म केवल लौकिक ही नहीं, अपितु पारलौकिक कल्याण का एक मात्र साधन है।[2]

धर्म की व्यापकता

मनु ने धर्म के चार लक्षण नियत किये हैं—वेद, स्मृति तथा सदाचार से सम्मत और अपनी आत्मा का प्रिय धर्म होना चाहिए। इन लक्षणों के अनुसार धर्म

---

१. यह धर्म का आचार पक्ष है। धर्म का दूसरा पक्ष कर्मकांडीय है, जो न तो सनातन होता है और न सार्वत्रिक। यही कर्मकांडीय पक्ष युग-युग में परिवर्तित होता है। जैसे वैदिक काल के यज्ञ के स्थान पर पौराणिक युग में पूजा, तीर्थ-दर्शन, व्रतोपवास आदि का महत्त्व हुआ।

२. नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ मनुस्मृति ४.२३९

वेद और स्मृतियों के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। सज्जनों का आचार दूसरों के लिए धर्म है और जो वास्तव में आत्म-कल्याण करे, वह धर्म है ही।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि जीवन की प्रायः सभी प्रवृत्तियों पर धर्म की व्यापकता है। इसी व्यापकता को दृष्टि-पथ में रखते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने धर्म को 'कल्चर' (संस्कृति) का पर्यायवाची माना है। भारतीय धर्म की इस व्यापकता का आभास विदेशी लेखकों की रचनाओं में भी मिलता है।[1]

भारतीय धर्म की परिधि में शिशु के जन्म के समय से लेकर उसकी युवावस्था तथा वृद्धावस्था तक की सभी परिस्थितियों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का समावेश हो जाता है। मरने के पश्चात् किसी व्यक्ति की क्या गति होगी अथवा उसकी सुगति किस प्रकार हो सकती है—इन विषयों का भी धर्मशास्त्र में विवेचन मिलता है। भारतीय जीवन के विविध पक्षों में संस्कार, आश्रम, वर्ण-व्यवस्था, रहन-सहन, उद्योग-धन्धे, राजनीतिक जीवन, शिल्प आदि प्रमुख हैं। इन सभी के स्वरूप तथा औचित्य का निर्णय धर्मशास्त्रों में स्पष्ट रूप से किया गया है। भारतीय जीवन की तीन प्रवृत्तियाँ धर्म, अर्थ और काम हैं। इन तीनों में धर्म को प्रमुख मानकर उसके आधार पर अर्थ और काम की रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। महाभारत के अनुसार धर्म से अर्थ और काम की उत्पत्ति होती है। अतएव धर्म को अपनाना चाहिए। मनु ने कहा है कि उस अर्थ और काम को छोड़ दो, जो धर्मवर्जित है।

भारतीय धर्म समग्र जीवन के प्रत्येक क्षण की प्रवृत्तियों की उचित दिशा का निर्देशन करता है। चलते-फिरते, सोते-जागते, खाते-पीते, लड़ते-भिड़ते, मरते-जीते आदि सभी परिस्थितियों में धर्म का चश्मा लगाकर हम देख सकते हैं कि हमारे आचार-व्यवहार की पद्धति क्या होनी चाहिए। यही भारतीय धर्म की परिधि की व्यापकता है।[2]

---

१. Yet there is an aspect in which we can see a religion as a whole way of life of a people from birth to the grave, from morning to night and even in sleep, and that way of life is also its culture--T. S. Eliot. *Notes towards the Definition of Culture* p. 31.

२. उदाहरण के लिए देखिए महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १९३ के अनुसार तत्कालीन धार्मिक विधानों के अनुसार खाने के समय तथा विधि, मार्ग चलने की रीति, गुरुजनों के अभिवादन, स्वाध्याय आदि के नियम दिये हुए हैं। साथ ही पुरीष और मूत्र के उत्सर्जन सम्बन्धी नियमों का विधान है। महाभारत के अनुशासन पर्व १०४ अध्याय में ऐसे व्यापक नियमों का परिगणन है। मनुस्मृति में ऐसे नियमों के आकलन के लिए देखिए ४·९२–१६१

धर्म की इसी व्यापक परिधि को दृष्टिपथ में रखकर महाभारत में स्पष्ट कहा गया है—

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत ।
न धर्मः परिपाठेन शक्यो भारत वेवितुम् ।

(धर्म-पथ महान् है। इसकी शाखाएँ अगणित हैं। केवल पढ़ने-मात्र से धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता।)

धर्म परिवर्तन शील भी है, फिर भी वस्तुतः सनातन धर्म अटल है।[1]

धर्म ही क्यों ?

सम्भव है, धर्म से कुछ समय के लिए किसी पुरुष की कुछ हानि होती हो अथवा सम्भव है, अधर्म पथ पर चलते हुए अनायास ही अतिशय ऐश्वर्य की प्राप्ति हो। फिर क्योंकर धर्म-पथ पर ही चला जाय ? इस समस्या को लेकर भले ही आधुनिक परिस्थितियों में विवाद चले, पर इतना तो सभी मानेंगे ही कि धर्म की सनातन उदात्त प्रवृत्तियों की इहलौकिक उपयोगिता व्यक्ति और समाज दोनों के लिए है। प्राचीन काल के मानव की निश्चित धारणा थी कि मरने के पश्चात् केवल धर्म ही साथ जाता है। अतएव एकमात्र सहायक धर्म को अपनाना ही चाहिए।[2] प्राचीन साल के मानव के लिए इस लोक से परलोक का महत्त्व बढ़कर था।

लोकहित

भारत का प्राचीन धर्म व्यक्तिगत सुख और शान्ति के लिए ही नहीं था, अपितु उसके द्वारा समष्टिगत अभ्युदय की योजना का निर्माण हो सका था। धर्म सारे समाज को उन्नति के पथ पर अग्रसर कराने के लिए ही अपनाया गया था। चाहे कोई भी धर्म क्यों न रहा हो, तत्सम्बन्धी दर्शन के आधार पर उसका मूल सिद्धान्त रहा है--'यथैवात्मा परस्तद्वद्द्रष्टव्यः सुखमिच्छता' अर्थात् सुख पाने की इच्छा रखने वाला पुरुष दूसरे को अपने समान ही समझे। इस तत्त्वज्ञान के आधार पर ही 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' को धर्म का सर्वस्व माना गया

---

१. अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप ।
धर्मश्चाधर्मरूपोऽस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता ॥ शान्ति ३३-२२
धर्म और अधर्म दोनों के पिता ब्रह्म हैं ।

२. तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुगच्छति ।
तस्माद्धर्मः सहायश्च सेवितव्यः सदा नृभिः ।
प्राणी धर्म-समायुक्तो गच्छेत्स्वर्गगतिं पराम् ॥ अनुशासन पर्व १११.१४-१५

था। भारतीय समाज धर्म की इस पद्धति पर आचरण करते हुए सुदृढ़ और सुव्यवस्थित था।

इस देश में प्राचीन काल से ही जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से धर्म का महत्त्व सबसे बढ़कर समझा गया है। धर्म के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा अर्थ और काम की सिद्धि भी होती है। धर्म की इसी प्रवृत्ति को दृष्टि में रखते हुए कहा गया है––यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। धर्म इस जीवन में ही सहायक नहीं माना गया है, अपितु मरने के पश्चात् भी केवल धर्म ही साथ देनेवाला कहा गया है। यदि अर्थ और काम धर्म के विरुद्ध हों, तो वे परित्याज्य हैं।

आर्येतर धर्म का मूल

आज से लगभग ५००० वर्ष पहले सिन्धु-सभ्यता में जिस धर्म का उदय हुआ था, वह किसी न किसी रूप में आज भी भारतीय धर्म में निहित है। उस समय लोग मातृ-देवी की मूर्ति बनाकर उसे पूजते थे। शक्ति की पूजा, जो आगे चलकर प्रचलित हुई, मातृ-देवी की पूजा की ही विकसित परम्परा प्रतीत होती है। इसमें सृष्टिकारिणी शक्ति को माता माना गया है। शिव के पशुपति-रूप की कल्पना उस समय हो चुकी थी। उस समय की योग-मुद्रा में शिव पशुओं से घिरे हुए दिखाये गये हैं। उनके तीन मुख और दो सींग अङ्कित हैं। तत्कालीन शिवलिंग आजकल के शिवलिंगों के समान हैं। उस समय पत्थर, वृक्ष और पशुओं को दिव्य शक्तियों का प्रतीक मानकर पूजा जाता था। इसी के साथ ही नाग और यक्षों की कल्पना भी हुई।

उस समय के लोगों को शारीरिक स्वच्छता का विशेष ध्यान था। उनके नगरों में अनेक कुयें और स्नानागार सार्वजनिक उपयोग के लिए बने हुए थे। धार्मिक उत्सवों में नृत्य और संगीत का आयोजन होता था। तत्कालीन नागरिक सभ्यता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों में सत्य, सहानुभूति, सहिष्णुता आदि मानवता के सर्वोच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

सिन्धु-सभ्यता के युग में शव का अन्तिम संस्कार तीन विधियों से किया जाता था। कुछ लोग शव को सीधे गाड़ देते थे। दूसरे लोग शवों को पशु-पक्षियों का भोजन बनने देते थे और बचा-खुचा भाग गाड़ते थे। कुछ लोग ऐसे भी थे, जो शव को जलाकर उसकी राख गाड़ते थे।

वैदिक धर्म

वैदिक दर्शन के अनुसार प्रकृति की विभिन्न चमत्कारिणी सत्ताएँ देवता मान

ली गई थीं ।[1] लोगों ने इन सबमें लोकोपकार और अलौकिक शक्ति का दर्शन किया था । उनमें लोगों की श्रद्धा जागरित हो चली थी । उन्होंने मुक्त कण्ठ से अपने देवताओं की स्तुति की और उनको सन्तुष्ट करने के लिए विविध प्रकार के यज्ञों का विधान किया, जिनमें सामयज्ञ प्रधान था ।

देवताओं के चरित के आधार पर उस समय के महापुरुषों ने अपने जीवन में ऋत (सत्य), सहानुभूति, क्षमा, निर्भीकता, वीरता आदि गुणों को अपनाया ।

वैदिक काल के सर्वप्रथम धार्मिक देवता वरुण हैं । वरुण ऋत के संरक्षक हैं। धार्मिक भावनाओं का जागरण वरुण के अनुशासन से ही संभव माना गया हैं । लोग अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए वरुण की कृपा की याचना करते थे । इन्द्र वैदिक काल के लोग-संरक्षक देवता हैं । इन्होंने आर्य जाति से लिए अनेक पराक्रम किये। अग्नि-देवता मानवों के यज्ञों में समर्पित किए हुए अन्न देवताओं तक वहन करता है। देवताओं की तृप्ति के लिए अग्नि में हवि डाली जाती थी । उस समय ब्रह्मा, विष्णु और शिव को उतना महत्त्व नहीं दिया गया था, जितना आगे चलकर पौराणिक काल में।

वैदिक देववाद

ऋग्वेद में आकाश के देवता वरुण, द्यौः, मित्र, सूर्य, सविता, विष्णु, अश्विनौ और उषा हैं । वायु के देवता--इन्द्र, वायु, रुद्र तथा मरुत् हैं। पृथ्वी के देवता अग्नि, सोम, नदी, पृथ्वी, समुद्र आदि हैं ।

परवर्ती युग में प्रजापति स्रष्टा (सृष्टि करने वाले) के लिए प्रयुक्त होने लगा । इसी प्रकार के अन्य देवता विश्वकर्मा हैं । हिरण्यगर्भ सभी प्राणियों के स्वामी के रूप में प्रतिष्ठित हैं । बृहस्पति भी हिरण्यगर्भ की कोटि में आरम्भ में प्रतिष्ठित हुए थे ।

ऋग्वेद में कुछ भावात्मक देवताओं की प्रतिष्ठा मिलती है। ऐसे देवता मन्यु (क्रोध), श्रद्धा, अनुमति (देवताओं का अनुग्रह), अरमति (भक्ति), सुनृता, असुनीति (आत्मिक जीवन), निर्ऋति (रोग) आदि हैं । आदित्यों की माता अदिति बन्धनों से छुटकारा देने वाली देवी है। अदिति के अतिशय व्यापक स्वरूप की कल्पना की गई है। अदिति भूः, भुवः और स्वः तीनों है। वही माता-पिता और पुत्र है । सब देवता अदिति रूप हैं । जो कुछ उत्पन्न हुआ है और जो कुछ उत्पन्न होगा--वह सब अदिति है । इस दृष्टि से अदिति प्रकृति-स्वरूप है। वैदिक काल में देव-शक्ति की उपासना का प्रचलन था । ऐसी शक्ति की प्रार्थना करते हुए किसी ऋषि ने कहा है--हे वर देने वाली देवि, तुम आओ । तुम अक्षर हो, ब्रह्म के समकक्ष हो।

---

१. ईसाई धर्म के प्रचार के पहले आज से २००० वर्ष पूर्व ग्रीस में जो धर्म था, वह वैदिक धर्म से बहुत कुछ मिलता-जुलता था ।

वैदिक धारणा के अनुसार कुछ देवताओं की रूप-रेखा मानवों की आकृति से
मिलती-जुलती है। उनके हाथ, कान, नाक, आँख आदि की जो कल्पना की गई है, वह बहुधा
व्यंजनात्मक प्रतीत होती हैं। सूर्य की किरणें उसके हाथ हैं, अग्नि की लपट उसकी
जिह्वाएँ हैं। कुछ देवताओं की अनन्य विशेषताएँ हैं; जैसे इन्द्र का युद्ध-आदि।

मन्त्र में विश्वास

वैदिक आर्यों का मन्त्र-शक्ति में विशेष विश्वास था। वे प्रत्यक्ष देखते थे कि
मन्त्रों के द्वारा काष्ठ में अग्नि उत्पन्न कर दी जाती थी। इस शक्ति का प्रदर्शन आज
भी वैदिक मन्त्र-तत्त्ववेत्ता करते है। १९७४ ई० में पूना में के० वी० शिडोरे शास्त्री
ने तीन बार कतिपय मन्त्रों का पाठ करके अरणियों में अग्नि उत्पन्न कर दी थी।
अनेक वैज्ञानिकों ने अपने यन्त्रों और परीक्षणों से भी प्रमाणित किया कि अग्नि की
उत्पत्ति के लिए मन्त्र मात्र साधन विशिष्ट प्रयक्त किये गये हैं।

यज्ञ

मानवों का भोजन देवताओं का भी भोजन है। दूध-घी, अन्न, मांस आदि
देवताओं को यज्ञ के माध्यम से समर्पित किये जाते थे। सोम-यज्ञ में सोम नामक पेय
देवताओं के लिए होता था। देवताओं को अपनी ओर आकर्षित करके उनसे अभीष्ट
सहायता प्राप्त करने की विधि प्रारम्भ में सरल थी। प्रायः स्तुतियों के द्वारा देवताओं
को प्रसन्न कर लिया जाता था। छोटे-मोटे यज्ञों में सोम-पेय देवताओं को समर्पित
किया जाता था। आरम्भिक विन्यास में यज्ञ की प्रक्रिया सरल थी। इसमें अधिक
समय नहीं लगता था। सर्वसाधारण के लिए यज्ञ-विधान अभ्युदय का साधन हो सकता
था। शनैः-शनैः 'अधिकस्याधिकं फलम्' के सिद्धान्त के अनुसार धनिकों का यज्ञ जटिल
होता गया, जिसमें यजमान को बहुत अधिक व्यय करना आवश्यक था। हिंसात्मक
यज्ञ का प्रचलन राजवर्ग में विशेष रूप से बढ़ा।[1]

अग्नि के माध्यम से यज्ञ करने के लिए अग्न्याधान की प्रक्रिया के द्वारा समिधा
के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न की जाती थी और उसे वेदिका में प्रतिष्ठापित किया जाता
था। अग्नि में हवि डालकर उसे देवताओं के लिए भोग्य बनाया जाता था। सायं-
प्रातः होम नित्य यज्ञ के रूप में किये जाते थे। चातुर्मास्य यज्ञ ऋतुओं के प्रारम्भ में

१. वाग्मी बनने के लिए सरस्वती को भेड़ चढ़ाई जाती थी। तैत्तिरीय
संहिता २.१.१.१। वाजपेय यज्ञ के द्वारा ब्राह्मण उच्चकोटि के पांडित्य या अभ्यु-
दय की कामना करते थे। तत्कालीन धारणा के अनुसार बलिदान किए हुए पशु
मर कर स्वर्ग जा पहुंचते थे। तैत्तिरीय संहिता ३.३.१.२ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण
३.७.७ तथा वायुपुराण ५६:१३—१८

किये जात थे। पशु-यज्ञ और अश्वमेध में विभिन्न पशुओं को ही देवताओं के लिए भोजन बना दिया जाता था।[1] जल के देवताओं के लिए जल में तथा रुद्र के लिए वायु में उनकी भोग्य वस्तुओं को समर्पित किया जाता था। होता, पोता, नेष्टा, अग्नीध्र, प्रशस्ता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि पुरोहित यज्ञ की विविध प्रक्रियाओं के संयोजक होते थे।

वेदों को देवता मानकर उनके लिए भी यज्ञ सम्पादित किए जाते थे। ऋक्, साम तथा यजुर्वेद से क्रमशः हवि, वर्चस्विता और शक्ति की कामना की जाती थी। तत्कालीन धारणा के अनुसार यज्ञ से वीरता का प्रादुर्भाव हुआ है। वैदिक काल के प्रारम्भ से ही कुछ लोग ऐसे थे, जिन्होंने यज्ञ के विशुद्ध सात्त्विक स्वरूप को समझा था। उनकी दृष्टि में यज्ञ के साथ पशुबलि का सामञ्जस्य समीचीन नहीं है। एक ऋषि ने उपास्य देवों का सम्बोधन करते हुए कहा है—हे देवो, हम यज्ञ स्तम्भों को काम में नहीं लाते, न तो पशु-वध करते हैं। केवल मन्त्रपाठ द्वारा हम आपकी स्तुति करते हैं। यही विचार-धारा आगे चलकर प्रायः सभी उच्च दार्शनिकों ने अपनाई। महाभारत में स्पष्ट निर्णय मिलता है कि यज्ञ की सनातन विधि निर्मांस ही रही है।[2]

याज्ञिक विधानों का स्वरूप कहीं-कहीं मनोरंजन-पूर्ण भी मिलता है। सत्र-यज्ञ में प्रजापति को बुरा-भला कहा जाता है कि उसने क्यों मक्खियों और बर्रों को बनाया। कुछ याज्ञिक क्रियाएँ धर्मान्धता प्रकट करती है। अश्वमेध में आयोगव जाति का पुरुष किसी कुत्ते को मार ही डालता था। अश्वमेध के घोड़े को जब जलाशय में तैराया जाता था तो उस कुत्ते के शव को उसके नीचे रखा जाता था। अश्वमेध के अवसर पर गाली-गलौज भी धर्मान्धता का परिचय देती हैं। निःसन्देह ऐसी प्रक्रियाएँ यज्ञ-प्रथा के सनातन-प्रचलन में रुकावट होकर रहीं।

यज्ञ का विधान भारत के प्रायः सभी संस्कृति-सम्पन्न वर्गों ने अपनाया। महाभारत के अनुसार ऋषि, ब्राह्मण, देवता और असुर भी अग्नि में होम करते थे। वृत्र के यज्ञ-सम्पादन करने का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। यद्यपि काला-

---

१. याज्ञिक पशु घोड़े, बैल, वशा (बहिला गाय), भेड़ आदि थे। अग्नि के तत्कालीन पर्यायवाची शब्द उक्षान्न (बैलों को खाने वाला) तथा वशान्न आदि मिलते है। ऋग्वेद १०.९१ तथा ८.४३.११। भागवत ४.२८.२६ तथा ४.२५.७—८ में यज्ञ में पशु-बलि का सर्वथा निषेध मिलता है।

२. शान्तिपर्व ३३८ वें अध्याय के अनुसार ऋषि-वर्ग निर्मांस यज्ञ का विधायक था। शान्तिपर्व २७२ वें अध्याय के अनुसार यज्ञ या पूजन में पशु-हिंसा उचित नहीं है।

न्तर में यज्ञ-प्रथा का प्रचलन कुछ कम-सा हुआ, पर भारतीय इतिहास में समय-समय पर महान यज्ञों के आयोजन के अनेक उल्लेख मिलते हैं। ऐसे यज्ञों में राजाओं के लिए अतिप्रिय अश्वमेध प्रमुख है।[१]

मरणोत्तर विधान

वैदिक धारणा के अनुकार यम ही प्रथम मानव है, जो मरा था। उसने मरने के पश्चात् यमलोक की प्रतिष्ठा की। यही उसका साम्राज्य है। वैदिककालीन मरणोत्तर-विधान के अनुसार मरा हुआ व्यक्ति शरीर को छोड़कर यमलोक में जा पहुँचता हैं और वहाँ उसे पुनः यही शरीर प्राप्त हो जाता है। यही यमलोक स्वर्ग है। यमलोक में आत्मा देवयान से पहुँचती है। यमलोक में जाने के लिए विमान द्वारा अथवा पक्षों से यात्रा होती है। मार्ग में मरुत् मन्द पवन से पंखा करते हुए शीकर-क्षोद से शीतलता प्रदान करते हुए ले जाते है। वहीं पितरों से भेंट होती है। यमदूत के रूप में चार आँखों वाले दो कुत्ते हैं। वे यमलोक के पथ की सुरक्षा करने के लिए नियुक्त हैं। वे ही प्राण हरते हैं।

ऋग्वेद के अनुसार ज्योति, सोम, आनन्द, स्वधा, तृप्ति, मोद तथा कामनाओं की पूर्णता आदि स्वर्ग की विशेषताएँ हैं। स्वर्ग में पहुँचकर सोम, दूध, मधु, सुरा, घी आदि के साथ ही काम-वासना की पूर्ति के साधन भी पर्याप्त हैं। वहाँ सङ्गीत और वाद्य की प्रचुरता है, कामधेनु सभी इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रस्तुत रहती है। यदि किसी वस्तु का अभाव है तो वह है दुःख या चिन्ता।

परवर्ती वैदिक धारणा के अनुसार यमराज के समक्ष मृत पुरुष के सत्यासत्य का विवेचन और मानवलोक में उसके किए हुए कामों का परीक्षण होता है। स्वर्ग में पितर मानव-लोक में अपने दिए हुए दानों यथा इष्टापूर्तों और यज्ञों का फल पाते हैं और इसके साथ ही अपने वंशजों के द्वारा समर्पित वस्तुओं को प्राप्त करते हैं।

स्वर्ग के साथ ही नरक की कल्पना अवश्यम्भावी है। प्रारम्भिक वैदिक युग में नरक का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, पर देवताओं के द्वारा पापियों को दण्ड देने के स्थान का आकलन ऋग्वेद में है। उस प्रदेश में इन्द्र और सोम के द्वारा गिराए जाने पर पापी दुःख भोगते हैं। अथर्ववेद में स्वर्ग के सन्तुलन में नरक-लोक का स्पष्ट उल्लेख है, जहाँ हत्यारे जाते हैं।

---

१. महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में तथा रामायण के बालकाण्ड में अश्वमेध का वर्णन है। समुद्रगुप्त, पुलकेशी आदि ऐतिहासिक युग के अश्वमेध कराने वाले राजा हैं।

पापियों की मरणोत्तर दुर्गति का चित्रण वैदिक साहित्य में अनेकशः मिलता है। परलोक में मनुष्य टुकड़े-टुकड़े काटा जाता है, वह स्वयं भोजन बन जाता है। उस लोक का अध्यक्ष काला पुरुष होता है। उसके हाथ में दण्ड होता है। उसकी आँखें पीली होती हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मृत व्यक्ति के साधु और असाधु कर्मों का परलोक में सन्तुलन होता है। इनमें से जो अधिक होता है, उसी का वह अनुगमन करता है। तत्कालीन धारणा के अनुसार मानव स्वयं अपने अग्रिम जीवन के लिए उपयुक्त लोक का अधिकारी बनता है। ब्राह्मण-युग में तीन स्वर्ग और तीन नरकों की कल्पना हो चुकी थी।

वैदिक काल में शव को प्रायः जला दिया जाता था। उस समय शव को गाड़ देने की रीति भी थी। किसी व्यक्ति के मरने पर जिस प्रकार की प्रक्रियाएँ आज उसके शव को श्मशान तक ले जाने के पहले और पीछे प्रचलित हैं, प्रायः वैसी ही वैदिक काल में भी थीं। एक उल्लेखनीय विशेषता इस प्रकार थी––मृत व्यक्ति की पत्नी को उसकी चिता पर उसके साथ ही सुलाकर उसे वहाँ से हटाते हुए कहा जाता था––हे नारी, जीवलोक में आओ। जिसके साथ तुम सोई हो, वह निष्प्राण है। उस अवसर पर अग्नि से प्रार्थना की जाती थी––तुम मृत पुरुष को पितृलोक में पहुँचाओ।

उपनिषद्-धर्म

उपनिषदों में याज्ञिक धर्म का समर्थन नहीं मिलता। इनमें वेद और वेदाङ्गों को अपरा कोटि में रख कर परा कोटि की विद्या के द्वारा अक्षर (ब्रह्म) को जानने की योजना प्रस्तुत की गई है।[1] उस ब्रह्म को जानने के लिए ज्ञानमय तप को सर्वोच्च माध्यम माना गया। मरने के पश्चात् यज्ञों के द्वारा भले ही कोई व्यक्ति देवलोक पहुँच जाय, परन्तु एक समय आता है, जब उसे देवलोक से गिरना पड़ता है। इससे यज्ञ की हीनता प्रतीत होती है।

मरणोत्तर-विधान

उपनिषद्कालीन धारणा के अनुसार मरने के पश्चात् व्यक्ति की वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, नेत्र सूर्य में, मन चन्द्र में, श्रवण दिशाओं में तथा शरीर पृथ्वी में विलीन हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने कर्मों में वर्त्तमान होता है। उन्हीं कर्मों के अनुरूप वह पुण्यात्मा या पापात्मा होकर नया जन्म लेता है।

---

१. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते––मुण्डक उपनिषद् १. १. ५

मरने के पश्चात् लोग किन मार्गों से जाते हैं, वे कैसे फिर इस लोक में लौट आते हैं, अनेक बार इस लोक में मर कर कितने ऐसे लोग प्रतिष्ठित हैं, जो पुनः नहीं लौटते, देवयान और पितृयान का अधिकारी बनने के लिए क्या उपाय हैं-- इन प्रश्नों को लेकर दार्शनिक विद्वानों ने अपने समाधानों को प्रस्तुत किया है। तत्कालीन धारणा के अनुसार जो व्यक्ति पाँच अग्नियों को समझते हैं अथवा जो अरण्य में श्रद्धापूर्वक सत्य की उपासना करते हैं, वे अचि, अहन्, शुक्लपक्ष, षण्मास और वहाँ से देवलोक जा पहुँचते हैं। फिर देवलोक से सूर्यलोक, वहाँ से विद्युल्लोक और अन्त में ब्रह्मलोक में जा पहुँचते हैं। वहाँ से पुनः मर्त्यलोक में नहीं आना पड़ता। यज्ञ, दान और तप से जो लोक प्राप्य हैं, वहाँ पहुँचने के लिए क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के षण्मास, पितृलोक और चन्द्रलोक जाकर अन्न बनना पड़ता है। वह अन्न देवताओं का भोजन बन जाता है। उसे फिर क्रमशः आकाश, वायु, वृष्टि, पृथ्वी और अन्न बनना पड़ता है। अन्त में वे पुरुषाग्नि में होम होकर योषाग्नि में उत्पन्न होते हैं। जो व्यक्ति इन दोनों यानों को नहीं जानते, वे कीड़े, पतङ्ग और मच्छर आदि बन कर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार बृहदारण्यक में तीन मरणोत्तर-गतियों का उल्लेख मिलता है--ब्रह्मलोक, मर्त्यलोक में पुनर्जन्म में मानव होना और तिर्यक् योनि में उत्पन्न होना। मरने के पश्चात् इन तीनों गतियों की सम्प्राप्ति तक विविध लोकों में परिभ्रमण करना पड़ता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार एक शरीर छोड़कर किसी अभिनव शरीर को आत्मा वैसे ही धारण कर लेती है, जैसे सोनार सोने की नई मूर्ति बनाता है। वह शरीर पितृ, गन्धर्व, देव, प्रजापति या ब्रह्मकोटि का हो सकता है। मानव के पुनर्जन्म के लिए कर्म को कारण माना गया है। निष्काम व्यक्ति ब्रह्म को प्राप्त करता है। उसे अन्य शरीर नहीं लेना पड़ता। हृदय की इच्छाओं के छूटते ही मर्त्य अमृत हो जाता है और ब्रह्म का आनन्द प्राप्त करता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार मानव क्रतुमय (विचारशील) प्राणी है। इस लोक में जैसे उसके क्रतु होते हैं, वैसा ही वह मरने के पश्चात् होता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म का चिन्तन करने से ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है।

ईशोपनिषद् के अनुसार जो लोग आत्महन् (आत्मा को न जानने वाले) हैं, वे मरने के पश्चात् अन्धकारमय अदेवलोक में जा पहुँचते हैं। जो व्यक्ति अपनी आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है, वह एकत्वदर्शी है। उसे मोह और शोक नहीं होते। इस आत्मविद्या को न जानने वाले अन्धतमः में प्रवेश करते हैं। कठोपनिषद् में सम्भवतः इन्हीं अन्धकारविशिष्ट लोकों का विशेषण अनन्द है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार रमणीय आचरण वाले लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि ऊँची योनियों में तथा नीच आचरण वाले चाण्डाल, कुत्ते, शूकर आदि योनियों में पुनर्जन्म पाते हैं।

जीवन की सात्त्विकता

उपनिषदों में विशुद्ध जीवन की योजना बनाई गई। भोजन और पान के सम्बन्ध में धारणा थी कि शरीर के प्रधान तत्त्व--मन, प्राण और वाक् तीनों ही क्रमशः अन्न, जल और तेज से निर्मित होते हैं। इसके साथ ही कहा गया है कि आहार की शुद्धि होने पर सत्त्व की शुद्धि होती है, सत्त्व-शुद्धि से ध्रुव-स्मृति बनती है और स्मृति से सभी ग्रन्थियों से छुटकारा प्राप्त हो जाता है। अन्न को ज्येष्ठ माना गया और उसे ब्रह्म की उपाधि दी गई।

गृहस्थाश्रम की योजना समीचीन थी। नियम था कि विवाह कर लेने के पश्चात् किसी पवित्र देश में स्वाध्याय करते हुए और धार्मिक (सन्तान और विद्यार्थी) बनाते हुए सभी इन्द्रियों को आत्मोन्मुख करके किसी प्राणी की हिंसा न करते हुए मानव ब्रह्मलोक पाता है।

महाभारतीय धर्म

ब्रह्मज्ञान साधारण लोगों की बुद्धि से सदा ही परे रहा है। उपनिषद्-काल में जो साधारण जनता वैदिक कर्मकाण्डों से ऊब उठी थी, वह भक्तिमार्ग की ओर बढ़ी। वैदिक काल के रुद्र (पशुपति, महादेव, शिव आदि) और विष्णु (नारायण, वासुदेव, कृष्ण आदि) उनके प्रमुख उपास्य देव हुए।

उपनिषद्-काल के पश्चात् साधारण जनता का धर्म अधिक महत्त्वपूर्ण हो चला। सकुटुम्ब शिव तथा कृष्ण की भक्ति में मग्न जनता जल, वृक्ष, पौधों तथा पशुओं में भी शक्तिशाली और अलौकिक देव-कोटि की सत्ताओं का अस्तित्व मानकर उनकी पूजा करने लगी। गंगा और कल्पवृक्ष की महिमा तभी से बहुत बढ़ी। देवताओं की मूर्तियाँ बनाकर अपने अभीष्ट मनोरथ की सिद्धि के लिए उनकी पूजा करने का प्रचलन इसी युग से अधिक बढ़ा। कुछ देवताओं की सन्तुष्टि के लिए पशु-बलि का विधान था, पर धीरे-धीरे हिंसा के प्रति साधारण लोगों में घृणा का भाव जागरित हो रहा था। उसी युग में इस लोक और परलोक में पुनर्जन्मवाद और कर्म-फल की प्राप्ति के सिद्धान्त की विशेष रूप से चर्चा हुई। अनादि काल से अविरत गति से चलायमान सृष्टि में प्राणियों के कर्मों के अनुसार उनका सर्जन, संहार और पुनर्जन्म होते हैं। कर्म-फल की प्राप्ति के विषय में कहा गया गया है--जिस प्रकार कोई बछड़ा सहस्रों गायों में भी अपनी माँ को पहचान लेता हैं, उसी प्रकार पूर्व जन्म के कर्म भी अपने कर्त्ता को ढूंढ़ ही लेते हैं।

पूर्व जन्म के कर्मों के फल से मुक्ति पा लेना ईश्वर की कृपा से सम्भव होता है। इसके लिए ईश्वर की भक्ति होनी चाहिए। भागवत धर्म की स्थापना इसी

सिद्धान्त को लेकर हुई । इसका प्रवर्तन वसुदेव के पुत्र वासुदेव (कृष्ण) ने किया । 'गीता' इसका प्रमुख प्रारम्भिक ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में ज्ञान और वैराग्य के सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा तो की गई है, पर कर्म-योग को लौकिक अभ्युदय और मुक्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है । अन्त में भक्ति को मानव की परम शान्ति के लिए आवश्यक बताया गया है। भागवत धर्म में नवीनता तो अवश्य थी, पर प्राचीन वैदिक धर्म से उसका सामञ्जस्य कराने का सफल प्रयास तत्कालीन साहित्य में मिलता है ।

महाभारत में दुर्गा की पूजा का उल्लेख है । दुर्गा-पूजा आगे चल कर शक्तिपूजा के रूप में विकसित हुई । शक्ति के उपासक शाक्त कहलाये । गुप्त-काल में दुर्गा-पूजा का प्रचार विशेष रूप से बढ़ा । शैव और वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति शाक्तसम्प्रदाय भी लोकप्रिय हुआ । इस सम्प्रदाय में बीभत्स और भयंकर विधानों के द्वारा दुर्गा या चण्डिका देवी को सन्तुष्ट करने की विधि प्रचलित रही है। मानव का भी बलिदान करके देवी को प्रसन्न करने का आयोजन किया जाता था । कुछ सुसंस्कृत लोग दुर्गा की पूजा मानवोचित ढंग से भी करते थे और केवल पत्र, पुष्प, फल तथा मिठाइयों का नैवेद्य समर्पित करके दुर्गा को प्रसन्न करते थे ।

महाभारत में साधारण धर्म से भिन्न एक मोक्ष धर्म है । ऐसा व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम छोड़कर निराकांक्षी होकर मुक्त हो जाता है । यथा,

इमां धर्मं समास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

कर्म की दृष्टि से महाभारत मानव को उनका तत्काल फल पाने के लिए स्वतन्त्र नहीं समझता । कर्म और उसके फल का इस जीवन में कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है । निश्चेष्ट की लक्ष्मी और उद्योगी की दरिद्रता इसके प्रमाण हैं । मरणोत्तर-विधान के अनुसार मानव अपने शुभ कर्मों से देवता, अशुभ कर्मों से नारकीय जीव, शुभाशुभ से मानव और मोहनीय कर्मों से पशु-पक्षी बन जाता है । इन गतियों को प्राप्त करके वह पूर्व जन्म के कर्मों का अच्छा या बुरा फल पाता है । कर्म के फल से मुक्त होकर तप और योग का आरम्भ करने वाला व्यक्ति पुण्य लोकों को प्राप्त करता है। इन्द्रियाँ ही स्वर्ग और नरक हैं ।

कर्मफल

महाभारत के अनुसार पूर्व जन्म के कर्म बीज के समान हैं। वे मरणोत्तर-जीवन में अनायास ही फल नहीं देते, अपितु जिस प्रकार बीजों से फल पाने के लिए उन्हें क्षेत्र में बोना आवश्यक है, उसी प्रकार पूर्व जन्म के कर्मों से फल पाने के लिए इस जीवन में पुरुषार्थ करना अपेक्षित है। वर्तमान जीवन के कर्म तो अवश्यमेव फल देते

ही हैं। सत्कर्मों का मरणोत्तर काल में आकर्षक फल मिलता है। महाभारत के अनुसार मरणोत्तर काल में फल-मूल खाने वाले को राज्य, पत्ते चबाकर रहने वाले को स्वर्ग, उपवास करने वाले को सर्वत्र सुख, शाकाहारी को गोधन और तृण-भक्षण करने वाले को स्वर्ग मिलता है। नरक और स्वर्ग में पहुँचाने वाले कर्मों का विस्तृत परिगणन किया गया है।

पुण्य और पाप की अधिकता के अनुसार स्वर्ग और नरक क्रमशः मिलते हैं। अतिशय पुण्यात्माओं को धर्म, इन्द्र, मरुद्गण आदि स्वयं मर्त्य लोक में आकर उन्हें अपने रथ पर बिठाकर स्वर्ग ले जाते हैं। इन्द्र के साथ रथ में बैठकर युधिष्ठिर स्वर्ग पहुँचे थे।

धर्मानुसन्धान

वैदिक धर्म के स्वरूप में सामयिकता की दृष्टि से संशोधन करने का आयोजन समय-समय पर किया गया। वैदिक यज्ञों में पशु की हिंसा होती थी। महाभारत में इसका कड़े शब्दों में विरोध मिलता है—'यज्ञ का वास्तविक स्वरूप जानने वाले विरले ही हैं। वे नास्तिक हैं, जिन्होंने लोभवश क्षत्रियों के भूरिदक्षिणा वाले यज्ञों का प्रवर्तन किया। इस प्रकार के यज्ञ चोरी हैं, विकर्म हैं, और शास्त्रानुरूप नहीं हैं। वास्तविक यज्ञ के लिए अपने सुकृत (पुण्य) से प्राप्त हवि होनी चाहिए। उसी से देवता प्रसन्न होते हैं। नमस्कार, हवि, स्वाध्याय और ओषधियों से देवताओं की पूजा होती है। ब्राह्मणों के लिए सत्य और दम यज्ञ हैं। वास्तविक यज्ञ घी, दूध, दही और पूर्णाहुति से होना चाहिए। यज्ञ में श्रद्धा का विशेष महत्त्व है। श्रद्धावान् के पाप दूर हो जाते हैं।' महाभारतीय सनातन धर्म के अनुसार यज्ञ की रूप-रेखा ऐसी ही होनी चाहिए।

यज्ञ के अतिरिक्त विष्णु की पूजा का प्रचलन था। सभी यज्ञों में ब्राह्मण खीर और पुष्पों से विष्णु का ही यजन करते थे। देवालयों में बलि, होम और देवताओं की पूजा होती थी।

महाभारत-काल में ब्राह्मणों की पूजा देवताओं के समान होने लगी। जिस प्रकार यज्ञों से देवता प्रसन्न होते हैं, वैसे ही ब्राह्मण का स्वागत करने से अग्नि, उसके लिए आसन देने से इन्द्र, उसके चरण धोने से पितर और उसके भोजन के लिए अन्न प्रदान करने से ब्रह्मा तृप्त होते हैं। ब्राह्मणों के समान गौ को भी देववत् पूज्य माना गया।

महाभारतीय धार्मिक योजना मानव को सुभग, दर्शनीय और ज्ञानभागी बनाने के लिए भी है। इस उद्देश्य से चान्द्रव्रत करने का विधान था। अपने शरीर के विविध

अङ्गों में विभिन्न नक्षत्रों की प्रतिष्ठा करके उनकी पूजा करने से पूर्णिमा के दिन तक परिपूर्णाङ्ग बना जा सकता था।

महाभारतीय धारणाओं के अनुसार कुछ देवताओं के चरित का वैदिक आदर्श प्रायः लुप्त हो चुका था। इनमें से इन्द्र प्रमुख हैं। इन्द्र परस्त्री-गामी रूप में प्रसिद्ध हैं। वे महर्षियों की भी पत्नियों को अपने प्रेम-पाश में च्युत करते हैं। विपुल ऋषि ने इन्द्र के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट मत दिया है कि अब देवता और मनुष्य अधिक काल तक तुम्हारी पूजा नहीं करेंगे। विपुल का यह वाक्य सत्य भी हुआ।

देवलोक

अर्जुन ने हिमालय से इन्द्रलोक की यात्रा करते समय अद्भुत रूप वाले सहस्रों विमानों को देखा, जहाँ सूर्य, सोम, पावक आदि प्रकाश नहीं करते थे। संभवतः वे स्वयं प्रकाश थे। इन विमानों पर तारा रूप से अपनी ही प्रभा से पुण्यात्माएँ प्रकाशित होती थीं। ऐसी आत्माएँ राजर्षियों, सिद्धों और युद्धवीरों की थीं। गन्धर्वों, गुह्यकों, ऋषियों और अप्सराओं के लोक अपनी ही प्रभा से चमकते थे। जो तारे मानव-लोक से दिखाई देते हैं, वे वास्तव में सुकृती लोग हैं। वे मरणोत्तरकाल में अपनी निष्ठा के अनुसार चमक रहे हैं। स्वर्ग के द्वार पर ऐरावत गजराज था। इन्द्र की अमरावती में साध्य, विश्वेदेव, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, आदित्य, वसु, रुद्र, ब्रह्मर्षिगण, राजर्षिगण, दिलीप आदि राजा और तुम्बरु, नारद, हा-हा, हू-हू आदि गन्धर्व थे। वहाँ अप्सराओं के नृत्य और वेद के गायन आदि का समारोह था।

वर और शाप

महाभारत-काल से वर और शाप की रीति का विशेष प्रचलन आरम्भ होता है। वर और शाप देने की शक्ति देव, गन्धर्व, अप्सरा, महर्षि, ब्राह्मण, तपस्वी, सती स्त्री आदि में आकलित की गई थी। तप या भक्ति आदि से प्रसन्न करके वर पाया जाता था और अनादर या क्रोध के फलस्वरूप शाप का भाजन बनना पड़ता था। साधारणतः तप मरणोत्तर-सद्गति का कारण हो सकता था, पर इस जीवन में ही देवताओं को प्रसन्न करके अलौकिक ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए उनसे वर-प्राप्ति कर लेने की योजना तप को अधिक लोकप्रिय बना सकी।

तीर्थ यात्रा

तीर्थ की कल्पना ऋग्वेद के युग से रही है। संगम को पारलौकिक सद्गति का प्रदाता माना गया था।[1]

---

१. उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् धिया विप्रोऽजायत।
इसमें पर्वतों और नदी-संगमों का तैर्थिक मूल है। ऋग्वेद में लिखा है—
सितासिते सरिते यत्र संगते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति

महाभारतीय धारणा के अनुसार तीर्थों में मरने से भावी सद्गति सम्भव होती है। प्रयाग में मरना अत्यन्त श्रेयस्कर माना जाता था। महाभारत में गङ्गा को सर्वोत्तम तीर्थ बतलाया गया है। उस युग में तीर्थों की यात्रा ही पवित्र नहीं मानी जाती थी, अपितु कुछ तीर्थों का कीर्तन-मात्र सात कुलों को पवित्र कर देने वाला बतलाया गया। तीर्थों के महाभारतीय वर्णन का पाठ-मात्र भी ब्राह्मणों को स्वर्ग प्रदान करता है, मेधा को प्रखर बनाता है, निःसन्तान को पुत्र देता है, निर्धन को धनी बना देता है, राजा इसके बल पर पृथ्वी जीत लेता है, वैश्य धन प्राप्त करता है और शूद्र की कामनाएँ इससे पूरी हो जाती हैं। महाभारत के सुनने से पूर्व जन्मों का ज्ञान हो जाता है और स्वर्गीय प्रमोद तो मिल ही कर रहता है।

तीर्थों का उपर्युक्त माहात्म्य देखने से ज्ञात होगा कि ब्राह्मण और श्रौत साहित्य में प्रतिपादित याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा उपनिषद् में प्रतिपादित तप और तत्त्वज्ञान के समकक्ष ही नहीं, अपितु उच्चतर कोटि की लोकप्रियता तीर्थ-यात्रा को प्राप्त हो सकी होगी। तत्कालीन धर्म में तीर्थ-यात्रा का अतिशय महत्त्व माना जा सकता है। यह भावना आज तक भारत के करोड़ों प्राचीन संस्कृति के अनुयायियों में सुप्रतिष्ठित है।

देव-प्रतिष्ठा

उपर्युक्त तीर्थों के अतिरिक्त महाभारत में मानसतीर्थ की कल्पना भी की गई है। मानसतीर्थ के लिए धृति ह्रद (जलाशय) है और सत्य जल। शाश्वत सत्त्व का अवलम्बन करके इस मानसतीर्थ में स्नान करने का विधान था। तत्त्वदर्शी मानसतीर्थ में मन को ब्रह्मज्ञान-रूपी जल से अभिषिक्त कराते हैं। तीर्थों का यह तात्त्विक या रहस्यात्मक स्वरूप है। महाभारतीय धार्मिक मान्यताओं के अनुसार देवता मानवता के अतिशय निकट प्रतिष्ठित हैं। स्वर्गलोक में देवताओं के विमान से जाना असाधारण अवश्य था, पर तप के द्वारा वहाँ सदेह पहुँचने वाले पुरुषों की संख्या पर्याप्त थी। अर्जुन ने देवताओं से स्वर्ग में केवल अस्त्र-शस्त्र ही नहीं प्राप्त किया, अपितु नृत्य आदि की शिक्षा भी ली। देवताओं का मानव-रूप में अवतार लेना साधारण था। दमयन्ती के स्वयंवर जैसे मानवीय व्यवहारों में देवताओं के भाग लेने के आख्यानों द्वारा भी देव और मानवों का सामीप्य प्रतीत होता है। अन्य क्षेत्रों में भी देवताओं और मानवों के सम्बन्ध लौकिक स्तर पर दृष्टिगोचर होते हैं। देवगुरु बृहस्पति मानवों और देवताओं का यज्ञ कराते थे। बृहस्पति के लिए एक बार प्रश्न आ पड़ा कि पृथ्वी के राजा मरुत्त का पौरोहित्य करूँ या स्वर्ग में देवराज इन्द्र का। राजा मरुत्तसे

देवराज की प्रतिस्पर्धा रहती थी।[1] मानवीय युद्धों में देवता रुचि लेते थे। प्रद्युम्न और शाल्व के युद्ध-प्रकरण में इन्द्र ने नारद और वायु देव के माध्यम से प्रद्युम्न को सन्देश दिया कि शाल्व का वध तुम्हारे हाथों से नहीं, अपितु कृष्ण के हाथों से होगा। स्वयं नारद स्वर्गलोक और मर्त्यलोक में सदैव निर्बाध रूप से घूमते ही रहते थे। केवल छोटे-मोटे देवता ही नहीं, अपितु महादेव भी मानवीय स्तर पर आकर अर्जुन से युद्ध करके मानवता के नितान्त सान्निध्य में प्रकट होते हैं।

देवताओं के स्वर्ग-लोक, वायु-लोक और पृथ्वी-लोक में होने की वैदिक मान्यता सदैव सुप्रतिष्ठित रही, पर महाभारत में हिमालय पर ऋषियों के प्रदेश से आगे चलकर देवलोक में पहुँचने का स्पष्ट प्रकरण प्रायः सिद्ध कर देता है कि उस युग ने एक स्वर्ग हिमालय पर्वत पर माना था।

महाभारत में स्थान-स्थान पर शिव की उस विभूति का निदर्शन मिलता है, जिसके द्वारा वे निर्विशेष रूप से सभी दैवी और अदैवी कोटि के उपास्य बन जाते हैं। शिव का यह सर्वग्राह्य रूप भारतीय धर्मों की एकनिष्ठता का परिचायक है। हिमालय पर तपस्वी शिव की उपासना करने वालों में रुद्र, साध्य, विश्वेदेव, वसु, यम, वरुण, कुबेर, भूत, पिशाच, अश्विद्वय, गन्धर्व, अप्सराएँ, यक्ष, देव, ऋषि, आदित्य, मरुत, यातुधान आदि थे। इससे इतना तो प्रतीत होता है कि उपर्युक्त विविध वर्गों में शिव की उपासना के माध्यम से एकसूत्रता लाने की योजना किसी अग्रद्रष्टा के मस्तिष्क की उपज है। इसी प्रकार विष्णु देवता, मनुष्य, किन्नर, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, देव, दानव और नाग आदि सभी वर्गों के अधीश्वर हैं।

अवतार-कोटि के अभिनव देवताओं का प्रचार महाभारत और रामायणकाल, से विशेष रूप से हुआ। कृष्ण का अवतार धर्म की संस्थापना के लिए, साधुओं की रक्षा के लिए तथा दुष्टों का दमन करने के लिए हुआ था। महाभारत की दृष्टि में वे लोग दुष्ट हैं, जो धर्म-पथ पर नहीं चलते। इस प्रसंग से सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज के नेता धर्म की उपयोगिता से प्रभावित थे। उनकी धारणा थी कि ईश्वर, विष्णु या जो कोई भी दैवी सत्ता मानव-लोक का परिपालन करती है, वह लोक में धर्म की संवर्धना के लिए प्रत्यक्ष रूप से सचेष्ट है। यह धारणा धर्म की महिमा को बढ़ाने के लिए है। रामायण के अनुसार राम का अवतार इसी उद्देश्य से हुआ है। इन अवतारों को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर उनके प्रति वह श्रद्धा समर्पित की गई, जो वैदिक काल में देवों के लिए नियोजित हो चुकी थी।

---

१. आश्वमेधिक पर्व ५ वें अध्याय से। सभापर्व ३१वें अध्याय के अनुसार माहिष्मतीवासी भगवान् अग्नि ने वहाँ के राजा नील की कन्या सुदर्शना से विवाह कर लिया था।

महाभारत से काली या दुर्गा नामक देवी की विशेष प्रतिष्ठा का आरम्भ होता है। दुर्गा की स्तुति प्रायः संकटापन्न परिस्थितियों में की जाती थी। दुर्गा की कल्पना त्रिभुवनेश्वरी के रूप में हुई। वह नारायण को अतिशय प्रिय है। दुर्गा का जन्म यशोदा की कन्या के रूप में हुआ था। वह स्मरण करने वालों को पाप से निवृत्त कर देती है। उसकी कृपा से पुत्र और धान्य की प्राप्ति होती है। दुर्ग (विषम परिस्थितियों) से उद्धार करने के कारण उसका दुर्गा नाम सार्थक होता है। विषम परिस्थितियाँ कान्तार में, समुद्र में या दस्युओं से घिरने पर उत्पन्न होती हैं। दुर्गा संकट में पड़े हुए व्यक्ति के लिए शरण्य है। उसका स्मरण लोग प्रवास, नगर संग्राम, शत्रु-संकट, अटवी, दुर्ग, कांतार, सागर और गहन गिरि के कारण उत्पन्न विषम परिस्थितियों में करते हैं।

देवेतर प्रतिष्ठा

महाभारत में देवताओं के साथ गन्धर्व, नाग, यक्ष, राक्षस और भूतों की पूजा का विधान मिलता है। गन्धर्व, नाग, यक्ष आदि आर्येतर लोगों के द्वारा पहले से ही पूज्य थे। सर्वसाधारण के लिए उनको पूजास्पद बनाने की आवश्यकता इस युग में सम्भवतः इसीलिए पड़ी कि आर्यों और आर्येतर वर्गों के लोगों का सांस्कृतिक स्तर पर सम्मिश्रण हो रहा था। ऐसी परिस्थिति में आर्येतर लोगों के पूज्य गन्धर्व, यक्ष आदि आर्यों में भी प्रतिष्ठित हुए।

महाभारत के अनुसार देवों के लिए सुगन्धि देने वाले, कण्टकहीन और श्वेतप्राय वृक्षों के पुष्प अभीष्ट हैं। गन्धर्व, नाग और यक्षों के लिए जल से उत्पन्न कमल आदि पुष्प उपयोगी हैं। लाल और कटुक औषधियों के पुष्प भूतों को प्रिय हैं। गुग्गुल प्रभृति निर्यास का धूपदान देवों को, अगुरु का यक्ष, राक्षस और नागों को तथा सल्लकी के निर्यास का धूपदान दैत्यों को प्रिय है। प्रायः इन्ही के लिए दीपदान की विधि थी। तत्कालीन धारणा के अनुसार दीपदान करने वाले व्यक्ति का तेज बढ़ता है। दीपदान के लिए गिरिप्रपात, चैत्यस्थान, चतुष्पथ आदि स्थान चुने गए थे। देव, यक्ष, नाग, मानव, भूत और राक्षसों के लिए बलि देने का विधान था। दही-दूध के साथ देवों को, आसव, रक्त और मांस के साथ यक्ष और राक्षसों को, कमल के साथ नागों को तथा तिल और गुड़ के साथ भूतों को बलि समर्पित की जाती थी।

---

१. आदिपर्व ११६.८, वनपर्व १५६·२२। शान्तिपर्व ३२८·६ के अनुसार देवलोक में व्यास के शिष्य जा सकते थे। बदरी के आश्रम में देव और महर्षि दोनों रहते थे। यहीं विष्णु का आश्रम था—वनपर्व ११·५·१६।

बलि के द्वारा मानव के उत्तम भोगों से सम्पन्न, बलवान और वीर्यवान् होने की सम्भावना थी।[1]

महाभारत सार्वलौकिक मोक्ष की योजना प्रस्तुत करता है।[2]

पौराणिक धर्म

व्रत और उपवास

पुराणों में व्रत की संख्या नित्य बढ़ती गई। इसके अनुसार आदित्यशयन-व्रत से महापातकी के भी पाप नष्ट हो जाते हैं। व्रती को अपने बन्धु, पुत्र, धन और स्त्री से वियोग नहीं होता। स्त्री यदि इस व्रत का पालन करती है तो उसे कभी रोग, दुःख और मोह में ग्रस्त नहीं होना पड़ता। व्रत के कीर्तनमात्र से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। आदित्य-शयन-व्रत के महात्म्य तथा विधि का पाठ या श्रवण करने वाला व्यक्ति इन्द्र का प्रियतम होता है और इस अनुष्ठान से समस्त पितरों को स्वर्गलोक में पहुँचा देता है। चन्द्रव्रत से रूप और आरोग्य की प्राप्ति होती है। यह पितरों को प्रिय है। इसके अनुष्ठान से व्रती २१०० कल्पों तक चन्द्रलोक में निवास करता है और तत्पश्चात् मुक्त हो जाता है। चन्द्रमा के नाम-कीर्तन से उत्तम बुद्धि मिलती है और विष्णु के धाम में पूजित होने का अवसर मिलता है।

व्रतों की महिमा बढ़ाने के लिए उनको आदिकालीन मौलिक प्रतिष्ठा प्रदान की गई है और इनके सम्बन्ध में कहा गया है कि प्राचीन काल में सूर्य, इन्द्र आदि देवताओं तथा असंख्य दैत्यों में भी इन व्रतों का अनुष्ठान करके यथेष्ट फल पाने का प्रचलन रहा है। महर्षि वसिष्ठ, अर्जुन, कुबेर तथा इन्द्र ने आदित्य-शयन-व्रत का अनुष्ठान किया था।

व्रतों के उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि पौराणिक युग में इनकी अतिशय लोकप्रियता रही होगी। इनका अनुष्ठान सभी वर्णों और वर्गों के लिए संभव था। उपवास व्रत का एक प्रमुख अंग है। उपनिषद् धर्म में अनशकायन अर्थात् भोजन-विरति महत्त्वपूर्ण था। समय-समय पर या बहुत दिनों तक भोजन न करने से पुण्य की प्राप्ति और पाप के क्षय की सम्भावना थी। उपवास का महत्त्व सुदीर्घ

१ः अनुशासन पर्व ९७ अध्याय से। अनुशासन पर्व ९८·१३-१४ के अनुसार शुक्राचार्य ने सर्वप्रथम सुमन, धूप, और दीप के द्वारा पूजा करने का विधान बलि नामक असुर को बताया। इससे प्रकट होता है कि यह प्रथा असुरों से ली गई।

२ः इमं धर्मं समास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्। आ० प० १९·६१।

जीवन की दिशा में विज्ञान के द्वारा भी प्रतिपादित है। रूस के प्रोफेसर निकितन के अनुसार उपवास करने से कायाकल्पके द्वारा नवयौवन प्राप्त होता है।[1]

जप

पौराणिक युग में जप की महिमा बढ़ी। गायत्री के जप के लिए पाद से लेकर मस्तक तक शरीर के २४ स्थानों में इसके २४ अक्षरों का न्यास करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति की सम्भावना मानी जाती थी। तत्कालीन धारणा के अनुसार गायत्री के प्रत्येक अक्षर के देवता का ज्ञान प्राप्त करने से विष्णु का सायुज्य मिलता है। गायत्री के जप से ब्रह्मपद प्राप्त होता है। सावित्री गायत्री मन्त्र है।

सूर्य के मन्त्र-जप से अतिशय लाभ की सम्भावना थी, जैसे किसी अनिष्ट का न होना, सभी प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति, रोग और क्रूर ग्रहों का प्रभाव नष्ट होना, सभी प्रकार की शान्ति मिलना, मनोरथ सिद्ध होना आदि। तत्कालीन धारणा के अनुसार सूर्य-मन्त्र के जप से पुत्र, कन्या, विद्या, धन आदि की कामनाएँ पूरी हो जाती हैं।[2]

दिनचर्या

भारतीय संस्कृति के अनुसार धार्मिक व्यक्तियों के लिए दिन का प्रारम्भ ब्राह्ममुहूर्त से होता है। ब्राह्ममुहूर्त में जगकर प्रमुख देवताओं के नाम का सङ्कीर्तन करके दिन का आरम्भ करने का विधान था।

संकीर्तन के पश्चात् शौच और स्नान करके सन्ध्योपासन करने का नियम था।[3] स्नान के समय शरीर पर मिट्टी का लेप करते हुए पृथ्वी से मन्त्र द्वारा प्रार्थना की जाती थी कि मुझसे जो पाप हुए हों, दूर करो। धार्मिक दृष्टि से प्रातः-कालीन स्नान अतिशय पुण्यदायक माना गया। स्नान के पश्चात् तर्पण होता था। विशिष्ट तिथियों, पर्वों और तीर्थों में तर्पण से विविध प्रकार के मरणोत्तर लाभों की सम्भावना प्रतिष्ठित थी।

---

१. He believes that it is the best to keep to the regimen of the Roman Emperor Vespasian—to fast once a month. The scientist's conclusions that carefully phased hunger may increase life expectancy are based on many years of observations of rats. Thus he explains the mechanism of rejuvenating organism by fasting. Tass April 67.

२. सूर्य-सम्बन्धी मूल मन्त्र है—ओ३म् ह्रां ह्रीं सूर्याय नमः।

३. प्रातः सन्ध्या में १००० मध्याह्न में १०० और सायंकाल १० गायत्री मन्त्र का जप करने का नियम था।

तत्कालीन धारणा के अनुसार स्नान करने के लिए जाने वाले पुरुष के पीछे-पीछे देवता और पितर वायु-रूप होकर जल की आशा से जाया करते हैं, किन्तु जब वह व्यक्ति नहाकर धोती निचोड़ने लगता है, तब वे निराश होकर लौट जाते हैं। अतः-पितृ-तर्पण किए बिना धोती नहीं निचोड़नी चाहिए। मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोयें हैं। ये सम्पूर्ण तीर्थों के प्रतीक हैं। इनका स्पर्श करके जो जल धोती पर गिरता है, वह मानो सम्पूर्ण तीर्थों का ही जल गिरता है। इसलिए तर्पण से पहले भीगे हुए वस्त्र को निचोडना नहीं चाहिए। देवता स्नान करने वाले व्यक्ति के मस्तक से गिरने वाले जल को पीते हैं, पितर मूंछ और दाढ़ी के जल से तृप्त रहते हैं, गन्धर्व नेत्रों का जल और सम्पूर्ण प्राणी अधोभाग का जल ग्रहण करते है। इस प्रकार देवता, पितर, गन्धर्व तथा सम्पूर्ण प्राणी स्नान-मात्र से ही सन्तुष्ट होते हैं मानव के व्यक्तित्व से देव और देवेतर कोटियों के परितोष की कल्पना-मात्र ही उसको व्यक्तित्व को अतिशय उदात्त बनने की प्रेरणा देती है।

तर्पण के पश्चात् देव-पूजन का आरम्भ होता था। विविध देवताओं के पूजन से विभिन्न लाभों की सम्भावना थी। गणेश की पूजा से विघ्नों का नाश, विष्णु की पूजा से धर्म और मोक्ष, शंकर की पूजा से आवश्यकताओं की पूर्ति, सूर्य की पूजा से आरोग्य और भवानी की पूजा से सम्पूर्ण कामनाओं की सिद्धि हो सकती थी। देवताओं की पूजा के पश्चात् बलिवैश्वदेव में सभी देवताओं के लिए बलि अग्नि के माध्यम से दी जाती थी। इसके पश्चात् अतिथि-यज्ञ का विधान किया जाता था।

दिव्य सत्ताओं की पूजा

पद्मपुराण के अनुसार पुण्य की दिशा में वृक्षों की पूजा का महत्त्व है। तत्कालीन धारणा के अनुसार स्नान करके पीपल का वृक्ष-स्पर्श करने वाला व्यक्ति सभी पापों से मुक्त हो जाता है। बिना नहाए पीपल का स्पर्श करने से स्नान का फल मिलता है। अश्वत्थ वृक्ष के दर्शन से पाप का नाश और स्पर्श से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। अश्वत्थ की परिक्रमा से आयु बढ़ती है। अश्वत्थ वृक्ष को हविष्य, दूध, नैवेद्य, फूल, धूप और दीपक अर्पण करने वाला व्यक्ति कभी स्वर्ग से च्युत नहीं होता। पीपल की जड़ में विष्णु, तने में भगवान् शंकर तथा अग्रभाग में साक्षात् ब्रह्मा स्थित हैं। अश्वत्थ साक्षात् हरि है। पीपल ब्राह्मण, गौ और देवता की भाँति पूजनीय है। उसकी पूजा से मोक्ष मिलता है। इन वृक्षों को लगाने में अतिशय पुण्य और काटने में पाप होता है। आँवले का वृक्ष लगाने से मनुष्य विष्णु के समान हो जाता है। आँवले के चारों ओर साढ़े तीन हाथ भूमि को कुरुक्षेत्र जानना चाहिए।

छोटे पौधों में तुलसी की धार्मिक महिमा है। पौराणिक कल्पना के अनुसार विष्णु ने स्वयं तुलसी के पौध को रोपा था। विष्णु की पूजा के लिए इसे सर्वश्रेष्ठ

साधन माना गया । ऐसी परिस्थिति में वह स्वयं पूजनीय बन गई। तुलसी की सेवा करने से गुरु, ब्राह्मण, देवता, तीर्थ आदि सबका अपने आप सेवन हो जाता है । तुलसी-पत्र से टपकते हुए जल को सिर पर धारण करने से गङ्गा-स्नान और दस गोदान का फल मिलता है ।

देवालयों में घी या तेल के दीपक जलाए जाते थे और जल चढ़ाया जाता था। जाड़े में देवमूर्तियों के लिए वस्त्रदान किया जाता था । शिव-लिंग की परिक्रमा की जाती थी । इन सभी पूजा-विधानों से स्वर्ग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति सम्भव मानी जाती थी।

धार्मिक संस्थाओं के निर्माण, अलंकरण और नवीकरण के द्वारा अतिशय पुण्य की सम्भावना बतलाई गई है । पुराणों के अनुसार शिव का मन्दिर बनवाने से चिरकालीन स्वर्ग-सुख मिलता है, अनेकतल मन्दिर बनवाने से उत्तम गति मिलती है, मन्दिर के आँगन में झाड़ू लगाने से शिव का लोक प्राप्त होता है, मन्दिर की स्वच्छता करने से तथा उसके आँगन में विविध रंगों से चौक पूरने से शिव का धाम मिलता है, मन्दिर में घंटा बाँधने से तेजस्विता और कीर्ति सम्भव होती है और टूटे हुए शिव के मन्दिर को पुनः बनवा देने से दूना पुण्य-फल मिलता है । इन विधानों से मन्दिरों की संख्या नित्य बढ़ती गई और साथ ही उनका अलंकरण और नवीकरण सम्भव हुआ ।

देवालय में देव-मूर्तियों की प्रतिष्ठा-मात्र से इष्ट देव के सायुज्य की सम्भावना मानी गई । अभीष्ट देवता के साथ ही अन्यान्य देवताओं की मूर्तियों की प्रतिष्ठा की जाती थी । देव-प्रतिष्ठा का पुण्य यज्ञ, दान और व्रत आदि से बढ़ कर माना गया । विष्णु, शिव, गणेश और सूर्य आदि प्रमुख देवताओं की मूर्तियों और उनकी प्रतिष्ठा के लिए पत्थर या मिट्टी के मन्दिर बनवाने की रीति थी ।

गो-पूजा

पौराणिक कल्पना के अनुसार वेद, अग्नि, ब्राह्मण और गौ जगत् के जन्मदाता हैं । ये जगत् को धारण करते हैं । गौ तो सम्पूर्ण देवताओं का स्वरूप है । वह मनुष्य का बन्धु है और मनुष्य उसका बन्धु है । गौ के विभिन्न अङ्गों में विभिन्न देवताओं का वास बतलाया गया है, जैसे उसके मुख में वेद और सींगों में शंकर और विष्णु हैं। हैं । ऐसी देव-रूप गौ की प्रणामपूर्वक प्रदक्षिणा, प्रातःकाल गौ का स्पर्श, गो-मन्त्र का जप, गो-धूलि से स्नान, गोदान, साँड़ छोड़ना आदि कार्य स्वर्ग, मुक्ति और पाप-निवृत्ति की दिशा में महत्त्वपूर्ण मान कर अपनाए गए ।

ब्राह्मण

वैदिक धर्म में प्रायः आरम्भिक युग से ब्राह्मण-वर्ग को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे । महाभारत में गो-ब्राह्मण की महिमा असंख्य प्रकरणों में बतलाई गई है।

पौराणिक युग में ब्राह्मण की प्रतिष्ठा सर्वाधिक रही है। पद्मपुराण के अनुसार ब्राह्मण देवताओं का भी देवता है। संसार में उसके समान दूसरा कोई नहीं है। वह साक्षात् धर्म की मूर्ति है। वह इस पृथ्वी पर सबको मोक्ष प्रदान करने वाला है। ब्राह्मण सब लोगों का गुरु है, पूज्य है और तीर्थस्वरूप है। ब्रह्मा ने ब्राह्मण को सभी देवताओं का आश्रय बनाया। जिस पर ब्राह्मण प्रसन्न होते हैं, उस पर भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। अतः ब्राह्मण की सेवा करने वाला मनुष्य परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करता है। ब्राह्मण के शरीर में सदैव श्रीविष्णु का निवास है। ब्राह्मण के लिए आतिथ्य, दान, पूजा आदि से इहलौकिक और पारलौकिक अनुपम कल्याण होता है। जहाँ ब्राह्मणों को भोजन नहीं दिया जाता, वहाँ असुर, प्रेत, दैत्य और राक्षस भोजन करते हैं। ब्राह्मण के आशीर्वाद से आयु बढ़ती है और उसका विरोध करने से आयु क्षीण होती है, धन-ऐश्वर्य का नाश होता है और परलोक में दुर्गति होती है। ब्राह्मण का पूजन करने से आयु, यश, विद्या, धन आदि की वृद्धि होती है तथा मानव श्रेष्ठ बन जाता है। पद्मपुराण के अनुसार यह प्रतिष्ठा केवल तपस्वी, सदाचारी और विद्वानों तक के लिए ही सीमित है। क्रियाहीन ब्राह्मण पूज्य नहीं रह जाता है।

ब्राह्मण को संसार की सभी वस्तुओं का स्वामी माना गया है। इस दृष्टि से कहा गया है—ब्राह्मण अपना ही खाता है, अपना ही पहनता है और अपनी ही वस्तु दान देता है। क्षत्रिय आदि उसी के अनुग्रह से अन्न पाते हैं।

नदी-सेवन

नदियों में पुण्य की दृष्टि से गङ्गा का नाम सर्वोपरि रहा है। गंगा में स्नान, उसके तट पर पितरों को पिण्ड-दान और तर्पण, जल का दर्शन या स्पर्श, उसके तट के निकट बसना गंगा का नाम-कीर्त्तन, गंगा के जल में प्राण-त्याग, गंगा-तट की मिट्टी मस्तक पर धारण करना, गंगा की लहरों से होकर आने वाली वायु का सेवन, केवल अपने सम्बन्धी ही नहीं अपितु अनाथों की भी अस्थि का गंगा में विसर्जन आदि काम स्वर्ग-प्राप्ति, मोक्ष-प्राप्ति और पाप-निवृत्ति के सर्वोच्च साधन माने गए। तत्कालीन धारणा के अनुसार गंगा का स्नान मानव के व्यक्तित्व के विकास की दिशा में अतिशय प्रभावशाली है। मानव में सन्तोष, धार्मिक प्रवृत्तियाँ तथा सभी प्राणियों के प्रति साम्य भाव का उदय गंगा-स्नान से स्वभावतः होने लगता है। गंगा में स्नान करने के लिए जाने वाले यात्रियों को मार्ग-व्यय तथा भोजन आदि देने वालों को स्वयं गंगा-स्नान का फल पाने की सम्भावना मानी गई।

तीर्थ

पुराणों में महाभारतीय युग के प्रायः समान ही तीर्थों की प्रतिष्ठा रही। तीर्थों की संख्या में इस युग में अतिशय वृद्धि हुई। पौराणिक कल्पना के अनुसार

सभी नदियाँ तीर्थ हैं। नदी के तटीय तीर्थ का नाम यदि अज्ञात हो तो वह विष्णुतीर्थ है। सभी तीर्थों के देवता विष्णु हैं। कुएँ को छोड़कर जितने भी खोदे हुए जलाशय हैं, उन्हें तीर्थ माना गया। सभी पर्वत तीर्थरूप में सम्मानित हुए। यज्ञ भूमि, यज्ञ और अग्निहोत्र, श्राद्ध-भूमि, देव-मन्दिर, होम-शाला, वैदिक स्वाध्याय-मन्दिर, घर का पवित्र स्थान, गोशाला, सोमयाजी ब्राह्मण का निवास-स्थान, पवित्र उपवन, पीपल, पाकड़ और वट के वृक्ष, माता-पिता के स्थान, पुराण-पाठ का स्थान, आचार्य-कुल, सती स्त्री का स्थान, सुयोग्य पुत्र का स्थान--सभी तीर्थ रूप में प्रतिष्ठित हुए। तीर्थों में रहने और स्नान, दान आदि का विशेष महत्त्व माना गया।

भागवत के अनुसार तीर्थ जल में नहीं होता। वह साधु, विद्वान् और अभिज्ञ लोगों में है। पानी के तीर्थ और देवता तो बहुत दिनों में पवित्र करते हैं, साधु पुरुष दर्शन-मात्र से ही पवित्र कर देता है। वह तो अज्ञ है, जो विद्वानों को तीर्थ न मानकर जल को ही तीर्थ मानता है।

दान

पौराणिक युग में दान की महिमा इतनी बढ़ी कि उसे धर्म का स्वरूप मान लिया गया। दान के सम्बन्ध में अनेक नियम और उपनियम बने। दान के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने की योजना थी। पद्मपुराण के अनुसार श्रद्धायुक्त चित्त से सुपात्र ब्राह्मण को गौ, भूमि, स्वर्ण और अन्न आदि का दान देने वाला विष्णु को प्रसन्न कर लेता है और स्वयं विष्णु उसकी सभी अभीष्ट कामना पूरी कर देते हैं।

दान के लिए सच्चरित्र, विद्वान् और कर्त्तव्यपरायण ब्राह्मण सर्वोत्तम पात्र हैं। इसके अतिरिक्त कुछ सम्बन्धी—बहिन, कन्या के पुत्र, दामाद, आचार्य आदि को दान देना चाहिए। दान देने की विधि थी श्रद्धापूर्वक विष्णु का स्मरण करते हुए सुपात्र के हाथ में वस्तुओं को देना।[1]

दान की इहलौकिक और पारलौकिक उपयोगिताएँ मानी जाती थीं। दान देने वाला दान के प्रभाव से अतिशय बुद्धिमान्, शक्तिमान्, धनाढ्य और गुणवान् हो जाता है। जो दान नहीं देते, उन्हें विष्णु रोगी बना देते हैं। दान के पारलौकिक लाभ हैं--महान् सुख, स्वर्ग, मोक्ष आदि। सत्पात्र को हाथी-घोड़ा, रथ आदि देकर मनुष्य पुण्यमय प्रदेश का राजा होता है और स्वयं धर्मात्मा, विवेकी, बलवान्,

---

१. पद्मपुराण भूमिखंड ३९वें अध्याय से।
इसमें श्रद्धा के सम्बन्ध में कहा गया है—
नास्ति श्रद्धासमं पुण्यं नास्ति श्रद्धासमं सुखम्।
नास्ति श्रद्धासमं तीर्थं संसारे प्राणिनां नृप ॥ पद्म० ३९.७८

उत्तम, बुद्धि से युक्त, सभी प्राणियों के लिए अजेय और महान् तेजस्वी होता है। तीर्थों में महापर्व के समय सुन्दर वस्त्र और स्वर्ण के दान से गुणवान्, आयुष्मान्, यशस्वी, पुण्यात्म और तत्त्वदर्शी पुत्र प्राप्त होते हैं। वस्त्र और स्वर्ण के दान से इस लोक में अग्नि के समान तेजस्विता और परलोक में वैकुण्ठवास मिलता है। यज्ञ के अवसर पर शुद्ध भाव से दान देने वाले दाता की बुद्धि बढ़ती है और उसे कभी दुःख नहीं उठाना पड़ता। ऐसा दाता सहस्र कल्पों तक अपने कुल को स्वर्ग में प्रतिष्ठित करता है।

माला-धारण

धार्मिक विधियों को सम्पन्न करते समय रुद्राक्ष की माला धारण करने वाला पुरुष सभी प्राणियों में श्रेष्ठ माना गया। तत्कालीन धारणा के अनुसार उसके दर्शन-मात्र से लोगों की पापराशि विलीन हो जाती है। रुद्राक्ष-माला के स्पर्श से स्वर्ग-सुख मिलता है और उसके धारण करने से मोक्ष मिलता है। रुद्राक्ष की माला मस्तक पर छाती पर और बाँह में धारण कर लेने पर साक्षात् शिवत्व की प्राप्ति होती है। ब्रह्म-ग्रन्थि युक्त, मंगलमयी रुद्राक्ष की माला लेकर जो जप, दान, स्तोत्र, मन्त्र और देवताओं का पूजन तथा अन्य पुण्य कर्म किए जाते है, वे सभी अक्षय होते है और उनसे पापों का क्षय होता है। रुद्राक्ष की माला से समान ही वैष्णव धर्म में तुलसी की माला धारण करके भगवान् की पूजा करने का विधान था। तुलसी की माला भगवान् को अर्पित करके मस्तक पर धारण की जाती थी।

कथाएं

पुराणेतिहास की कथाओं के पारायण के धार्मिक महत्त्व का प्रथम स्वरूप वैदिक साहित्य में ही मिलता है। इस प्रसंग के अनेक प्रकरण महाभारत और रामायण में मिलते हैं। पौराणिक युग में पुराण और तत्सम्बन्धी कथाओं और आख्यानों का धार्मिक महत्त्व सर्वाधिक रहा।

पौराणिक कथाओं का कहना और सुनना पुण्यात्मक तो माना ही गया, साथ ही उनके फलस्वरूप इस जीवन में ही प्रत्यक्ष लाभों की प्राप्ति सम्भव बताई गई। भगवान् के प्रति भक्ति रखते हुए राम के अश्वमेध-यज्ञ का वर्णन सुनने से ब्रह्महत्या जैसे पाप से निवृत्ति सम्भव मानी गई। इसके सुनने से श्रोता को सनातन ब्रह्म की प्राप्ति की आशा के साथ ही साथ पुत्रहीन को पुत्र, धनहीन को धन, रोगी को आरोग्य और बन्दी को छुटकारा मिल जाता है। चाण्डाल भी इस कथा को सुनकर परम पद प्राप्त कर लेता है।

गीता की कथा साक्षात् विष्णुमयी है। इसके प्रथम पाँच अध्याय पाँच मुख हैं, पश्चात् दस अध्याय दस भुजाएँ हैं, सोलहवाँ अध्याय उदर और अन्तिम दो अध्याय

दोनों चरण-कमल हैं। इसके ज्ञान-मात्र से ही पापों का नाश हो जाता है। गीता के एक या दो अध्याय का अथवा एक, आधे या चौथाई श्लोक का प्रतिदिन अभ्यास करने से मुक्ति प्राप्त होती है। शुक के द्वारा किए हुए गीता के श्लोकों का पारायण भी पापियों के अन्त:करण को पवित्र करने में समर्थ होता है।

श्रीमद्भागवत को भगवान् विष्णु की साक्षात् वाङ्मयी मूर्ति माना गया। इसके सप्ताह श्रवण से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। भागवत के आधे या चौथाई श्लोक का नित्य पाठ करने से राजसूय और अवश्मेध-यज्ञों का फल मिलता है। जिस घर में नित्य भागवत की कथा होती है, वह घर तीर्थ-स्वरूप हो जाता है। स्वर्ण-सिंहासन पर भागवत को रख कर दान देने वाला श्रीकृष्ण का सायुज्य प्राप्त करता है। भागवत को न सुनने वाला सारा जन्म चाण्डाल और गधे के समान व्यर्थ गँवा देता है। वह जीवन काल में ही मृत है, पृथ्वी का भार है और मनुष्य होकर भी पशु के तुल्य है। पृथ्वी पर भागवत साक्षात् परब्रह्म का स्वरूप है।

विष्णु-पुराण के प्रह्लादचरित के सुनने से पाप शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार भगवान् ने सभी विपत्तियों से प्रह्लाद की रक्षा की थी, उसी प्रकार वे सर्वदा उसकी भी रक्षा करते हैं, जो प्रह्लादचरित सुनता है। विष्णुपुराण में स्यमन्तक मणि-सम्बन्धी कथा है। कृष्ण के मिथ्या-कलंक-शोधन की वार्त्ता इस कथा में है। इस कथा का स्मरण करने से कभी थोड़ा-सा भी मिथ्या कलंक नहीं लगता, समस्त इन्द्रियाँ समर्थ रहती है और सभी पापों से छुटकारा प्राप्त हो जाती है। यह पुराण सभी दु:स्वप्नों को नष्ट करने वाला, सम्पूर्ण दोषों को दूर करने वाला, परम माङ्गलिक तथा सम्पत्ति और सन्तान देने वाला है।

ब्रह्मपुराण को घर पर रखने-मात्र से कलिकाल का भय न होने की सम्भावना होती है। यह पुराण भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करता है और पापों का नाश करता है। इसके श्रवण-मात्र से मानव कृतकृत्य हो जाता है। जो पुरुष अपने हाथ से इस पुराण को लिख कर ब्राह्मणों को दान देता है, वह सब पापों से मुक्त होकर फिर कभी गर्भ में नहीं आता।

भागवत पुराण के ध्रुवचरित के श्रवण और कीर्तन से धन, यश, आयु, स्वर्ग देवत्व, क्लेश-क्षय, शील, तेज आदि की प्राप्ति होती है। इस कथा को सुनने वाला आत्मा में सन्तुष्ट रहने लगता है और सिद्ध हो जाता है।

धर्म का प्रचार

धर्म का ज्ञान कराने का प्रमुख साधन था पौराणिकों का कथा-वाचन। ऐसे कथावाचकों की संख्या उस युग में बहुत अधिक थी। कथावाचकों को पर्याप्त पुण्य की

आशा होती थी। पद्मपुराण के अनुसार गो-सम्बन्धी धार्मिक कथा को एक बार भी दूसरों को सुनाने वाला सभी पापों से मुक्त हो जाता है। वह देवताओं के साथ आनन्द का उपभोग करता है।

कुछ धार्मिक राजा धर्म के विशुद्ध स्वरूप को प्रजा को समझाने के लिए दूत नियुक्त करते थे। राजा की आज्ञा थी कि लोग धर्म का आचरण करें। यदि कोई व्यक्ति इस आज्ञा का पालन नहीं करता था तो वह दण्डनीय था।

पद्मपुराण के अनुसार देवता पुस्तकों के पढ़ने-पढ़वाने से जितना प्रसन्न होते हैं, उतना यज्ञ, अभिषेक अथवा पूजा से नहीं होते। जो व्यक्ति विष्णु के मन्दिर में धर्म-ग्रंथ का पाठ करवाता है, वह राजसूय और अश्वमेध-यज्ञों का फल पाता है। इतिहास पुराण के ग्रन्थों का सुनाना पुण्यदायक है। देवता इस आयोजन से सर्वाधिक प्रसन्न होते हैं। इस योजना के अनुसार सभी मन्दिर गृहस्थों के लिए वास्तव में विद्यालय बन चुके थे।

कुछ राजा भी प्रजा को स्वयं धार्मिक उपदेश देते थे। प्रजा की सभाओं में राजा सुन्दर, विचित्र पदों से युक्त, स्पष्ट, मधुर, गम्भीर और निर्भीक व्याख्यान देते थे।

उच्च कोटि के धर्माचार्य तीर्थों का दर्शन करते हुए विचरण करते थे तत्कालीन समाज को उनके सम्पर्क में आने का अवसर मिलता था। ऐसे अवसरों पर धार्मिक प्रवचन का आयोजन होता था।

धर्म की लोकप्रियता

लौकिक सिद्धियाँ

धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिए धार्मिक अनुष्ठानों से प्राप्त होने वाले लौकिक और पारलौकिक लाभों का आरम्भ से ही महत्त्व रहा है। पौराणिक युग में धार्मिक विधानों के द्वारा मिलने वाली लौकिक सिद्धियों का आकर्षक रूप प्रस्तुत किया गया। पद्मपुराण के अनुसार दीप का प्रकाश दान करने से सौंदर्य, दक्षिणा देने से स्मरण-शक्ति और अहिंसा से रूप, ऐश्वर्य और आरोग्य तथा फल-मूल के भोजन से सम्मान की प्राप्ति होती है। बृहस्पति के दान-सम्बन्धी व्याख्या के स्वाध्याय से आयु विद्या, यश और बल——चारों की वृद्धि होती है। लौकिक सिद्धियों के लिए नाम-कीर्तन, नामस्मरण, स्तोत्र-पाठ, भक्ति, से व्रत, उपवास आदि का अनुपम महत्त्व बतलाया गया है। भगवान् की भक्ति, मानव को समाज में उच्चतर प्रतिष्ठा प्राप्त होकर रहती थी, चाहे वह साधारण या हीन वर्ण का क्यों न हो। भगवान् का भक्त यदि चाण्डाल भी हो तो वह परम पावन है। पद्मपुराण के अनुसार——

स्मृतः सम्भाषितो वापि पूजितो वा द्विजोत्तम।
पुनाति भगवद्भक्तश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया ॥ उ० ख० ८१.५५

जिन व्यक्तियों के समस्त धार्मिक कार्य सदा भगवान् सूर्य के उद्देश्य से सम्पन्न होते हैं, उनके कुल में कोई दरिद्र अथवा रोगी नहीं होता। घी या तेल का दीपक जला कर सूर्य की पूजा करने वाला कभी अन्धा नहीं होता। दीप-दान करने वाला व्यक्ति सदा ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित रहता है। देवालय, चतुष्पथ और राजमार्गों पर दीप-दान करने वाला रूपवान् तथा सौभाग्यशाली होता है।

भागवत के अनुसार लौकिक सिद्धियों में से प्रत्येक के लिए क्रमशः एक-एक देवता के लिए यज्ञ करने का विधान मिलता है। ब्रह्मतेज, सन्तान, लक्ष्मी, वीरता, आयु आदि के लिए क्रमशः बृहस्पति, प्रजापति, माया-देवी, रुद्रगण तथा अश्विनीकुमार के यज्ञ करने चाहिए। नारदपुराण के अनुसार 'ओ३म् नमो नारायणाय, मन्त्र का जप प्रातःकाल करके जलपान करने से पुरुष ज्ञानवान् और नीरोग होता है। ग्रहण के समय इस मन्त्र का जप करने से मेधा, कवित्वशक्ति और वाक्-सिद्धि होती है।

पुराणों में पुण्य और पाप को इस प्रकार केवल पारलौकिक कल्याण का साधन न मान कर उन्हें इसी जीवन में फल देने वाला कहा गया है। इसके निदर्शन के लिए खनित्र की कथा है। उसके पुण्य के प्रभाव से शत्रुओं के पुरोहितों की बनाई हुई कृत्याओं ने उन पुरोहितों को ही मार डाला, जिन्होंने उनका निर्माण किया था।

अलौकिक विधान

धर्म के द्वारा कुछ ऐसी मान्यताएँ भी प्रस्तुत की जाती हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से तो वास्तविक नहीं प्रतीत होतीं, पर उनका लोक-संस्कृति पर विशेष प्रभाव पड़ता है। ऐसी मान्यताओं में कर्म-फल सर्वोपरि है।

कर्मफल

धार्मिक विधान के अनुसार कर्म समय आने पर कर्त्ता को अवश्य ही फल देते है। पूर्व जन्म के कर्म कर्त्ता का अनुसरण करते हैं। कर्म का फल पाने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ स्वयं आ उपस्थित होती हैं। कर्म का नाश फल देने के पश्चात् ही हो सकता है। पूर्व जन्म के बन्धन-स्वरूप कर्म को कोई नहीं मिटा सकता।

जो पुरुष इन्द्रियों को सुख देने की इच्छा से धर्म करते हैं, वे ज्ञान-दुर्बल और मूढ हैं। मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियों में जन्म लेना पड़ता है। कभी-कभी पुण्यात्मा भी दुःख भोगते हैं। वह दुःख उनके पूर्व जन्म के पापों के फलस्वरूप होता है। बन्धन में बँधे पशु की भाँति कर्त्ता को उसके कर्म सुख और

दुःख की अवस्था में ले जाते हैं। प्रारब्ध कर्म से बँधा हुआ जीव अपने बन्धन को दूर करने में समर्थ नहीं होता। देवता और ऋषि भी कर्मों से बँधे हुए हैं।

हिंसात्मक यज्ञ कर्म-जनित मल को नहीं धो सकते। सकाम यज्ञ भी कर्म बन्धन को नहीं तोड़ते। कर्म के द्वारा उत्पन्न की हुई विषमता का विशद विवेचन विष्णुपुराण में इन शब्दों में मिलता है—

पुमान्न देवो न नरो न पशुर्न च पादपः।
शरीराकृतिभेदास्तु भूपैते कर्मयोनयः॥ २. १३. ९८

आत्मा, देवता, मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि कुछ भी नहीं हैं। ये सब तो कर्म-जन्य शरीर की आकृतियों के भेद-मात्र हैं।

भागवत के अनुसार प्राणी का जन्म-मरण, सुख-दुःख, भय-क्षेम आदि का स्वरूप कर्म के द्वारा ही नियन्त्रित होता है। कर्म ही गुरु है, ईश्वर है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कर्म करना ही चाहिए।

भागवत में सभी गृहस्थों को कर्मपरायण बने रहने की सीख दी गई है, चाहे वे ज्ञानी ही क्यों न हों अथवा वे धन और गृहस्थी के प्रति अनासक्त ही क्यों न हों।

मरणोत्तर विधान

पौराणिक मरणोत्तर विधान के अनुसार मरने के पश्चात् मुक्ति, स्वर्ग या उच्च कुलीन जन्म आदि का पा लेना प्रायः अत्यन्त सरल हो गया, जैसे गंगा में प्राण छूटने-मात्र से माता का दूध पुनः पान नहीं करना पड़ता, अर्थात् मुक्ति मिल जाती है। काशी में मरने से अभीष्ट फल भोग लेने के पश्चात् विष्णु की देह में विलीन होने का अवसर मिलता है और ब्रह्मपुत्र की सात धाराओं में मरने से मुनिजनोचित मुक्ति अवश्यम्भावी है।

मरणोत्तर गति की रूप-रेखा का विन्यास उन विचारों के अनुरूप होता है, जो मरते समय मन में प्रतिष्ठित होते हैं। मरते समय सुबुद्धि की सम्भावना पुण्य से अथवा पुण्यकर्मों के अनुष्ठान से होती है।

मरणोत्तर विधान की दृष्टि से देव-लोकों की चर्चा समीचीन है। पद्मपुराण के अनुसार देवलोक भावमय हैं। भावों के अनेक रूप दिखाई देते हैं। अतः भावात्मक जगत् की संख्या करोड़ों तक पहुँच जाती है। इनमें से पुण्यात्माओं के लिए २८ लोक प्राप्य हैं, जो क्रमशः उपर्युपरि हैं और अत्यन्त विशाल हैं।

विष्णुपुराण में कर्मानुसार प्राप्तव्य असंख्य स्वर्ग और नरकों का वर्णन मिलता है। पापी लोग नरक भोगने के अनन्तर क्रम से स्थावर, कृमि, जलचर, पक्षी, पशु मनुष्य, धार्मिक पुरुष, देवगण तथा मुमुक्षु होकर जन्म ग्रहण करते हैं।

भागवत के अनुसार मरणोत्तर काल में योगियों की इच्छानुसार द्विविध गति हो सकती है। यदि मरने के पश्चात् किसी लोक में जाने की इच्छा न हो तो योगी अपनी प्राणवायु को क्रमशः ऊपर ले जाते हुए सर्वोपरि सहस्रार में ले जाकर परमात्मा में स्थित कर दे। इसके पश्चात् मूर्धा को भेद कर उसकी प्राणवायु शरीर को छोड़ देती है। इस प्रकार मृत्यु पाने वाला योगी शाश्वत ब्रह्म में मिलकर निर्विकार हो जाता है।

वर, शाप और आशीर्वाद

वर, शाप और आशीर्वाद की परम्परा भारतीय संस्कृति में वैदिक काल से ही मिलती है। महाभारत में सत्यवादियों के द्वारा दिए हुए शाप के मिथ्या न होने का उल्लेख है। शमीक ने अपने पुत्र से कहा--मैं जानता हूँ कि तुम्हारा प्रभाव उग्र है और तुम सत्यवादी हो। कभी पहले तुम असत्य नहीं बोले। अतएव तुम्हारा शाप मिथ्या नहीं होगा।[1]

भागवत में उपर्युक्त मान्यता का समर्थन करते हुए कहा गया है कि असूया, असत्य, दम्भ, ईर्ष्या, हिंसा और अभिमान से रहित सत्यशील महापुरुषों के आशीर्वाद सफल हो कर रहते हैं। वर और शाप आदि के अवश्य सत्य होने के सम्बन्ध में मार्कण्डेय पुराण में कहा गया है--यदि किसी व्यक्ति ने मुख से कभी झूठी बात निकाली न हो तो (वर और शाप के रूप में) वह जो कुछ कहेगा, वह कभी मिथ्या नहीं होगा।

वरदान के लिए कोई आवश्यक नियम नहीं था कि बड़े से ही छोटा कुछ माँगे। महाभारत के अनुसार विष्णु ने गरुड से वर माँगा कि तुम मेरे वाहन हो जाओ। साधारणतः उच्च व्यक्तित्व के लोग वर या शाप दे सकते थे। इस कोटि में देव, ऋषि, मानव आदि आते थे। पर किसी भी पुरुष का वर या शाप भी साहित्य में देखा-सुना जाता है। श्रवण के पिता ने दशरथ को पुत्र-वियोग में मरने का शाप दिया था। उर्वशी ने अर्जुन को शाप दिया था कि तुम्हें नपुंसक बनना होगा। उपर्युक्त दोनों शाप वास्तव में वर सिद्ध हुए। पहले से सन्तानरहित दशरथ को पुत्रोत्पत्ति की सम्भावना हुई और दूसरे से अर्जुन अज्ञात वास में नपुंसक नर्तक बन कर अपने को सुरक्षित रख सका।

---

१. जानाम्युग्रप्रभावं त्वां तात सत्यगिरं तथा।
नानृतं चोक्तपूर्वं ते नैतन्मिथ्या भविष्यति।। आदिपर्व ४२. ३

वर पाने के लिए साधारणतः किसी श्रेष्ठ महात्मा, मुनि या देवता को तप के माध्यम से प्रसन्न करने का विधान था। तप के द्वारा वर पाने का मार्ग सभी वर्णों और आश्रमों के लोगों के लिए खुला था। शाप के लिए क्रोध उत्पन्न कराना पर्याप्त था। वर का एक रूप आशीर्वाद है, जो महापुरुषों की विनयी लोगों के प्रति स्नेहमयी प्रवृत्ति का सूचक है। वर और आशीर्वाद साधारणतः अभ्युदयात्मक रहे हैं, पर आसुरी वृत्ति के लोग इनका दुरुपयोग करते आये हैं।

वैष्णव धर्म

विष्णु वैदिक देवता हैं, जिनकी लोकहितकारी चरित-गाथाएँ आदिकाल से प्रसिद्ध रही हैं। परवर्ती युग में अवतार के माध्यम से विष्णु की चरितावली भारतीय साहित्य में सर्वत्र वर्ण्य विषय रही है। विष्णु का मानो व्रत ही था—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

विष्णु के नाम पर जो धर्म चला है, वह उनके व्यक्तित्व के अनुरूप विकसित हुआ है। विष्णु की भक्ति का आदर्श विकसित हुआ है लोकसंग्रह की दृष्टि से निष्काम कर्म करते रहना और सारे कर्म भगवान् को अर्पण करने की बुद्धि से करना। इस प्रकार के विष्णु के लिए सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, उपकार-परायण, परम पावन, पुण्यस्वरूप, महाकान्त, यज्ञवल्लभ, शिव, सर्वाश्रय, शान्त, पुरुषार्थस्वरूप आदि नाम उनके उदात्त गुणों के परिचायक हैं। स्वयं विष्णु ने भागवत में अपनी लोकसेवा का परिचय देते हुए कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ।।

वैष्णव का व्यक्तित्व

वैष्णव धर्म के अनुयायियों का व्यक्तित्व विष्णु के आदर्श पर विकसित हुआ। विष्णु सभी प्राणियों की आत्मा हैं। अतएव वैष्णव के लिए संसार के सभी प्राणी आदरणीय हैं। उसकी दृष्टि में किसी का भी अनादर करने से विष्णु का अनादर होता है। इस आदर्श की प्रतिष्ठा भागवत में इस प्रकार की गई है--

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ।।३.२९.२७

वैष्णव का परम कर्तव्य है कि वह अपने सभी कर्मों को नारायण के लिए समर्पित कर दे। ऐसी परिस्थिति में उसे जब नारायण के अतिरिक्त किसी अन्य

सत्ता की प्रतीति नहीं रह जाती तो वह सर्वथा निर्भय हो जाता है। भय द्वितीयाभिनिवेश (मुझसे भिन्न भी कुछ है) की भावना से होता है। वह इसे छोड़ देता है।

ऐन्द्रियक सुखों या दुःखों की अनुभूति करते हुए भी विष्णु का भक्त हर्ष और विषाद नहीं करता। वह इन्द्रिय के विषयों को विष्णु की माया समझता है। उसके चित्त में काम-कर्मों के बीज नहीं उत्पन्न होते। उसे जन्म-कर्म, वर्णाश्रम तथा जाति आदि के आधार पर अहंभाव नहीं होता। उसके लिए अपना और पराया नहीं होता।

भागवत में वैष्णव के व्यक्तित्व के विकास के सोपानों का आकलन किया गया है—वह सर्वप्रथम ब्रह्मज्ञ गुरु की शरण लेकर अनासक्ति, दया, मैत्री, प्रश्रय, शौच, तप, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय, आर्जव, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, समता, कैवल्य, अनिकेतता, वस्त्र के प्रति उपेक्षा तथा जिस किसी वस्तु से सन्तोष आदि गुणों को अपनाये। मन और वाणी पर संयम रखना, सत्य, शम, दम, हरि के पराक्रमों का श्रवण, कीर्तन और ध्यान आदि का उसे अभ्यास करना चाहिए। उसे यज्ञ, दान, तप, जप, अपना जीवन, अपना प्रिय, स्त्री, पुत्र, गृह, प्राण—सबको भगवान् के लिए समर्पित कर देना चाहिए। उसे सभी मानवों के प्रति सौहार्द और महात्माओं के प्रति सेवा-भाव रखना चाहिए।[1]

व्यक्तित्व के विकास की दिशा में भागवत धर्म में वेदान्त के आध्यात्मिक दर्शन को अपनाया गया है। इसके अनुसार मुक्ति विद्या के द्वारा सम्भव होती है। विद्या से ज्ञात होता है कि आत्मा (मैं) कुछ भी नहीं करता। ऐसी मनःस्थिति में साधक शरीर के किसी व्यापार को न तो अपनाता है और न उनसे बद्ध होता है। उसे शरीर के सुख या दुःख से सुख या दुःख नहीं होता। वह स्वयं कुछ करता नहीं, बोलता नहीं और न साधु-असाधु का ध्यान करता है। केवल आत्मा में हीं उसे आनन्द मिलता है। वह आत्माराम है। उसका पथ प्रशस्त है। यदि उपर्युक्त पद न प्राप्त हो सके तो भगवान् में सभी कर्मों को निरपेक्ष होकर अर्पित करते हुए भगवन् की कथाओं को सुनना, उनके पराक्रमों को स्मरण करना, सज्जनों के द्वारा बतलाये हुए भक्ति-पथ पर चलना आदि उपक्रमों से वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

वैष्णव का व्यक्तित्व एक विशिष्ट साँचे में ढला हुआ है। वह भगवान् की मूर्ति और भक्त-जनों का दर्शन करता है, भगवान् के जन्म और कर्मों का वर्णन करता

---

१. भागवत ११.३.२०-३० से भक्तों के लक्षण। अकिंचनता, षडगुण (भूख, प्यास, शोक, मोह, जन्म, मृत्यु) को जीतना, कर्मनिष्ठता, मैत्री-भावना आदि के लिए देखिए वही ११.११.२९-३०।

है, भगवान् से सम्बद्ध पर्वों में उत्सव का आयोजन करता है और ऐसे समय में गीत, ताण्डव, वादित्र तथा गोष्ठी से घर में प्रमुदित वातावरण का सर्जन करता है। वैष्णव की मूर्ति-स्थापना में श्रद्धा होती है। वह स्वयं या अनेक लोगों के साथ मिलकर भगवान् के नाम पर उपवन, आक्रीड, मन्दिर आदि का निर्माण कराता है।

वैष्णव का समग्र जीवन भगवान् के लिए होता है। वह उन्हीं स्थानों में रहता है, जहाँ भगवान् के भक्त रहते हैं। वह ऋषि-चाण्डाल, सूर्य-चिनगारी, निर्दय-दयावान् आदि के सम्बन्ध में समदृष्टि रखता है। उसके मानस में सभी प्राणियों के प्रति भगवद्भावना का उत्पन्न होना आवश्यक है :—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ।। भा० ११.२.१६

नारदपुराण में वैष्णव में लोकोपकारी वृत्तियों को प्रतिष्ठित करते हुए कहा गया है—जो व्यक्ति दरिद्र अथवा रोगी मनुष्य की रक्षा करता है, उसकी सभी कामनाएँ विष्णु पूर्ण कर देते हैं। विद्या दान करने से मनुष्य को विष्णु का सायुज्य प्राप्त होता है।

वैष्णव के लिए भोज्याभोज्य का विधान बना, जैसे द्विजातियों को दिन में दो ही बार भोजन करना चाहिए, गोल लौकी, लहसुन, ताड़ का फल और भाँटा नहीं खाना चाहिए।

वैष्णवी भावना

वैष्णवी भावना अतिशय उदात्त है और इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि व्यावहारिक जगत् की परिधि से प्रायः बाहर है। इसके अनुसार विष्णु ही देव, यक्ष, असुर, सिद्ध, नाग, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, राक्षस, मनुष्य, पशु-पक्षी, स्थावर, पिपीलिका, सरीसृप, पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मन, बुद्धि, आत्मा, काल, गुण—इन सबके पारमार्थिक रूप हैं। वे ही विद्या-अविद्या, सत्य-असत्य और विष-अमृत हैं तथा वेदोक्त प्रवृत्त और निवृत्त कर्म भी हैं। विष्णु सभी कर्मों के भोक्ता, उनकी सामग्री और फल हैं। योगी विष्णु का ध्यान करते हैं, याज्ञिक उन्हीं का यजन करते हैं और पितृ-गण और देव-गण के रूप से विष्णु ही हव्य और कव्य के भोक्ता हैं। ऐसी परिस्थिति में भक्त की भावना हो सकती थी—भगवान् अनन्त और सर्वगामी हैं। वे ही मेरे रूप स्थित हैं। अतएव यह सम्पूर्ण जगत् मुझसे ही हुआ है। मैं ही यह सब कुछ हूँ और मुझ सनातन में ही यह सब स्थित है। मैं

ही अक्षय, नित्य और आत्माधार परमात्मा हूँ तथा मैं ही जगत् के आदि और अन्त में स्थित ब्रह्मसंज्ञक परपुरुष हूँ।[1]

आराधना

वैष्णव धर्म में विष्णु के ध्यान की महिमा प्रथम है। ध्यान के दो भेद निराकार और साकार हैं। निराकार का ध्यान ज्ञान-रूप से होता है। योगयुक्त महात्मा तथा परमार्थ-परायण संन्यासी उन सर्वज्ञ तथा सर्वद्रष्टा परमेश्वर के निराकार स्वरूप का ध्यान करते हैं। निराकार विष्णु इन्द्रियों से रहित होते हुए भी इन्द्रियों के सभी कार्य करते हैं। वेद उनकी वाणी है। विष्णु का पूर्ण रूप से ध्यान करने वाला कोई नहीं है। उनके इस निराकार स्वरूप का ध्यान करने वाला परम पद प्राप्त करता है।

विष्णु के साकार ध्यान के लिए अखिल ब्रह्माण्ड को उन्हीं की वासना से वासित माना गया है। विष्णु में ही विश्व का निवास है। विष्णु का साकार रूप मानव मूर्ति के समकक्ष है--कृष्ण वर्ण, सूर्य के समान तेजस्वी, चतुर्भुज, शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारी। विष्णु की ग्रीवा शंख के समान, मुख गोल, आँखें पद्मपत्र के समान बड़ी, दाँत रत्न के समान चमकते हुए, केश घुँघराले और ओठ बिम्बाफल के समान लाल हैं। उनके मस्तक पर किरीट, छाती पर कौस्तुभ मणि आदि अलङ्करण हैं। वे पीताम्बरधारी हैं और गरुड की सवारी करते हैं। विष्णु के उपर्युक्त स्वरूप के ध्यान से विष्णुलोक में प्रतिष्ठित होने की सम्भावना होती थी।

भगवान् का विग्रह दो प्रकार का है--स्थापित और स्वयं व्यक्त। स्थापित विग्रह मूर्त रूप में होता है। जिन स्थानों में भगवान् स्वयं प्रकट हुए हैं, वे स्वयं व्यक्त विग्रह हैं। यह तो साधारण मानवों की पूजा के लिए हुआ। देवताओं और महर्षियों की पूजा के अवसर पर विष्णु प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो जाते हैं। प्रतिमा में विष्णु सदैव सन्निहित रहते हैं। वे काशी, प्रयाग, द्वारिका, बदरिकाश्रम, मथुरा, काञ्ची, श्रीरङ्ग आदि स्थानों में अपने आप प्रकट हुए हैं। इन स्थानों में वे स्वयं सन्निहित होते हैं। घर पर शालिग्राम की पूजा होनी चाहिए। इनके अतिरिक्त विष्णु की पूजा का मानसिक विधान सबके लिए समान रूप से निर्धारित है।

पद्मपुराण में विष्णु की पूजा के तीन रूप मिलते हैं--श्रौत, स्मार्त और आगम। ये पूजाएँ क्रमशः वेद, वासिष्ठी पद्धति और पाञ्चरात्र विधानों के अनुरूप हैं। पूजा के आरम्भ में सुन्दर सिंहासन को पुष्पों से सजा कर उस पर लक्ष्मीनारायण की मूर्ति रखी जाती थी। पूजा के लिए षोडश उपचार--आवाहन, आसन, अर्घ्य,

---

१. भारत के विविध सांस्कृतिक वर्गों को एक सूत्र में गूँथने के लिए यही वैष्णवी भावना नितान्त उपयोगी है।

पाद्य, आचमनीय, स्नानीय, वस्त्र, यज्ञोपवीत, गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल और नमस्कार अपेक्षित थे। षोडशोपचार का समर्पण ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की प्रत्येक ऋचा तथा मूल मन्त्र के साथ अनुबद्ध होता था। अन्त में पुष्पांजलि दी जाती थी। आवाहन मुद्रा द्वारा होता था। फूल और मुद्रा के साथ आसन दिया जाता था। पाद्य, अर्घ्य आचमन और स्नान के लिए अलग-अलग पात्रों में जल रखा जाता था। जल में मांगलिक द्रव्यों के साथ तुलसी-पत्र होता था। मूर्ति का प्रसाधन-कर्म होता था। फिर मधुपर्क दिया जाता था। अन्त में धूप, दीप और नैवेद्य समर्पित होते थे। नैवेद्य के पश्चात् आचमन कराकर ताम्बूल देना, नमस्कार करके स्तोत्रों से स्तुति करना, मूर्ति को गरुड-अङ्क में शयन कराना, विष्णु के नामों का कीर्तन और हवन होता था। हवन करते समय यज्ञ-रूप महाविष्णु का ध्यान करने की पद्धति थी। इसके लिए धारणा होती थी—मेरे हृदय-कमल का मुख ऊपर की ओर है और वह विज्ञान-रूपी सूर्य के प्रकाश से विकसित हो रहा है। हृदय-कमल की वेदत्रयीमयी कर्णिका में क्रमशः अग्नि-बिम्ब, सूर्य-बिम्ब और चन्द्र-बिम्ब का अस्तित्व है। बिम्बों के ऊपर नाना प्रकार के रत्नों द्वारा निर्मित पीठ है। इसके ऊपर अष्टदल कमल में लक्ष्मी के साथ विष्णु विराजमान हैं। इस प्रकार का ध्यान करते हुए १००० या १०० बार अष्टाक्षर मन्त्र का जप किया जाता था। अन्त में भक्तिपूर्वक मानसिक पूजा होती थी और उपस्थित लोगों को अन्न-जल आदि से सन्तुष्ट किया जाता था।

विष्णु को प्रसन्न करने के लिए दिव्य स्तोत्र, मनोरम संगीत, जय-घोष आदि का आयोजन होता था। श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हुए उनकी कथा-वार्ता की जाती थी अथवा भगवान्-सम्बन्धी पदों का गान किया जाता था।

भागवत के अनुसार विष्णु-पूजा सम्बन्धी कर्मकाण्ड के तीन रूप हैं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। पूजा के लिए दुर्लभ वस्तुओं से लेकर अनायास सुलभ अथवा हृद्गत भावों को ही उपादान-रूप में ग्रहण करने की सुविधा रही है। वैदिक और तान्त्रिक विधि से पूजा के लिए आसन, अंगन्यास, करन्यास, मन्त्रन्यास, शरीर की वायुओं और अग्नियों का परिशोधन, भगवान् के आसन में गुण और शक्तियों की भावना आदि का प्रारम्भिक विधान था। फिर भगवान् के आयुधों, अलंकारों और पार्षदों की पूजा के पश्चात् दुर्गा, विनायक, व्यास, विष्वक्सेन आदि की पूजा होती थी। भगवान् की मूर्ति का अभ्यङ्ग, उन्मर्दन, दर्पण दिखाना, दन्त-धावन और पर्व के दिनों में भगवान् के लिए नृत्य, गीत आदि का आयोजन प्रायः अभिनव विधान कहे जा सकते हैं। पूजा करते समय स्वयं भक्त भी कभी-कभी नर्तनशील हो जाता था। वह भगवान् के कर्मों का अभिनय करने लगता था। भक्त भावना करता था कि

भगवान् की ज्योति मुझमें प्रवेश कर गई है। यही वैदिक और तान्त्रिक विधि पूजा के लिए प्रचलित है। भगवान् के लिए मन्दिर बनवाना, भगवान् की पूजा को सतत प्रचलित रखने के लिए अपनी सम्पत्तियाँ दे देना आदि भगवान् की सन्निकटता प्राप्त करने के लिए साधन थे।

विष्णु की पंचपूजा का विधान था। पंचपूजा के अंग अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या हैं। देवस्थान को स्वच्छ करना, निर्माल्य हटाना आदि अभिगमन हैं। पूजा के लिए चन्दन-पुष्प आदि का संग्रह उपादान है। भगवान् को अपने में ही देखना योग है। वैष्णव मन्त्रों का जप स्वाध्याय है। यथार्थ विधि से अर्चना इज्या है। इन पंच पूजाओं से क्रमशः सार्ष्टि, सामीप्य, सालोक्य, और सारूप्य नामक मुक्तियों की सम्भावना थी। इसके अतिरिक्त भगवान् को प्रणाम करने के लिए पृथ्वी पर दण्डवत् की विधि थी। दण्डवत् के समय मन्त्र पढ़ा जाता था--

अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया।
दासोऽहमिति मां मत्वा क्षमस्व मधुसूदन ॥

भगवान् का चरणोदक पिया जाता था और परिवार के सभी लोगों पर छिड़का जाता था। चरणोदक पीने से करोड़ों जन्मों के पापों के नष्ट होने की सम्भावना थी।

विष्णु की पूजा के प्रसंग से शरीर की सर्वतः शुद्धि का आयोजन होता था। इसके द्वारा शरीर के द्वादश अंग--दो पद, दो हस्त, दो कर्ण, दो नेत्र, दो नासिका, मस्तक और अन्तःकरण की शुद्धि होती थी। विष्णु के मन्दिर के लीपने, उनकी प्रतिमा के पीछे-पीछे चलने तथा भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा करने से दो पदों की शूद्धि हो जाती है। पूजा के लिए भक्तिपूर्वक पत्र-पुष्प के संचयन से दोनों हाथ शुद्ध होते हैं। नाम और गुणों के कीर्तन से वाणी शुद्ध होती है। कथा के श्रवण और उत्सवों के दर्शन से कर्ण और नेत्र पवित्र होते हैं। चरणोदक, निर्माल्य तथा माला धारण करने से मस्तक पवित्र होता है। निर्माल्य के सूँघने से नासिका के साथ ही अन्तःकरण शुद्ध होता है। श्रीकृष्ण के चरणों पर समर्पित पत्र-पुष्प से शरीर के सभी अंग शुद्ध हो जाते हैं।

संकीर्तन के लिए विष्णु के सहस्र-नाम-स्तोत्र की रचना हुई। इस स्तोत्र से मोक्ष-प्राप्ति भी सुलभ मानी जाती थी। विष्णु-सहस्र नाम के कीर्तन में अधिक समय लगने की सम्भावना थी। इसलिए सूत्र बना--

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने ॥

वैष्णव धर्म में गंगा के नाम-संकीर्तन की अतिशय महिमा है। पौराणिक धारणा के अनुसार गंगा-गंगा कहने मात्र से ही सभी पापों से छुटकारा होता है और विष्णुलोक की प्राप्ति होती है।

पौराणिक युग में स्तोत्र-पद्धति से पूजा का प्रचलन बढ़ा। वैदिक युग में संहिताओं की स्तोत्रमयी पद्धति का उपयोग यज्ञों में होता था। रामायण और महाभारत में असंख्य स्तोत्र मिलते हैं। भागवत के अनुसार स्तोत्र के माध्यम से विष्णु की आराधना सरलता से हो सकती है। शिव के द्वारा प्रस्तुत भगवान् के स्तोत्र-पाठ से आराधक, जो कुछ चाहे, शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। प्रातःकाल उठते ही हाथ-जोड़ कर श्रद्धापूर्वक उस स्तोत्र को सुनने और सुनाने से कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने की सम्भावना थी।

भागवत के अजामिल प्रकरण से सिद्ध होता है कि भूल से भी नारायण का नाम लेने पर सभी पापों के बन्धन से छुटकारा प्राप्त हो जाता है।

अदेव-पूजा

वैष्णव धर्म में अदेव और कुदेवों की पूजा के साधारणतः परित्याग का विधान मिलता है। इसके अनुसार यक्ष, राक्षस, सर्प और भूतों की पूजा नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण भी इनके पूजन से चाण्डाल हो जाता है और नरकों में गिरता है। इनको निवेदित किया हुआ अन्न रक्त-भोजन है। फिर भी कुछ विशेष इहलौकिक सिद्धियों के लिए अदेवों की पूजा भी अपना ली गई, यथा सौन्दर्य के लिए गन्धर्वों की, पत्नी के लिए उर्वशी की, बाधाओं से बचने के लिए यक्षों की तथा अभिचार के लिए निर्ऋति की पूजा। भागवत के अनुसार देवसृष्टि के अन्तर्गत पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, विद्याधर और किन्नर आदि आते हैं।[1]

दक्षिण में वैष्णव धर्म

ईसवी शती के आरम्भिक युग से दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की अतिशय प्रतिष्ठा हुई। इनके प्रतिष्ठापकों में १२ आलवारों (ऋषियों) के नाम सर्वप्रथम हैं आलवारों की रचनाएँ विष्णु की प्रशंसा में स्तोत्र-रूप में मिलती हैं। इन स्तोत्रों का नाम प्रबन्ध है। प्रबन्धों को वैष्णव वेद के नाम से प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। आलवारों को दिव्य कोटि में मानकर उनकी मूर्तियों को आराध्य देव विष्णु या नारायण की मूर्ति के साथ पूजने का प्रचलन रहा है। वैष्णव धर्म के भक्ति-पक्ष की रस-सरिता को प्रवाहित करने का अनुपम श्रेय आलवारों को है।

---

१. भागवत ३.१०.१४-२८। इस प्रकार आर्य और आर्येतर देवों को एकत्र करने की रीति प्रचलित रही। महाभारत में गृहदेवी के नाम से राक्षसी की पूजा का विधान है।

आलवारों के अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदाय के दार्शनिक पक्ष के उन्नायक अनेक आचार्य हुए। आचार्य-परम्परा का आरम्भ नाथमुनि से माना जा सकता है। इनकी शिष्य-परम्परा में द्वितीय और तृतीय पदों में क्रमशः यामुनाचार्य और रामानुज हुए।

रामानुज का प्रादुर्भाव ग्यारहवीं शती में हुआ। इस युग में वैष्णव धर्म के भक्ति-पक्ष की प्रतिष्ठा शङ्कर के अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के विसंवाद से हिलने-सी लगी। ऐसी परिस्थिति में रामानुज ने शङ्कर के द्वारा सम्मानित ग्रन्थों के आधार पर ही सिद्ध किया कि ईश्वर के पाँच रूप सम्भव हैं—

(१) परब्रह्म या परवासुदेव रूप में ईश्वर वैकुण्ठ में निवास करते हैं। श्री, भू और लीला उनकी सेवा करती हैं। शंख, चक्र, गदा और पद्म उनके हाथों में रहते हैं। मुक्त आत्माएं इन्हीं में विलीन होती हैं।

(२) व्यूह-रूप में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध बन कर ईश्वर सृष्टि का विकास करते हैं। वासुदेव में ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज विद्यमान हैं। शेष तीनों में ये ही गुण क्रमशः दो-दो के युग्म में मिलते हैं।

(३) विभव-रूप में ईश्वर के दस अवतार होते हैं।

(४) अन्तर्यामी रूप में हृदय में विद्यमान होकर योगियों के द्वारा ईश्वर देखे जाते हैं। वे ही वैयक्तिक आत्मा हैं।

(५) मूर्त रूप में देवालयों में ईश्वर की पूजा होती है।

उत्तरभारतीय वैष्णव धर्म

चौदहवीं शती में उत्तर भारत में वैष्णव धर्म के सुप्रसिद्ध उन्नायक रामानन्द रहे हैं। रामानन्द ने कृष्ण और राधा के स्थान पर राम और सीता को प्रतिष्ठित करके अपने नाम को सार्थक किया। वे उच्चकोटि के सुधारक थे। उन्होंने वैष्णव धर्म के लिए जनता की भाषा को माध्यम बनाया। रामानन्द के १३ प्रधान शिष्य हुए, जिनमें से पीपा, कबीर, धन्ना, रैदास और पद्मावती प्रमुख हैं। कबीर ब्राह्मण, शूद्र या जुलाहे थे। रैदास चमार थे। पीपा राजपूत थे। धन्ना जाट थे। पद्मावती स्त्री थी। इस शिष्य-मण्डली को देखने से प्रतीत होता है कि प्रायः सभी वर्गों के लोगों के लिए वैष्णव सम्प्रदाय की सांस्कृतिक निधि ग्राह्य थी। रामानन्द ने सारे भारत में भ्रमण करते हुए वैष्णव सिद्धान्तों का प्रचार किया। सोलहवीं शती में रामानन्द के अनुयायी मलूकदास और तुलसीदास हुए। वैष्णव धर्म के राम-सम्प्रदाय को उत्तर भारत में सनातन प्रतिष्ठा देने का श्रेय तुलसीदास को है।

परवर्ती युग में उत्तर और दक्षिण भारत में अनेक उच्चकोटि के भक्त विद्वान् और सन्त वैष्णव धर्म के प्रचारक और लेखक हुए।

शैव धर्म

भारत में शैव धर्म की प्राचीनतम रूप-रेखा सिन्धु-सभ्यता-युगीन है। इस सभ्यता के शिव के स्वरूप के समान ऋग्वेद में वर्णित रुद्र का स्वरूप मिलता है। वैदिक धारणा के अनुसार रुद्र पशुप (पशुपति) हैं। रुद्र का संहारक होना सभी लोगों के लिए उन्हें स्तुत्य बना देता है। यजुर्वेद के शतरुद्रिय में शिव का परवर्ती स्वरूप मूलतः दृष्टिगोचर होता है। अथर्ववेद में महादेव नाम से शिव व्रात्यों के नायक-रूप में प्रस्तावित हैं। परवर्ती युग के श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव को विष्णु के समान ही देवताओं के आदि प्रभव और हिरण्यगर्भ के उत्पत्ति-स्थान-रूप में बतलाया गया है।[1] महाभारत में शिव की उच्चतर प्रतिष्ठा मिलती है। वे सर्वभूतमहेश्वर, सर्वेश्वर, कल्याणकारी, परमकारण, देशरक्षी और सर्वव्यापक आदि उपाधियों से विभूषित हो कर विशेष लोकप्रिय बन गये हैं।[2] हिमालय पर कृष्ण और अर्जुन ने उनकी स्तुति की।

शिव की सर्वोच्च प्रतिष्ठा पौराणिक युग में दिखाई देती है। वे परमयोगी हैं और ऐश्वर्य में सभी देवताओं से, बल में सभी असुरों से तथा ज्ञान में ऋषियों से बढ़ कर हैं। शिव ने विषपान कर लिया था। इससे उनका लोकरक्षक-रूप प्रसिद्ध हुआ है।

भारतीय काव्य और कला में शिव के व्यक्तित्व और उनके चरित की अतिशय ख्याति सुविदित है। अनेक कवियों और कलाकारों का व्यक्तित्व शिवतत्त्व के परिव्याप्त है। कालिदास शिव के परमोपासक थे। उन्होने विश्व में सर्वत्र शिवतत्त्व का दर्शन किया था। योग और ताण्डव नृत्य शिव की अनुपम विशेषताएँ हैं।

शैव तन्त्र

शैव तन्त्र में तीन पदार्थ--पशुपति, पशु तथा पाश और चार पाद--विद्या, मोक्ष (योग), क्रिया और चर्या की कल्पना मिलती है। शिव पशुपति हैं, जीव पशु है और जीव का मोहात्मक बन्धन पाश है। विद्या के द्वारा ज्ञान का बोध होता है। योग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। योग के लिए चर्या की आवश्यकता पड़ती है। चर्या के विधान से उचित आचरण का ग्रहण और निषिद्ध आचरण का त्याग सिद्ध होता है। क्रिया-पाद दीक्षा-विधि का प्रदर्शन करता है।

---

१. ततः परं ब्रह्म वरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति॥

२. देशरक्षी उपाधि महाभारत में है—
इष्वस्त्रोत्तमभर्त्तारं दिगन्तं देशरक्षिणम्। सौप्तिकपर्व ७ १

मुक्त होने पर प्राणी विद्येश्वर बन कर शिवत्व तो प्राप्त कर लेता है, पर वह शिव के अधीन रहता है। शिव पशु के पूर्व जन्म के कर्मों की ओर दृष्टि रख कर उसके सुख सब और दुःख की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देता है। वही सब कुछ करता है। वह सर्वज्ञ है।

पशुपति का शरीर भौतिक तत्त्वों से नहीं निर्मित्त है, अपितु उसका निर्माण ईशानी शक्तियों और पंच मन्त्रों से हुआ है। शिव के विभिन्न अंग मन्त्ररूप में हैं। पाँच मन्त्रों का पंचांग बनता है। शिव सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह करता है। मन्त्र, मन्त्रेश्वर, महेश्वर और मुक्तात्माएं शिवतत्त्व से समन्वित हैं।

पशु, जीव या जीवात्मा क्षेत्रज्ञ रूप में प्रतिष्ठित है। वह नित्य और विभु है। मुक्तावस्था में वह शिव की भाँति पंचमन्त्रात्मक शरीर वाला हो जाता है। पशु की तीन अवस्थाएँ होती हैं--विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। विज्ञानाकल सभी कलाओं से मुक्त है। यह स्थिति ज्ञान, ध्यान, तप तथा कर्मों का फल भोग लेने पर कर्मों का क्षय हो जाने पर उत्पन्न होती है। विज्ञानाकल केवल मल मात्र से युक्त होता है। प्रलयाकल पशु की कलाओं का अन्त प्रलय के समय हो जाता है। वह कर्म और मल के पाश से आबद्ध होता है। सकल तीन पाश—मल, कर्म और माया से बँधा होता है। पाशों की सबलता और दुर्बलता की दृष्टि से इन तीनों प्रकार के पशुओं की अनेक कोटियाँ मिलती हैं।

पाश चार प्रकार के होते हैं मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति। जीवात्मा की देखने और काम करने की शक्ति को मल आच्छादित कर देता है। कर्म के दो स्वरूप धर्म और अधर्म हैं। माया में प्रलय के समय सारी सृष्टि का विलयन होता है। उसी से सारी सृष्टि का पुनः प्रादुर्भाव होता है। रोध शिव की शक्ति है। यह शेष तीन पाशों का नियन्त्रण करती है और पुरुष के लिए तिरोधायक है।

क्रिया-पाद के द्वारा उन साधनों का विवेचन होता है, जिनके द्वारा कोई पुरुष अपने व्यक्तित्व का इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय की दृष्टि से विकास करता है। इसमें मन्त्र, सन्ध्या, पूजा, जप, होम आदि का विधान मिलता है।

पाशुपत सम्प्रदाय

पाशुपत सम्प्रदाय के आदि-प्रवर्तक शिव के अवतार लकुली माने जाते हैं। लकुली के चार शिष्य कुशिक, गर्ग, मित्र तथा कौरुष्य थे। इनका प्रादुर्भाव दूसरी शती ई० पू० में हुआ। लकुली का प्रमुख ग्रन्थ--पंचाध्यायी या पंचार्थविद्या है।

लकुली के पंचार्थ--कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त हैं। कार्य तीन प्रकार का है--विद्या, कला और पशु। विद्या से ज्ञान होता है। कला के अन्तर्गत

कार्य--पाँच तत्त्व और कारण--दस इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन और अहंकार आते हैं। कारण के द्वारा सृष्टि का पोषण और प्रलय होता है। आदिकारण शिव हैं। योग के द्वारा पशु और पशुपति का सम्बन्ध होता है। धर्म और अर्थ के साधक व्यापार हैं विधि। विधि के दो भेद व्रत और द्वार हैं। व्रत है भस्म-स्नान, भस्म-शय्या उपहार, जप और प्रदक्षिणा। उपहार के अन्तर्गत हसित, गीत, नृत्य, हुडुक्कार, नमस्कार और जप आते हैं।[1] द्वार हैं क्राथन (जागते हुए सोने की मुद्रा), स्पन्दन (अँगों को हिलाना), मण्ठन (लँगड़े की भाँति चलना), शृंगारण (अकारण ही शृंगारमयी प्रवृत्तियों से ओतप्रोत होना), अवितत्करण (विवेकहीन व्यक्तियों के समान काम करना), अवितद्भाषण (प्रमत्त प्रलाप) और दुःखान्त (मुक्ति)। योग के द्वारा अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति भी दुःखान्त के अन्तर्गत आती है।

कापाल तथा कालामुख-सम्प्रदाय

कापाल तथा कालामुख-सम्प्रदाय में शिव के भैरव स्वरूप को मान्यता प्राप्त हुई है। बीभत्स कृत्यों से भैरव को प्रसन्न करके अद्भुत सिद्धि-प्रदर्शन करने का वर्णन साहित्य में प्रायः मिलता है। भैरव की पत्नी चण्डिका वास्तव में प्रचण्ड है। वह नरमुंड-माला धारण करती है और स्वभावतः पूजा के लिए मद्य के साथ नर-बलि चाहती है।

कापालिकों के सम्प्रदाय में छः मुद्रिकाओं--हार, भूषण, कर्णपूर, चूडामणि, भस्म तथा यज्ञोपवीत के तत्त्वों को जानना और उन्हें धारण करना आवश्यक माना गया था। मुद्रिकाधारी के लिए स्वर्गद्वार अनावृत माना जाता था। किसी भी वर्ण का पुरुष इस सम्प्रदाय में दीक्षा लेते ही ब्राह्मण बन जाता था। कापाल-व्रत से सन्त पद की प्राप्ति सम्भव मानी जाती थी। इसके लिए हाथ में कपाल और लौह दंड, कपाल में पीने के लिए नर-रक्त या मद्य होना चाहिए था। कापालिकों का केन्द्र श्रीशैल था।

कालामुख बहुत कुछ कापालिकों के समकक्ष पड़ते थे वे इहलौकिक और पारलौकिक सिद्धियों के लिए छः साधन मानते थे--कपाल में भोजन करना, चिता की भस्म से स्नान करना, उसी भस्म का भक्षण, गदा-धारण, मद्यपात्र रखना और मद्यपात्र में स्थित देव की पूजा करना। रुद्राक्ष की माला, सिर जटा आदि भी उनके साधारण उपादान थे। कालामुख सम्भवतः घोरतम शैव हैं। इनमें से महाव्रतिकों के आचरण तो प्रायः मानवीय संस्कृति से अतिशय दूर प्रतीत होते हैं।

---

१. हुडुक्कार है जिह्वा को तालु से स्पर्श कराते हुए वृषनाद उत्पन्न करना। इसमें हुडुक् ध्वनि उत्पन्न होती है।

काश्मीर शैव सम्प्रदाय

काश्मीर शैव सम्प्रदाय की दो शाखाएँ हैं—स्पन्द-शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र। स्पन्दशास्त्र को शास्त्रीय रूप नवीं शती में वसुगुप्त और उनके शिष्य कल्लट ने दिया। इस शाखा के परिचायक ग्रन्थ शिव सूत्र तथा स्पन्दकारिका हैं। इनके अनुसार हमारी सृष्टि ईश्वर का विश्वात्मक रूप है। शिव ही सृष्टि के उद्भावक हैं। जैसे योगी किसी उपादान के बिना ही वस्तुओं की सृष्टि कर देता है, वैसे ही संसार की सृष्टि भी महायोगी कर देता है।

इस सम्प्रदाय के अनुसार मानव के अज्ञान के कारण हैं मल, माया और कर्म। इनका व्यापार नाद के माध्यम से होता है। नाद शिव की शक्ति है। इससे वाणी का उद्भव होता है। मल, माया और कर्म के पीछे वाणी की प्रस्फोटिका शक्ति वर्त्तमान होती है। इस शक्ति की सहचारिणी अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री और वामा हैं।

मोक्ष के लिए मल, माया और कर्म का प्रभाव दूर होना अपेक्षित है। शिव का साक्षात्कार और उसके साथ तादात्म्य ही मुक्ति है।

दसवीं शती के प्रथम चरण में काश्मीर के दूसरे शैव सम्प्रदाय प्रत्यभिज्ञा को शास्त्रीय रूप सोमनन्द ने दिया। इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि स्पन्दशास्त्र के समकक्ष है। शिव के साथ तादात्म्य के सम्बन्ध में इस दर्शन में कहा गया है कि हम साक्षात् शिव हैं, पर अपने शिवत्व को भूले हुए हैं। ज्यों ही आचार्य के द्वारा इस विस्मृति का निराकरण होता है, मानव के शिवत्व की सिद्धि हो जाती है। उपर्युक्त दोनों दर्शनों में योग की प्रक्रियाओं का कोई महत्त्व नहीं है।

वीरशैव सम्प्रदाय

वीरशैव सम्प्रदाय के प्रथम प्रतिष्ठापकों में चार आराध्य—रेवण सिद्ध, मरुल-सिद्ध, एकोराम और पण्डिताराध्य हैं। इनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय में ब्राह्मण धर्म से अनेक बातों में समरूपता थी। बारहवीं शती में बसव ने इसकी एक अभिनव धारा का प्रवर्तन किया, जिसमें ब्राह्मणधर्मानुरूपता को स्थान नहीं था। आराध्यों का सनातन सम्प्रदाय भी साथ-साथ चलता रहा।

इस सम्प्रदाय की दार्शनिक पृष्ठभूमि के अनुसार शिव चराचर को धारण करने के कारण एकमात्र स्थल हैं। शिव की शक्ति के क्षोभ के कारण स्थल के दो भाग—लिंगस्थल और अङ्गस्थल हो जाते हैं। लिंगस्थल शिव हैं और अंगस्थल जीवात्मा है। शिव अपनी शक्ति से आराध्य हैं। जीव अपनी भक्ति से आराधक है। भक्ति ही लिंगस्थल और अंगस्थल के एकीकरण का साधन है। यही एकीकरण मुक्ति है।

लिंगी ब्राह्मण सर्वोच्च लिंगायत ब्राह्मण हैं। लिंगी ब्राह्मणों के दो भेद हैं——आचार्य और पंचम। आचार्यों की वंश-परम्परा आराध्यों से आरम्भ होती है। पंचमों का उद्‌भाव पंचमुखगणेश्वर से माना जाता है। पंचमुखगणेश्वर शिव के ईशान-मुख से उत्पन्न हुए थे। गणेश्वर के पाँच मुखों से क्रमशः मखारि, कालारि, पुरारि, स्मरारि और वेदारि नामक पंचमों की उत्पत्ति हुई। इन पंचमों से उपपंचमों की उत्पत्ति हुई। पंचम शिव के सच्चे भक्त माने जाते हैं।

लिंगायतों की व्यावसायिक जातियाँ जंगम (आचार्य, पुरोहित), शीलवन्त (सन्त), वन्जिग (व्यापारी), तथा पंचमशाली हैं। जंगम वर्ग के संन्यासी मठों में रहकर अपने व्यक्तित्व का विकास करते हैं। पुरोहित गृहस्थ-जीवन बिताते हैं। लिंगायत मांस-मदिरा से दूर रहते हैं। उनमें विधवाविवाह का प्रचलन है।

लिंगायतों का दीक्षा-मन्त्र है ओ३म् नमः शिवाय। दीक्षा के पश्चात् यज्ञोपवीत के स्थान पर वे लिंग की मूर्ति धारण करते हैं। आचार्य के शब्दों में लिंग जीवात्मा है। स्वयं आचार्य कौशेय वस्त्र में सम्पुटित लिंग को शिष्य के गले में बाँध देता है। कन्याओं की दीक्षा बालकों की भाँति होती है। वे भी लिंग धारण करती हैं।

लिंगायतों की सन्ध्या की शिव-गायत्री वैदिक गायत्री के प्रायः समान है। अन्तर केवल अन्तिम चरण में होता है, जिसमें कहा जाता है——तन्नः शिवः प्रचोदयात्।

लिंगायतों की मान्यता है कि सृष्टि के आरम्भ में स्वयं शिव ने उनकी सृष्टि की है।

द्राविड शैव धर्म

चौथी शती ईसवी के लगभग द्रविड प्रदेश में शैव धर्म का विशेष प्रसार हुआ। परवर्ती युग में स्थानीय शैव प्रवृत्तियों का तामिल भाषा में दिग्दर्शन कराने वाले विस्तृत साहित्य की रचना का आरम्भ सातवीं शती से हुआ। इस साहित्य की द्राविड प्रदेश में वैसी ही प्रतिष्ठा है, जैसी वैदिक संस्कृति में संहिताओं, उपनिषदों और पुराणों की। इन ग्रन्थों की संख्या ११ है। क्रमिक विकास की दृष्टि से प्रथम सात देवारं (वेदों के समकक्ष), आठवाँ तिरुवारागं (उपनिषदों के समकक्ष), नवाँ देवारं के अनुकरण पर भजन, दसवाँ तिरुमूलर नामक योगी की रहस्यात्मक गीता तथा ग्यारहवाँ प्रकीर्णक छन्दों का संग्रह है। परवर्ती आचार्यों के सिद्धान्त-शास्त्र १४ ग्रन्थों में संकलित हैं।

तामिल प्रदेश में राजाओं ने इस सम्प्रदाय को संवर्धित किया। कई राजाओं ने स्वयं उच्चकोटि के धार्मिक साहित्य की रचना की।

पौराणिक युग में विविध देवताओं की पूजा के हेतु मन्दिरों में मूर्ति पूजा का प्रचलन हुआ।

जैन धर्म

जैन धर्म में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र जीव या आत्मा के तीन स्वाभाविक गुण माने गए। इन तीन के सतत अभ्यास से मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करके निर्वाण की अवस्था प्राप्त करता है। निर्वाण प्राप्त कर लेने पर आत्मा निर्विकार और परम शुद्ध हो जाती है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए कर्म के फलों का क्षय हो जाना आवश्यक है। यह पुण्य कर्मों से नहीं मिल सकता, क्योंकि पुण्य कर्मों से सांसारिक सुख और वैभव की प्राप्ति होती है अथवा स्वर्ग में स्थान मिल सकता है। निर्वाण के लिए कर्म से विरत होना और संसार का परित्याग करके संन्यास लेना आवश्यक है।

जैन-धर्म की प्रधान रूप से दो शाखाएँ रही हैं--श्रावक अथवा गृहस्थ धर्म तथा मुनि अथवा संन्यास धर्म।

श्रावक धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। लौकिक अभ्युदय और सामाजिक अभ्युत्थान की दृष्टि से इन व्रतों की अतिशय उपयोगिता है। जैन धर्म की अहिंसा केवल शस्त्र से चोट न पहुँचाने तक ही सीमित नहीं थी। इस अहिंसा का सम्बन्ध मानव जीवन के विविध कर्त्तव्यों से था। छेदना, बाँधना, पीड़ा पहुंचाना, बहुत बोझ लादना और खाना-पीना रोकना आदि सब हिंसा के अन्तर्गत आते हैं। मदिरापान भी हिंसा है। मदिरा में असंख्य जीव होते हैं, जिनकी हिंसा मदिरापायी नित्य करते हैं। सत्य नामक अणुव्रत में निन्दा करना, इधर की बातें उधर करना आदि भी आते हैं। अस्तेय में चोरी का उपाय बताना, चोरी का माल लेना, व्यापारिक वस्तुओं में मिलावट करना, राजा की आज्ञा न मानना, बटखरे और तुला में गड़बड़ी करना आदि आते हैं। ब्रह्मचर्य के अनुसार केवल शरीरतः ही नहीं, अपितु मन से भी अनुचित काम और वासनाओं का त्याग करना चाहिए। अपरिग्रह में सांसारिक और आधिभौतिक सुखों के लिए साधन जुटाने के चक्कर में न पड़ने की शिक्षा दी गई। दूसरे के धन के लिए किसी प्रकार की इच्छा रखना तो पाप माना ही गया, अपने धन में भी ममता रखना बुरा बताया गया।

जैन मुनियों का धर्म अत्यन्त कठोर है। मुनि-धर्म प्रायः तपोमय जीवनचर्या है। इसमें मुनियों के जीतने के लिए २२ परीषह नियत किये गये हैं। परीषहों की कल्पना कुछ-कुछ इस प्रकार है—भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि के निवारण

पौराणिक युग में विविध देवताओं की पूजा के हेतु मन्दिरों में मूर्ति पूजा का प्रचलन हुआ।

जैन धर्म

जैन धर्म में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र जीव या आत्मा के तीन स्वाभाविक गुण माने गए। इन तीन के सतत अभ्यास से मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करके निर्वाण की अवस्था प्राप्त करता है। निर्वाण प्राप्त कर लेने पर आत्मा निर्विकार और परम शुद्ध हो जाती है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए कर्म के फलों का क्षय हो जाना आवश्यक है। यह पुण्य कर्मों से नहीं मिल सकता, क्योंकि पुण्य कर्मों से सांसारिक सुख और वैभव की प्राप्ति होती है अथवा स्वर्ग में स्थान मिल सकता है। निर्वाण के लिए कर्म से विरत होना और संसार का परित्याग करके संन्यास लेना आवश्यक है।

जैन-धर्म की प्रधान रूप से दो शाखाएँ रही हैं--श्रावक अथवा गृहस्थ धर्म तथा मुनि अथवा संन्यास धर्म।

श्रावक धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को महत्वपूर्ण स्थान मिला। लौकिक अभ्युदय और सामाजिक अभ्युत्थान की दृष्टि से इन व्रतों की अतिशय उपयोगिता है। जैन धर्म की अहिंसा केवल शस्त्र से चोट न पहुँचाने तक ही सीमित नहीं थी। इस अहिंसा का सम्बन्ध मानव जीवन के विविध कर्त्तव्यों से था। छेदना, बाँधना, पीड़ा पहुँचाना, बहुत बोझ लादना और खाना-पीना रोकना आदि सब हिंसा के अन्तर्गत आते हैं। मदिरापान भी हिंसा है। मदिरा में असंख्य जीव होते हैं, जिनकी हिंसा मदिरापायी नित्य करते हैं। सत्य नामक अणुव्रत में निन्दा करना, इधर की बातें उधर करना आदि भी आते हैं। अस्तेय में चोरी का उपाय बताना, चोरी का माल लेना, व्यापारिक वस्तुओं में मिलावट करना, राजा की आज्ञा न मानना, बटखरे और तुला में गड़बड़ी करना आदि आते हैं। ब्रह्मचर्य के अनुसार केवल शरीरतः ही नहीं, अपितु मन से भी अनुचित काम और वासनाओं का त्याग करना चाहिए। अपरिग्रह में सांसारिक और आधिभौतिक सुखों के लिए साधन जुटाने के चक्कर में न पड़ने की शिक्षा दी गई। दूसरे के धन के लिए किसी प्रकार की इच्छा रखना तो पाप माना ही गया, अपने धन में भी ममता रखना बुरा बताया गया।

जैन मुनियों का धर्म अत्यन्त कठोर है। मुनि-धर्म प्रायः तपोमय जीवनचर्या है। इसमें मुनियों के जीतने के लिए २२ परीषह नियत किये गये हैं। परीषहों की कल्पना कुछ-कुछ इस प्रकार है--भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि के निवारण

के लिए अत्यधिक प्रयत्न न करना और न उनसे व्याकुल होना, शरीर के मलिन होने पर भी स्नान न करना, कण्टक अथवा मच्छर आदि से कष्ट पाने पर भी उनका निवारण न करना, मारे जाने अथवा बाँधे जाने पर अत्याचारी पर क्रोध न करना आदि।

मानव-व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से जैन धर्म में जीव की १४ कोटियाँ मानी गई हैं, जिन्हें गुण-स्थान करते हैं। पहले गुण-स्थान का मनुष्य मिथ्या अथवा मायात्मक जगत् में ही लीन होता है। दूसरे गुण-स्थान में वह इस परिस्थिति से कुछ-कुछ ऊपर उठता है और सत्पथ की ओर प्रवृत्त होता है। तीसरे गुण-स्थान में वीतरागों की बातें भी सुनता है और कभी-कभी पाखण्डियों के चक्कर में भी पड़ जाता है। चौथे गुण-स्थान में वह सर्वज्ञ के उपदेश को अपना लेता है, पर इन्द्रियों के भोग-विलास में लगा ही रहता है। पाँचवा गुण-स्थान श्रावक का है, जो पाँच अणुव्रतों को अपना लेता है। इसी क्रम से अपने व्यक्तित्व का विकास करते-करते मानव की आत्मा पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाती है और अन्त में निर्वाण की प्राप्ति होती है।

जैन धर्म में श्वेताम्बर और दिगम्बर दो शाखाएँ महावीर की मृत्यु के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् प्रचलित हुईं। दिगम्बर मौलिक धर्म के अनुयायी थे और तपोमय कठोर जीवन के पक्षपाती थे। श्वेताम्बर श्वेत वस्त्र धारण करते थे। इन दोनों शाखाओं का मतभेद सदा बढ़ता रहा।

बौद्ध धर्म

महावीर के समकालीन गौतम बुद्धि ने बौद्ध धर्म का प्रवर्तन ई० पू० छठीं और पाँचवीं शतियों में किया। गौतम ने अपनी युवावस्था में चार साधारण दृश्य देखे—वृद्ध पुरुष, रोगी पुरुष, मृत पुरुष और परिव्राजक (संन्यासी)। इनको देखने से उन्हें सांसारिक भोग-विलासों की निस्सारता का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। सारा जगत् उन्हें मायात्मक प्रतीत हुआ। उन्होंने मन में सोचा—आज तो कोई नौजवान है। वही कभी बूढ़ा होकर दुःखी है। आज का स्वस्थ पुरुष कल रोगी होकर दुःखी है। आज का वैभवशाली पुरुष कल मर कर वैभवविहीन हो जाता है और उसका नाम लेने वाला कोई नहीं रह जाता। उन्हें सारा संसार दुःख से सन्तप्त दिखाई पड़ा। अन्तिम दृश्य में, जो परिव्राजक उन्हें दिखाई पड़ा था, वह उनके हृदय में आशा का संचार करने लगा। उन्होंने देखा कि वह मनुष्य संसार के भोग-विलास में आसक्त न होकर असाधारण जीवन बिता रहा है, जिससे संसार के दुःख की धारा का स्पर्श भी न हो। उन्होंने निश्चय किया 'मैं भी सांसारिक दुःखों से मुक्ति पाऊँगा।'

कई वर्षों के निरन्तर प्रयास के पश्चात् गौतम बुद्ध ने दुःख से छुटकारा पाने का मार्ग ढूंढ़ निकाला। इस मार्ग को धर्मयान या अष्टाङ्गिक मार्ग कहते हैं। अष्टाङ्गिक मार्ग सम्यक् दृष्टि (दुःख के कारण और उनको दूर करने के उपायों को सच मानना), सम्यक् संकल्प (इन्द्रियों के भोग, ईर्ष्या और द्रोह का त्याग), सम्यक् वाणी (झूठ, पर-निन्दा, कटु वचन और अतिभाषण का त्याग), सम्यक् कर्मान्त (हिंसा, चोरी और पाप कर्मों का त्याग), सम्यक् आजीविका (बुरे व्यवसायों का त्याग करके अच्छे व्यवसायों के द्वारा जीविकोपार्जन करना), सम्यक् व्यायाम (अपने अभ्युदय के लिए ही अपनी शक्तियों का उपयोग करना), सम्यक् स्मृति (सदैव सावधान रहकर स्वयं पतन के मार्ग से बचना और अपने मन को अच्छे कामों में लगाना) और सम्यक् समाधि (समाधि और ध्यान के द्वारा शान्ति पाना) है। इस मार्ग के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो पाता है। वह शुद्ध और बुद्ध होकर निर्वाण प्राप्त करता है। कामनाओं से छुटकारा पा जाना निर्वाण है। कामनाओं से मुक्त पुरुष आनन्द पाता है। कामनाएँ दुःख हैं। गौतम ने मानव को उपदेश दिया--सृष्टि में जो कुछ है, वह नश्वर है। अप्रमादी बन कर मुक्ति प्राप्त करो।

उपर्युक्त अष्टाङ्गिक मार्ग पर चलने की योग्यता तभी आ सकती है, जब मनुष्य दस शिक्षा-पदों को अपना ले। शिक्षा-पद इस प्रकार हैं--प्राणातिपात (हिंसा), अदत्तादान (चोरी), अब्रह्मचर्य, असत्य, सुरापान, विकाल (सन्ध्या) भोजन, नृत्य-गीत-वाद्य-प्रदर्शन, माला-गन्ध-विलेपन-धारण-मण्डन-विभूषण, उच्चा-शयन-महाशयन और स्वर्ण-रजत आदि का संग्रह--इन दस से विरत रहना।

वैदिक और जैन धर्म की भाँति बौद्ध धर्म में पुनर्जन्म और कर्मफल की प्रतिष्ठा की गई। जैनों की भाँति बौद्ध आचार्यों ने वेद और तत्सम्बन्धी यज्ञ तथा कर्मकाण्ड को निस्सार बताया। बौद्ध धर्म में मध्यमा प्रतिपदा की सीख दी गई। इसके अनुसार न तो शरीर को अनावश्यक कष्ट देना उचित माना गया और न भोग-विलास में लिप्त रहना ठीक समझा गया। साधारण जीवन बिताने वाला मानव बौद्ध धर्म के अष्टाङ्गिक मार्ग का अनुसरण कर सकता था। स्वयं गौतम बुद्ध ने भिक्षुओं के रहने के लिए विहार तथा उपयोग के लिए कुर्सी, चौकी, चारपाई, तकिया, ओसारा, चबूतरा, वस्त्र, सुई, तागा, अरगन, मसहरी इत्यादि को उचित ठहराया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि भिक्षुओं को विलास और क्लेश दोनों की अधिकता से बचना चाहिए।

समय बीतने पर गौतम बुद्ध को देवता माना जाने लगा। कनिष्क के समय में उन्हें देवातिदेव की उपाधि दी गई। वैष्णव या भागवत धर्म के विष्णु की भाँति

उनके अवतारों की कल्पना की गई। मानवता को ज्ञान देने के लिए तथा दुःख-निवारण करने के लिए अवतार होते हैं। इसी समय बौद्ध धर्म की महायान-शाखा विकसित हुई। मौलिक बौद्ध धर्म हीनयान रह गया। हीनयान में कोई मनुष्य केवल अपने व्यक्तिगत निर्वाण के लिए प्रयत्न कर सकता है, पर महायान के अनुसार अनेक बार जन्म लेकर सभी प्राणियों की निर्वाण-प्राप्ति का यत्न किया जाता है। इस प्रकार हीनयान महायान की तुलना में हीन सिद्ध होता है। नागार्जुन ने महायान शाखा के सिद्धान्तों का विशद विवेचन करके उसे प्रतिष्ठित किया था।

महायान, शैव और वैष्णव धर्मों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा। तीनों धर्मों में मन्दिर और मूर्तियों की स्थापना और पूजा होती थी। वैष्णव धर्म के अनुसार गौतम बुद्ध विष्णु के अवतार माने गए। दोनों धर्मों के निकट सम्पर्क में आने पर समानता के कारण बौद्ध धर्म वैष्णव धर्म में अन्तर्हित होने लगा। बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के तान्त्रिक अनुयायी शैव और शाक्त मतावलम्बियों के प्रायः समान थे।

विश्व में बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या सर्वाधिक है।

धार्मिक सहिष्णुता

प्राचीन भारत धार्मिक सहिष्णुता के लिए विख्यात था। प्रत्येक धर्म में अन्य धर्मों की अच्छी बातों का समावेश कर लिया जाता था। सभी धर्मों में प्राणिमात्र पर दया, विश्वबन्धुत्व, सत्य, अहिंसा और आचार-विचार की शुद्धता को सर्वप्रथम स्थान दिया गया, समान रूप से महापुरुषों की प्रतिष्ठा की गई और व्रत तथा उपवास के द्वारा शारीरिक और मानसिक शुद्धता संभव बताई गई। इस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता की जड़ में सभी धर्मों की वास्तविक एकता प्रधान रही है।

घृणा को किसी धर्म ने नहीं अपनाया। ऐसी परिस्थिति में किसी दूसरे धर्म के प्रति द्वेषभाव रखना किसी धर्म ने नहीं सिखाया है। अनेक राजाओं ने अपने धर्म से भिन्न धर्मों को भी आगे बढ़ाया। कई राजाओं का धर्म तो आज तक निश्चित नहीं हो सका है, क्योंकि अनेक धर्मों के प्रति उनकी समान आस्था थी। महाकवियों ने विभिन्न धर्मों को समान मान कर अपनी रचनाओं में उन्हें प्रतिष्ठित किया। विद्यालयों में विभिन्न धर्मों के ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन कराया जाता था। वास्तविक विद्वान् विभिन्न धर्मों का निष्पक्ष भाव से अध्ययन करते थे। मन्दिरों में विभिन्न धर्मों के देवताओं की प्रतिष्ठा साथ भी होती थी। किसी कुटुम्ब में विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोग प्रेमपूर्वक रह लेते थे।

महाभारत में धर्मों के परस्पर सहयोग की प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है--

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत् ।
अविरोधात् तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम ।।

अर्थात् धर्म वही है जो किसी धर्म का विरोध नहीं करता। जो धर्म किसी धर्म का विरोध करता है, वह कुधर्म है।

विपुलता

भारतीय धर्म की विपुलता इसकी सर्वातिशायिनी विशेषता है। महासागर की भाँति इसके भीतर असंख्य और अनन्त तत्त्वों का संनिधान मिलता है। इसकी इस दृष्टि से तुलना में अन्य वैदेशिक धर्म सीमित प्रतीत होते हैं, जहाँ यह असीम है। महासागर की भाँति भारतीय धर्मरूपी महावृक्ष की किसी एक शाखा या प्रशाखा मात्र पर आश्रय लेना पर्याप्त है। वहाँ से महावृक्ष की छाया मिलती रहेगी। यह आवश्यक नहीं कि कोई अनेक शाखाओं को अपनी पकड़ में लाये। महासागर के असंख्य रत्न हैं। सबकी उपयोगिता सब के लिए नहीं है, पर प्रत्येक की उपयोगिता किसी न किसी के लिए है ही। उसी प्रकार धर्म की अनन्त शाखाओं और प्रशाखाओं की उपयोगिता किसी न किसी के लिए कभी न कभी रही है और रहेगी।

षष्ठ अध्याय

सामाजिक संस्थान

विश्व के असंख्य प्राणधारियों में मानव अपनी सांस्कृतिक तथा शरीरिक विशेषताओं के बल पर स्पष्ट ही सर्वोपरि होने के साथ ही एक भिन्न जाति है। मानव-जाति देश-भेद और संस्कृति-भेद के अनुसार असंख्य वर्गों में विभाजित होती आई है। वर्गीय विभाजनों का अस्तित्व विश्व के सभी भूभागों में किसी न किसी रूप में सदा रहा है और रहेगा। भारत में वर्गीय विभाजन को जाति-सम्बन्धी विभाजन कहते हैं।[1]

सामाजिक संघटन

आत्मरक्षा की दृष्टि से समाज की इकाई कुटुम्ब है। कुटुम्ब में किसी व्यक्ति के माता-पिता, भ्राता तथा स्त्री-पुत्र के साधारणतः एक घर में रहने का नियम रहा है। ये एक कुटुम्ब के सदस्य होने के नाते उस कुटुम्ब की चराचर सम्पत्ति, प्रतिष्ठा और पाप-पुण्य के भागी होते थे। किसी एक स्थान के सहस्रों व्यक्ति किसी एक

---

१. जाति शब्द का प्रयोग इस वाक्य में अपने मौलिक अर्थ से सीमित अभिप्राय का द्योतक नहीं है। मूल अर्थ में जाति जन्म-सम्बन्धी विशेषताओं को बतलाती है। जिन विशेषताओं को लेकर शिशु जन्म लेता है, वे उसकी जाति का परिचय कराते हैं। ऐसी विशेषताओं में माता-पिता की प्रवृत्तियाँ, शारीरिक रूपरंग, आकार-प्रकार और भारतीय दृष्टि से पूर्व जीवन के संस्कार आदि आते है। वर्त्तमान जीवन में अपने निजी प्रयास से कोई मनुष्य जिन उच्चतर सांस्कृतिक विशेषताओं को स्वीकारता है, उनको जाति शब्द मूलतः व्यक्त करने में असमर्थ है। फिर भी जाति शब्द से इन विशेषताओं का बोध कालान्तर में कराया गया है। यह जाति शब्द के अर्थ-विस्तार के द्वारा सम्भव हुआ है। भाषा-विज्ञानी अर्थ-विस्तार के सिद्धान्त से पूर्ण रूप से परिचित हैं। इस प्रकार मनुष्य-जाति और नीग्रो-जाति अपने मूल अर्थ में जाति शब्द के प्रयोग को इंगित करते हैं और ब्राह्मण जाति, क्षत्रिय जाति आदि पदों में जाति शब्द का अर्थ-विस्तार प्रत्यक्ष है। ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि प्रारम्भ में संस्कृति-विशिष्ट उपाधियों की भाँति प्रयुक्त होते थे, जैसे आजकल विश्वविद्यालयों की बी० ए०, बी० काम० आदि उपाधियाँ हैं। आजकल ब्राह्मण आदि नामों से किसी व्यवसाय या सांस्कृतिक उच्चता का बोध नहीं हो पा रहा है।

पूर्व पुरुष से अपने उद्गम का अनुसन्धान करके अपने एक कुल की कल्पना करते थे। ऋग्वेद में वर्णित 'पंचकृष्टि' इसी प्रकार की संस्था थी, जिसे कुल के समकक्ष रखा जा सकता है।[१] प्रारम्भिक वैदिक संस्कृति में एक कुल या कुटुम्ब के लोग विविध व्यवसायों में लगे रह कर अपनी जीविका उपार्जित कर सकते थे। यह व्यवस्था आजकल की कौटुम्बिक व्यवस्था के प्रायः समान पड़ती है, जिसमें विविध व्यवसायों के लोग एक कुटुम्ब में जातिगत ऊँच-नीच के भाव से रहित होकर रहते हैं, यद्यपि व्यावसायिक उच्चता या हीनता का भाव उनमें वर्त्तमान रहता है।

किसी भी मनुष्य की इच्छा होती है कि मेरे पुत्र समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करें। स्वभावतः मनुष्य अपने व्यवसाय द्वारा अपने पुत्र की प्रतिष्ठा की कामना करता आ रहा है। वास्तव में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है कि मेरे व्यवसाय की उन्नति हो। जिस व्यवसाय को मैंने चुना है, जिसके द्वारा मेरी जीविका चली और ऐसी परिस्थिति में जो व्यवसाय मेरे व्यक्तित्व का अंग बन चुका है, वह मेरे पुत्र के द्वारा संवर्धित हो और उसे मेरा पुत्र संवर्धित करे।[२]

उपर्युक्त धारणा के अनुसार प्रत्येक कुल में अनेक व्यवसायों को अपनाने वाले लोगों की आनुवंशिक परम्परा चली। फिर तो व्यवसाय-विशेष में प्रगति करने वाले लोगों या कुटुम्बों का नाम उन व्यवसायों के नाम पर चल पड़ा।

व्यवसायों की संख्या असीम है। उनके नाम पर चलने वाला विभाजन समाज को असंख्य भागों में आजकल की ही भाँति उस प्राचीन काल में बाँट चुका था। यद्यपि कुछ व्यवसाय उच्च और कुछ हीन माने जाते थे, फिर भी प्राचीन काल में कम ही लोग उच्च व्यवसायों को अपनाने की सुविधा होने पर भी उनकी कठोरतावश उनकी ओर प्रवृत्त हुए।

व्यावसायिक प्रवृत्तियाँ

विविध व्यवसायों को स्वेच्छा से अपनाने के लिए तदनुकूल प्रवृत्ति का होना अपेक्षित है। जिस व्यवसाय के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति न हो, उस व्यवसाय के उच्च होने पर भी मनुष्य उसे नहीं अपनाता। इसके विपरीत प्रवृत्ति होने पर हीनतर व्यवसायों की ओर उच्च कुल के लोग साधारणतः झुकते हैं। प्राचीन भारत ने वैदिक काल में अपनी आवश्यकताओं और संस्कृति के अनुरूप दो व्यवसायों को सर्वोच्च प्रतिष्ठित किया (१) पौरोहित्य--ब्राह्मण-कर्म या कवि-कर्म और (२) समाज की

१. ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार भी देव, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा, सर्प और पितृगण--पंचजन है। ३.३१

२. भारतीय धारणा के अनुसार 'आत्मा वै जायते पुत्रः' अर्थात् पुरुष पुत्र रूप में स्वयं उत्पन्न होता है। ऐसी धारणा व्यवसायों के आनुवंशिक होने का कारण बनती है।

रक्षा के लिए शस्त्र-धारण करना या क्षात्र-कर्म। इनमें से पौरोहित्य अतिशय कठिन और तप:साध्य था। इसके लिए ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करते हुए निष्काम और तपोमय जीवन बिताना पड़ता था। पुरोहित का सारा जीवन राष्ट्र के कल्याण के लिए होता था। उसके जीवन में आधिभौतिक सुखों को स्थान नहीं था। समाज की रक्षा के लिए शस्त्र-धारण करना उस प्राचीन काल में कठोर कर्म था। इस व्यवसाय को अपनाने वाले व्यक्ति को समाज की रक्षा के लिए युद्ध-भूमि में नित्य प्राण का संशय होने पर भी लड़ने के लिए सन्नद्ध रहना पड़ता था।

उपर्युक्त दोनों व्यवसायों को अपनाने वालों की संख्या प्राचीन भारत में स्वल्प रही। ऐसे लोगों की संख्या उस युग में न्यून नहीं थी, जो ब्राह्मण कुलोत्पन्न होने पर भी ब्रह्मचर्य की विभीषिका से सन्त्रस्त होकर किसी वैश्योचित या शूद्रोचित काम में लग जाते थे। क्षत्रिय-पुत्र भी अपने आनुवंशिक कर्म की कठोरता को अपनाने में सुखसौरभ की इतिश्री मान कर आधिभौतिक सुख देने वाले व्यवसायों की ओर झुकते थे और कालान्तर में उनसे वैश्य-कुल का प्रवर्तन हो जाता था। समाज में ब्राह्मण और क्षत्रिय की सर्वोच्च प्रतिष्ठा देखकर हीनतर वर्गों के लोग कभी-कभी ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिए सफल प्रयास करते थे।

राष्ट्रीय संघटन

प्राचीन भारत के सामने राष्ट्रीय संघटन की समस्या अत्यन्त गहन थी। उच्च और हीन संस्कृतियों के अगणित जन-समुदाय देश के विधि भूभागों में विराजमान थे। उन सबको एक राष्ट्रीय सूत्र में गूँथने का काम जिस शतवर्षीय योजना के अनुसार सम्पन्न किया गया, वह वर्ण-व्यवस्था है। विविध वर्णों (रंगों) और विविध संस्कृतियों के लोगों को राष्ट्रीय अभ्युदय और शान्ति के महायज्ञ का यजमान बना देना, उनको एकमुख कर देना और उनके बीच संघर्षों को उन्मूलित कर देना—ये सभी काम करने वाले उस प्राचीन युग के महर्षि हैं। ऐसे महर्षियों का प्रादुर्भाव सभी वर्णों में, सभी जातियों में और सभी प्रादेशिक भागों में हुआ। इस योजना के पीछे जीवन की मान्यताओं की प्रतिष्ठा प्रधान है, जिनको दृष्टिपथ में रखकर तपस्वी सांसारिक सुखों से विरत होकर, आचार्य अविश्राम गति से पदचर्या करके और अवतार सार्वत्रिक विचक्षणता के बल पर राष्ट्र का कल्याण करते थे। ऋषियों ने इन सबके मुख से वह वाणी नि:सृत कराई, जो सबको प्रिय और ग्रहणीय लगी।

आर्यीकरण

वैदिक संस्कृति आर्य-संस्कृति है।।[1] इस संस्कृति का प्रथम उद्देश्य था व्यक्तिगत कल्याण का आयोजन करते हुए समष्टिगत कल्याण करना। ऐसी संस्कृति में सहिष्णुता

१. इस संस्कृति के उन्नायक और अनुयायी सर्वप्रथम आर्य रहे हैं। इस संस्कृति को जो कोई अपना लेता था, वह आर्य बन जाता था।

की भावना का होना सर्वोपरि तत्त्व है। आर्यों की सहिष्णुता वह गुण है, जो भारत के सभी जन-समुदायों को साथ चलाने के लिए अथवा उनको एकमुख बनाने के लिए सबसे बढ़ कर अपेक्षित थी।

आर्य-संस्कृति के महासागर में आर्येतर संस्कृतियों की महानदियाँ अपना नाम और रूप खोकर शनैः-शनैः विलीन हो गईं। इस प्रकार विविध आर्येतर संस्कृतियों के अनुयायियों को आर्य-संस्कृति अपनाने का स्वर्ण अवसर मिला। अनेक आर्येतर वर्ग के लोग ऋषि बन कर वैदिक सूक्तों की रचना करने लगे।[1] अर्बुद यज्ञ-विद्या का महान् पण्डित हो गया। गन्धर्व-संस्कृति के लोग वेद-पाठ करते थे। यज्ञ के अवसर पर सभी आर्येतर संस्कृति के अनुयायियों को भी आमन्त्रण दिया जाता था और उनको यज्ञ-विद्या की शिक्षा दी जाती थी। देवर्षि आर्येतर संस्कृति वालों को आर्य बनाने के लिए सतत समुत्सुक रहते थे।

आर्येतर वर्ग की कन्याएँ आर्यों के घर में पत्नी बन कर आ सकती थीं। ऐसी स्त्रियों का पति के घर में पदार्पण करते ही आर्यीकरण हो जाता था। उन स्त्रियों की सन्तान आर्य होती थी। त्वष्टा नामक आर्य ने असुर-कुल में उत्पन्न रचना से विवाह किया। उसका पुत्र विश्वरूप आर्यों के पौरोहित्य के लिए नियुक्त हुआ था। ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता महीदास इतरा नामक दासी के पुत्र थे। आर्येतर कन्याओं के इस प्रकार आर्यगृहों में परिगृहीत होने पर आर्येतर संस्कृति स्वभावतः आर्यों के बीच प्रतिष्ठित हुई। इन्द्र का दैत्यकन्या शची से विवाह सुविदित है।

रामायण और महाभारत-युग में आर्य और आर्येतर लोगों के वैवाहिक सम्बन्धों के होने से तत्कालीन आर्यीकरण की प्रवृत्ति की प्रगति प्रतीत होती है।[2] कुछ आर्यों ने आर्येतरों के बीच अपनी वसति बना कर आर्य-संस्कृति में उन्हें लाने का विशेष प्रयास किया। आर्य ऋषि शुक्राचार्य असुरों के पुरोहित बन गये। आचार्य अगस्त्य ने विन्ध्य के उस पार जाकर दक्षिण भारत के आर्येतर लोगों को आर्य बनाने में अपना सारा जीवन लगा दिया।

महाभारत के अनुसार यवन, किरात, गान्धार, चीन, शबर, बर्बर, शक, तुसार, कङ्क, पह्लव आन्ध्र, मद्रक, पौण्ड्र, पुलिन्द, रमठ, काम्बोज आदि आर्येतर लोगों को आर्य-पथ पर लाने के लिए राजधर्म बनाया गया। यथा, सभी दस्यु (आर्येतर संस्कृति के

१. अर्बुद और जरत्कर्ण नाग-संस्कृति से अनुयायी थे। इनके रचे हुए सूक्त ऋग्वेद में क्रमशः १०.९४ और १०.७६ हैं।

२. जरत्कारु ने नाग-कन्या से, भीम ने राक्षस-कन्या से और रावण के पिता विश्रवा ने राक्षस-कन्या से विवाह किया था।

लोग) माता-पिता, आचार्य, गुरु और आश्रमवासियों की सेवा करें। वेदों की धार्मिक क्रियाएँ उनके लिए भी हैं। वे पितृ-यज्ञ करें, कूप-प्याऊ आदि का निर्माण करें और अतिथियों के लिए शयनासन का प्रबन्ध करें। वे ब्राह्मणों को सदा दान दें। अहिंसा सत्य, अक्रोध, सबका पालन, पुत्र-स्त्री का भरण-पोषण, पवित्रता, प्रेम आदि को सभी अपनाएँ। उनको पाकयज्ञ करना चाहिए।'

अपने उत्सवों में आर्य सबको सम्मिलित करते थे। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर म्लेच्छों को भी निमन्त्रण दिया गया था। विश्वजित्-यज्ञ में आर्य यजमान अस्थायी रूप से निषाद के घर प्रवास में रहता था। ऐसा याज्ञिक कार्यकलाप आर्येतरों को आर्यों के निकट लाता रहा है।

आर्येतर वर्ग के लोग युद्धों में आर्यों का साथ देते थे। वानर-संस्कृति के लोगों ने राम को सीता की प्राप्ति कराने में सहायता की थी। समुद्र का मन्थन करने में देवासुरादि नाना जातियों का साहचर्य सुप्रसिद्ध ही है। इस साहचर्य के वातावरण में कहीं नागवर्गीय शेष तप करता दिखाई देता है और प्रह्लाद पिता की आज्ञाओं के विरुद्ध भी विष्णुभक्त हो जाता है। राक्षस भी वेदाध्ययन करते हैं और दानव तप करते हुए देखे जाते हैं।

उपर्युक्त उद्धरण से यह नहीं समझना चाहिए कि संस्कृति-प्रसार के इस कार्य में कहीं बल-प्रयोग किया गया। संस्कृति-प्रसार का कार्य भारत ने सदैव प्रेमपूर्वक किया है। सबको अपनी सांस्कृतिक दृष्टि से अपने समान बनाने का कार्य उदात्त था।

उपर्युक्त आर्यीकरण का परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन भारत की विविध संस्कृतियों को अपनाये हुए जन-समुदाय भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अभिन्न अंग बन गये। वैदिक आर्येतर---असुर, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, पिशाच, निषाद, म्लेच्छ आदि तथा महाभारतीय किरात, शबर, बर्बर आदि सभी के सभी कालान्तर में आर्य-समाज में इस प्रकार घुलमिल गये कि आज उनका नाम-मात्र इतिहास में शेष है।[1] भारत में विदेशों से जो जनसमुदाय समय-समय पर आये, वे पूर्णरूप से भारतीय सामाजिक व्यवस्था में गुँथ गये।[2] आज भी ग्रीक राजदूत हेलिओदोर का गरुडस्तम्भ विदिशा के निकट विराजमान है। वह स्वयं वैष्णव संस्कृति में दीक्षित हो चुका था।

---

१. विश्व के अन्य भूभागों में प्रायः यही समस्या समय-समय पर उत्पन्न हुई, पर वहाँ इसका समाधान जिस ढंग से किया गया, वह अशोभन है। आज भी अमेरिका में आदिवासियों को मिटाने की नृशंस योजना चल रही है।

२. इस नियम के अपवाद परवर्ती मुसलमान हैं। आरम्भ में उनके अनेक समुदाय भारतीय व्यवस्था के अंग बन गये थे।

भारत में आने वाले मग, शक, आभीर, कुशन, हूण, गुर्जर, चाहमान और मैत्रक आदि भारतीय संस्कृति के रंग में रँग गये। परिणामतः भारत में आर्येतरांश अधिक हो गया और यद्यपि लोग आर्य कहे जाते थे और उनकी संस्कृति आर्य कही जाती थी, पर वास्तविकता है कि भारतीय संस्कृति और धर्म में आर्येतरांश सातिशय होकर रहा, क्योंकि आर्येतर अपनी संस्कृति के साथ भारतीय समाज में मिले।

वर्ण-परिवर्तन

आर्यों का समाज वैदिक युग से चार वर्णों में विभक्त रहा है——ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। आरम्भ में वर्ण-व्यवस्था का द्वार आर्य वर्ग में सम्मिलित होने की इच्छा करने वाले आर्येतर लोगों के लिए खुला रखा गया। वर्ण-व्यवस्था के मुख्य आधार गुण और कर्म रहे हैं। किसी भी पुरुष की जाति उसकी प्राप्तव्य जाति के अनुरूप गुण और कर्म अपना लेने पर परिवर्तित हो सकती थी।[1]

सिद्धान्त-पक्ष

सम्भव है, यह व्यवहार में कहीं-कहीं ही दृष्टिगोचर होता हो, पर सिद्धान्त रूप में अवश्य ही विधान था कि शोभन कर्मों के द्वारा उच्चतर जाति की प्राप्ति वर्त्तमान जीवन में होती है और मरणोत्तर जीवन में भी होती है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार रमणीय आचरण से रमणीय योनि——ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य की प्राप्ति होती है और हीन आचरण से कुत्ते, सूअर या चाण्डाल की योनि में पुनर्जन्म होने की सम्भावना है। यह गति पुनर्जन्म के लिए थी। वर्त्तमान जीवन के

---

१. यदि कोई व्यक्ति अपने पिता के गुण और कर्मों को नहीं अपनाता था तो उसे पिता की जाति हीनताद्योतक शब्दों से उपहित होकर प्राप्त होती थी। इस प्रकार की उपाधियां थीं——जाति-ब्राह्मण, ब्रह्मबन्धु आदि। ये उन व्यक्तियों को मिलती थीं, जो ब्राह्मण-पिता के पुत्र होने पर भी ब्राह्मणोचित संस्कारों से विहीन होते थे। इसको प्रमाणित करते हुए कहा गया है——

तपः श्रुतं च योतिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ।। महाभाष्य २.२.६

व्यवहार में जातिपरिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते है। इन्द्र ब्रह्मा का पुत्र ब्राह्मण था, पर कर्म से क्षत्रिय हो गया। जनक और विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये। ऐतिहासिक युग में अनेक ब्राह्मण राजा कालान्तर में क्षत्रिय-वंशी बने। यथा मयूर शर्मा। छठीं शती में हरिश्चन्द्र नामक ब्राह्मण राजा से प्रतिहार नामक क्षत्रिय राजवंश का प्रादुर्भाव हुआ। परमारवंशी मुंज ब्राह्मण था, पर शस्त्र धारण करके क्षत्रिय बन गया।

विषय में आपस्तम्ब के अनुसार जघन्य वर्ण धर्मचर्या से उत्तम वर्ण की प्राप्ति करता है और उत्तम वर्ण वाला भी अधर्माचरण से हीनतर जाति का हो जाता है। बोधायन ने नियम बनाया कि जो ब्राह्मण गायत्री से विहीन हो जाय, उससे राजा शूद्र का काम कराये।

महाभारत में कर्मानुसार जाति की प्रतिष्ठा करते हुए कहा गया है—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥
सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः॥
शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥

शान्ति प० १८८-१०; १८९.७,८

सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति॥

अनुशासन प० १४३.५२

महाभारत का तो स्पष्ट मत है कि शोभन आचार से शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बन जाता है। इसी प्रकार नीच वृत्ति से ब्राह्मण भी पूर्ण रूप में शूद्र हो जाता है। अपने जीवन-काल में अनेकशः जाति-परिवर्तन की सम्भावना थी।

मनु का शाश्वत प्रमाण है कि द्विज भी वेद न पढ़ कर दूसरे कामों में लग जाय तो केवल वही नहीं, उसका पूरा वंश शूद्र बन जाता है। संस्कृति-विहीन क्षत्रिय वृषल हुए।

अत्रि की स्मृति में जाति-सम्बन्धी एक नई प्रवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार ब्राह्मण-कुलोत्पन्न अपनी जाति के योग्य कर्म न करता हुआ भी अपने को ब्राह्मण कह सकता था, किन्तु उसे कर्मोचित जाति भी समाज दे ही देता था। मान लीजिए कोई ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियों का काम करता है तो वह राजब्राह्मण है। इसी प्रकार वैश्य-ब्राह्मण, शूद्र-ब्राह्मण, निषाद-ब्राह्मण, पशु-ब्राह्मण, म्लेच्छ-ब्राह्मण और चाण्डाल-ब्राह्मण हो सकते थे। अत्रि ने इसी प्रसङ्ग में देव-ब्राह्मण और मुनि-ब्राह्मण आदि कर्मानुसार उपाधियों की चर्चा की है। जो ब्राह्मण देव-संस्कृति और मुनि-संस्कृति को अपना लेते थे, उन्हें ये उपाधियाँ प्राप्त होती थीं।

भागवत में उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए कहा गया है कि लक्षण देखकर जाति का निर्धारण करना चाहिए—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यंजकम् ।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत् ।।७.११.३५

कुलोचित जाति को गुणोचित प्रकृष्टता के आधार पर प्रतिष्ठापित करना प्राचीन युग में भी आजकल की भाँति कठिन रहा होगा। ऐसी परिस्थिति में वृत्ति से या कर्म से ब्राह्मण बनने की इच्छा करने वालों की संख्या स्वल्प ही थी। साधारणतः ब्राह्मण में अपनी वृत्ति की दुःसाध्यता से खिन्नता होने पर क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बन जाने की प्रवृत्ति विशेष रही है। जब ब्राह्मण का कर्म न करने वाले भी ब्राह्मण-उपाधि रखकर अपने मिथ्याभिमान का परिरक्षण करने में तत्पर हुए तो उन्हें जाति-ब्राह्मण कह कर उनकी मर्यादा नियत कर दी गई।[1] वास्तविक ब्राह्मण तो वही माने गए जो पतञ्जलि के शब्दों में--**एतस्मिन् आर्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्रभवन्तः शिष्टाः।** उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों को शिष्ट कहा गया। फिर भी प्राक्तन ब्राह्मणों के तप और त्याग के फलस्वरूप नामधारी ब्राह्मणों की पूजा करने की रीति चलती रही है।

अस्पृश्यता

भारतीय दार्शनिक विचार-धारा के अनुसार सभी ब्रह्म के स्वरूप हैं। यह विचार-धारा सभी प्राणियों के प्रति समभाव की दृष्टि उद्बोधित करती है। अस्पृश्यता की रीति इस विचार-धारा के प्रतिकूल पड़ती है। इस कुरीति का एकमात्र आधार अहंभाव की प्रौढता और अज्ञान रहे हैं।

वैदिक काल में अस्पृश्यता का कोढ़ नहीं था। गौतम ने ब्राह्मणों के विषय में लिखा है कि वे पशु-पालक, कृषक, कुल के मित्र, नाई अथवा दास आदि के घर पर भोजन कर सकते हैं, यद्यपि वे शूद्र हों। आपस्तम्ब के अनुसार शूद्र भोजन बनाने के लिए ब्राह्मण के घर नियुक्त हो सकता है। हाँ, ब्राह्मण या वैश्य जाति का कोई मनुष्य वहाँ अध्यक्ष रहना चाहिए। पराशर के अनुसार ब्राह्मण खाने के लिए शूद्र के घर से घी, तेल, दूध, गुड़ और तेल की पकी वस्तुएँ ले सकता है, पर उन्हें नदी के तट पर ले जाकर खाये। उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि जैसी अस्पृश्यता भारत के कुछ सनातनी कोनों में आज-कल पाई जाती है, वैसी इस देश में प्राचीन काल में कभी नहीं थी। अस्पृश्यता का ढोंग मध्ययुगीन है।

जाति-प्रथा से हानि-लाभ

जाति-व्यवस्था का मूलाधार जब तक कर्म और सदाचार रहे हैं, वह अवश्य

१. पतञ्जलि ऐसे ब्राह्मणों को कर्म से शूद्र मानते हैं। अष्टाध्यायी ४.१.९३ पर व्याख्यान।

ही समाज के लिए लाभप्रद सिद्ध हुई है। कोई शूद्र ही क्यों न हो यदि वह ब्राह्मणोचित कर्म करे तो समाज उसे ब्राह्मण मानता था, पर दुर्भाग्यवश ऐसी जाति की व्यवस्था भारतीय समाज में वैदिक काल के पश्चात् सार्वजनिक रूप में नहीं दृष्टिगोचर होती। जाति ज्योंही जन्मानुसार मानी जाने लगी, वह भारतीय समाज के लिए हानिकर सिद्ध हुई। कर्मानुसार जाति होने पर उच्च कर्मों के द्वारा समाज में प्रतिष्ठित पद पाने की कामना सबको रहती होगी, पर जन्मानुसार जाति के होने पर तो 'दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न शूद्रो विजितेन्द्रियः' का भाव लोगों में आ गया होगा। ऐसी परिस्थिति ब्राह्मणों के पतन के लिए रही होगी और वह शूद्रों और वैश्यों के अभ्युत्थान में बाधक हुई होगी। यदि वेदों का अध्ययन और तपोमय जीवन ब्राह्मण कुल में उत्पन्न पुरुष के लिए सुखकर और कल्याण-प्रद हैं तो वे शूद्रकुल में उत्पन्न किसी पुरुष के लिए किस प्रकार त्याज्य हैं, यह समझ में आना कठिन है।

विभिन्न जातियों में पारस्परिक समता की भावना का अभाव भी जातिप्रथा को दूषित सिद्ध करता है। किसी शूद्र के प्रति घृणा का भाव उस महर्षि के मन में कैसे स्थान पा सकता है, जिसने कहा है—**तदेतद् ब्रह्म ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः।** (वही ब्रह्म मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हुआ।)

कुटुम्ब

भारतीय कुटुम्ब में प्रायः माता-पिता, पुत्र और पुत्रवधू गिने गए हैं। इनमें पुत्र और पुत्रवधू कालान्तर में स्वयं माता-पिता बन जाते हैं। इस प्रकार कुटुम्ब में शिशु की गणना होती है। शिशु यथासमय विवाहित होकर पिता बन जाता है। इस प्रकार की कुटुम्ब की सत्ता प्राचीन काल से चली आ रही है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों के भी कुटुम्ब होते हैं, पर वे प्रायः छोटे होते हैं। इन छोटे कुटुम्बों में पति-पत्नी होते हैं और समय-समय पर उनके नवजात शिशु होते हैं, जो स्वावलम्बी होते ही माता-पिता को छोड़ कर अपने लिए अलग घर बना लेते हैं। कुछ पशुओं में केवल माताएँ और उनके असहाय शिशु ही होते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानव का कुटुम्ब सबसे बड़ा होता है।

कुटुम्ब की योजना में स्त्रियों का प्रधान हाथ रहा है। शिशु को जन्म देने के कुछ पहले और पश्चात् उनकी ऐसी अवस्था होती है कि कोई उनके भरणपोषण तथा सुरक्षा की चिन्ता करे। शिशु दो-चार मास अथवा वर्षों में स्वावलम्बी नहीं हो पाते और उनके लिए बहुत दिनों तक अपनी माता के आश्रय में रहना आवश्यक है। स्त्री स्वयं इतना भार को उठाने में असमर्थ होती है। वह अपने और अपने

शिशुओं के भरण-पोषण के लिए कुटुम्ब की योजना करती है। उस कुटुम्ब का अध्यक्ष पति (गृहपति) कहलाता था।

पहले कहा जा चुका है कि कुछ गृहस्थ पुत्रों के युवा हो जाने पर वन में जाकर तप और समाधि में लीन हो जाते थे। वानप्रस्थ के लिए समय नियत था। घर छोड़ने वाले मनुष्य का कर्तव्य होता था कि वह किसी प्रकार का ऋण या भार कुटुम्ब पर न छोड़ जाय, अपनी कन्याओं का विवाह योग्य वर के साथ कर ले और पुत्र के लिए समुचित जीविका का प्रबन्ध कर जाय। पिता के इस प्रकार वानप्रस्थ लेने पर कुटुम्ब में केवल माता, उसका पुत्र और पुत्रवधू होती थीं, पर कभी-कभी माता भी पिता के साथ वन में जाकर तप करती थी और कुटुम्ब का प्रारंभ केवल दो ही प्राणियों—पति और पत्नी से होता था। ऐसे वानप्रस्थ लोगों की संख्या सदैव स्वल्प रही है। कुटुम्ब में साधारणतः माता-पिता, गृहपति, गृहपत्नी और उनके शिशु (पुत्र और कन्या) माने जा सकते हैं।

माता-पिता

कुटुम्ब में माता-पिता का स्थान सबसे ऊँचा माना गया है। वे दोनों पुत्र के जन्म के समय से प्राणपण से उसके अभ्युदय, सुख और स्वास्थ्य के लिए प्रयत्नशील रहते थे। उपनिषद्-काल में मरणासन्न पिता पुत्र के अभ्युदय की कामना से कहता था 'तुम ब्रह्म हो, तुम यज्ञ हो और तुम लोक हो।, पुत्र भी कहता था कि 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ और मैं लोक हूँ।' तैत्तिरीय उपनिषद् में स्नातक को शिक्षा दी गई है कि माता-पिता को देवता समझो। महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को शिक्षा दी है कि माता-पिता की सेवा करना सर्वश्रेष्ठ धर्म है। माता पिता यदि धर्म के विरुद्ध आज्ञा दें तो भी उसका पालन करना चाहिए। माता, पिता और आचार्य तीनों लोक, वेद, आश्रम और अग्नि हैं। इनको भोजन कराने के पहले स्वयं भोजन नहीं करना चाहिए। पिता का गौरव आचार्य से दस गुना है और माता का गौरव पिता से दस गुना होता है। पद्म-पुराण के अनुसार माता-पिता की पूजा करके मनुष्य जिस धर्म का साधन करता है, वह इस पृथ्वी पर सैकड़ों यज्ञ तथा तीर्थ-यात्रा आदि के द्वारा दुर्लभ है। पिता धर्म है, और स्वर्ग है। पिता ही सर्वोत्कृष्ट तपस्या है। माता सर्व तीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओं का स्वरूप है। इसलिए सब प्रकार से यत्नपूर्वक माता-पिता का पूजन करना चाहिए। जब तक माता-पिता के चरणों की धूलि पुत्र के मस्तक और शरीर में लगती रहती है, तभी तक वह शुद्ध रहता है।

केवल जीवन-काल में ही माता-पिता के सन्तोष के लिए सन्तान प्रयत्न नहीं करती थी, अपितु उनके मर जाने पर भी प्रतिदिन तर्पण के द्वारा उनकी परितृप्ति करती थी। भारतीय वाणी है—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।।

पूज्य-गुरुजनों में माता का स्थान सर्वोच्च रहा है। कुछ धर्मसूत्रों में आदेश दिया गया है कि यदि माता अपनी पापमयी प्रवृत्ति के कारण बहिष्कृत हो तो भी उसकी सदैव सेवा करनी चाहिए, क्योंकि माता ने बहुत परिश्रम से पालन-पोषण किया है।

पति-पत्नी

कुटुम्ब में सदा पति-पत्नी की एकमुखी प्रवृत्ति रही है। विवाह के अवसर पर पति कहता था——मैं सौभाग्य के लिए तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। मेरे साथ तुम वृद्धावस्था प्राप्त करो। भग, अर्यमा, सविता और पूषा ने गृहस्थ-धर्म का पालन करने के लिए तुम्हें मुझको दिया है।

वैदिक काल से पति और पत्नी के एक साथ धार्मिक कृत्य करने की रीति के उल्लेख मिलते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यज्ञ के कार्यों में पति-पत्नी की उपमा जोड़े बैल से दी गई है और उनके एक मन होकर शत्रुओं के नाश करने की क्षमता की प्रशंसा मिलती है। कवि ने कामना की है कि वे दोनों ही शाश्वत स्वर्ग का प्रकाश पायें। पत्नी घर की सम्राज्ञी होती थी और पति सम्राट्। उनके एक साथ धार्मिक कृत्य करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि पत्नी विदुषी और योग्य होती थी। पत्नी शब्द का मौलिक अर्थ है——पति के साथ यज्ञ-सम्पादन करने वाली।

वैदिक मन्त्रों में कौटुम्बिक सुख के लिए पत्नी की आवश्यकता बताई गई है। ऋग्वेद में कहा गया है—'पत्नी के बिना घर नहीं है। पत्नी ही घर है। पत्नी ही गृहस्थी है। घर में आनन्द है, क्योंकि वहाँ पत्नी है।'

पत्नी का सर्वोच्च धर्म पति की सेवा करना रहा है। वैदिक काल से ऐसी स्त्रियों के प्रायः उल्लेख मिलते हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व त्याग करके पति की सेवा और आराधना की है। रोगी और पापी पति का भी निरादर न करना ही स्त्री का कर्त्तव्य माना गया है। पति के इसी महत्त्वपूर्ण पद की मर्यादा रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि ग्रन्थों में प्रतिष्ठित की गई है। मनु ने लिखा है कि अच्छी पत्नी का कर्त्तव्य है कि वह दुश्चरित्र पति को भी देव-तुल्य मानकर उसकी सेवा करे। महाभारत में पत्नी की कर्त्तव्य-परायणता की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि उसके लिए उसके माता-पिता, भाई और पुत्र का दान तो कुछ न कुछ होता ही है, पर पति का दान अपरिमित है।

पत्नी घर की लक्ष्मी होती थी। वह अलंकार, वस्त्र, अनुलेपन आदि से सुसज्जित होकर मधुर वाणी और अनुकूल व्यवहार से पति का अनुरंजन करती

थी। समाज में लज्जावती होना उसका भूषण माना गया है। मनु ने पत्नी के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए बताया है कि पत्नी को सदैव प्रसन्न रहना चाहिए। वह कार्यशील, निरलस और गृहकर्म में कुशल बने और घर के बरतनों को सदैव चमकता हुआ रखे। ऐसा प्रतीत होता है कि कुटुम्ब के सौष्ठव में पत्नी का अधिक हाथ था। मनु के अनुसार पत्नी घर का कोषाध्यक्ष होती थी। उन्होंने पत्नी की मितव्ययिता की प्रशंसा की है। आजकल की भाँति मनु के समय में भी पत्नी भोजन पकाती थी और घर की वस्तुओं की देखभाल करती थी। उस समय की पत्नी के जीवन की सरलता उल्लेखनीय है। वह मद्यपान नहीं कर सकती थी, न वह स्वच्छन्द विचरण कर सकती थी और न अपरिचित लोगों के घर ठहर सकती थी। याज्ञवल्क्य ने पत्नी के लिए सास और ससुर का आदर करने और चरण छूकर अभिवादन करने की रीति का उल्लेख किया है। पत्नी के व्यक्तित्व की गरिमा की प्रतिष्ठा करते हुए शंख ने लिखा है—'उसे मन्दगति से चलना चाहिए। परपुरुष से बात नहीं करनी चाहिए। वह अपने वस्त्रों के द्वारा चरणों तक ढकी रहे। पतिव्रता स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों की संगति में न रहे।' इस प्रकार पत्नी अपनी कर्त्तव्य-परायणता, स्वभाव-माधुर्य और सुरुचिपूर्ण गृह-विन्यास से पति का संवर्धन करती थी। भारतीय पति-पत्नी का आदर्श राम और सीता तथा सावित्री और सत्यवान् आदि की कथाओं में अमर है।

कुटुम्ब में सबसे अधिक काम करने वाला गृहपति होता था। वह केवल पूरे कुटुम्ब का ही भरण-पोषण नहीं करता था, अपितु वह समाज के प्रति भी उत्तरदायी होता था। जो कोई भी अतिथि बन कर आता था, उसके भोजन और विश्राम की व्यवस्था करना प्रत्येक गृहस्थ का प्रधान कर्त्तव्य था। मनु के शब्दों में—

देवातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पंचानामुच्छ्वसन्न स जीवति ।।

(जो गृहस्थ देवता, अतिथि, भृत्य, माता-पिता और अपना संरक्षण नहीं करता, वह श्वास लेते हुए भी निष्प्राण है।)

पुत्र

भारतीय विचार-धारा के अनुसार पिता को पुत्र पुत् नामक नरक से बचाता है। अतएव वह पुत्र है। पिता का अपने पूर्वजों के ऋण से मुक्ति पाने के लिए पुत्रवान् होना आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति में पुत्र का कुटुम्ब में सर्वोच्च स्थान रहा है। वैदिक काल में लोगों का विश्वास था कि सन्तति से अमरता की प्राप्ति होती है। ऋषियों ने पद-पद पर वीर पुत्र पाने की कामना की है। पुंसवन संस्कर

भी इसी विचार-धारा का परिणाम है। ऋग्वेद में नववधू को पुत्र-प्राप्ति के लिए इन शब्दों में आशीर्वाद दिया जाता था, 'अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के बीच तुम क्रीड़ा करती रहो। हे इन्द्र ! तुम इसे सौभाग्यशालिनी और पुत्रवती बनाओ। इसको दस पुत्र दो।' ऐसी परिस्थिति में धर्मशास्त्रों में यह नियम बना कि यदि प्रथम पत्नी से पुत्र न होता हो तो दूसरी पत्नी से पुत्र उत्पन्न करना चाहिए।

महाभारत के अनुसार सौ कुँओं की अपेक्षा एक जलाशय बनवाने में अधिक पुण्य है, जलाशय से अधिक पुण्य यज्ञ में है और यज्ञ से अधिक पुत्र में।

कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल में पुत्र की महिमा इस श्लोक में व्यक्त की है :—

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति ।।

(अकारण ही हँसने से जिस शिशु के दाँतों की झलक मिल जाती हो, जो अस्पष्ट मनोरम तुतली बोली में कुछ कहता हो, जो गोद में बैठ जाना चाहता हो, ऐसे पुत्रों को लिए हुए सौभाग्यशाली लोग ही उनके अंगों में लगी हुई धूलि से धूसिरत होते हैं।)

मनु ने कौटुम्बिक शालीनता को बनाये रखने वाले पुरुष को पुण्यभागी माना है। मनु के अनुसार माता-पिता, जामाता, भ्राता, पुत्र, भार्या, कन्या और दास-वर्ग से विवाद न करने वाला पुरुष पुण्य लोकों में जाता है और सभी पापों से छुटकारा पा जाता है। मनु का कहना है—'बड़ा भाई पिता के समान है। स्त्री और पुत्र तो अपने शरीर ही हैं। दासवर्ग अपनी छाया के समान होते हैं। बेटी दयापात्र है। ऐसी परिस्थिति में इन लोगों के द्वारा तिरस्कार होने पर भी चुपचाप रहना चाहिए।

नागरिकता

प्रत्येक युग में वे महामानव आदर्श नागरिक गिने गये हैं, जिन्होंने अपने कार्य-कलाप से राष्ट्र के जीवन-स्तर को उच्चतर बनाने का सफल प्रयास किया है तथा मानव-स्वभाव की तुच्छ प्रवृत्तियों का निरोध किया है। इस दिशा में आर्यों ने सर्वप्रथम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अमर सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। नागरिकता की दृष्टि से इस सिद्धान्त का महत्त्व कम से कम इतना तो अवश्य ही है कि सारा नगर या राष्ट्र एक कुटुम्ब है। ज्यों ही नागरिक यह समझ लेता है कि मेरा

व्यक्तित्व अकेला नहीं है, अपितु मेरा कुटुम्ब है और वह कुटुम्ब दो-चार प्राणियों का ही नहीं, अपितु समग्र नागारिकों या राष्ट्रवासियों का है, उसकी उदात्त भावनाएँ जागरित हो उठती हैं तथा उसके व्यक्तित्व का विकास होने लगता है। इस देश में वैदिक काल के आरम्भ से नागरिकों के व्यक्तित्व को समुन्नत करने के लिए गायत्री-मन्त्र की सीख दी गई। इस मन्त्र में भूः, भुवः और स्वः से क्रमशः पृथ्वी, वायुलोक तथा स्वर्गलोक का बोध कराया जाता था। इन शब्दों के जप से मानव के मानस-पटल पर अखिल ब्रह्माण्ड का चित्र अङ्कित किया जाता था। इसका मन पर तात्कालिक प्रभाव यही पड़ता था--'मैं अकेला अथवा अपने तक सीमित नहीं हूँ। यह अखिल विश्व मेरे उपभोग के लिए है। मैं अखिल विश्व के उपभोग के लिए हूँ।' प्रतिदिन इस प्रातःकालीन विचार-धारा के द्वारा नागरिक अपनी शक्तियों को स्फूर्तिमयी बनाता था और सार्वभौम व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को तन्मय करके अपने काम में लग जाता था। अथर्ववेद में ऐसे आदर्श मनीषी को आदेश दिया गया है:--'शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर।' अर्थात् सौ हाथों वाला होकर कमाओ, पर सहस्र हाथों वाला होकर वितरण करो। इस वेद में महर्षि ने नागरिकों के ऐसे कुटुम्ब की कल्पना की है उसका चित्रण इन शब्दों में है--

ता वः प्रजाः संदुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्।

अर्थात् हे पृथ्वी ! हम सब लोग तुम्हारी प्रजा मिलकर मधुर वाणी बोलें, उसे दो।

बृहदारण्यक उपनिषद् में नागरिक की प्रार्थना इन शब्दों में मिलती है :-- 'दिशामेकपुण्डरीकमसि। अहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासम्' अर्थात् हे सूर्य ! तुम दिशाओं के सर्वोत्तम कमल हो। मैं भी मनुष्य-जाति का कमल बन जाऊँ। श्रेष्ठ नागरिक के द्वारा मानव-जाति के कल्याण की अभिव्यक्ति छान्दोग्य उपनिषद् के इस वाक्य से भी होती है :--

'यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।'

महाभारत में नागरिक की परिभाषा नीचे लिखे श्लोक में मिलती है:--

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥

अर्थात् जो मानव मन, कर्म और वचन से नित्य सभी प्राणियों का मित्र है तथा सब के उपकार में लगा हुआ है, वही धर्म जानता है। इसके साथही कहा गया है--'न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।' ऐसा व्यवहार अन्य लोगों के साथ नहीं करना चाहिए, जो अपने को प्रतिकूल अर्थात् दुःखकारक प्रतीत हो। भीष्म ने इस ग्रन्थ में आदर्श नागरिक के लक्षण बताये हैं कि वे दानशील, प्रियवादी,

जितेन्द्रिय, लज्जाशील, संयमी, सत्यवादी, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र और कार्य-कुशल होते हैं। स ग्रन्थ के अनुसार मन से समस्त जीवों का कल्याण सोचना कर्त्तव्य है। महाभारत ने निश्चित किया है कि भय से डरा हुआ मनुष्य जिसके पास जाकर एक क्षण भी शान्ति पा सके, वही स्वर्ग का सबसे बड़ा अधिकारी है। कुन्ती ने भीम को शिक्षा दी है--'कृतज्ञता ही मनुष्य का जीवन है। जितना उपकार कोई मनुष्य तुम्हारे लिए करता है, उससे बढ़कर उपकार तुम उस मनुष्य के लिए करो।'

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोगी की जो परिभाषा दी गई है, वह नागरिक के लिए भी उपयुक्त है। जिस पुरुष की बुद्धि सभी प्राणियों में सम हो गई है तथा परार्थ में जिसके स्वार्थ का सर्वथा लय हो गया है, वह स्वयंप्रकाश या बुद्ध है। ऐसे लोगों की सर्वत्र आवश्यकता है। साधारण जन-समाज में रह कर अपने प्रयत्नों से उसे उन्नति की ओर अभिमुख करना उनका एकमात्र कर्त्तव्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् के 'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्' की पृष्ठभूमि पर गीता में 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि' की कल्पना की गई है। ऐसी परिस्थिति में कर्मयोगी स्वभावतः सोचने लगता है कि जब मैं प्राणिमात्र में हूँ और मुझमें सभी प्राणी हैं, तब अन्य लोगों के प्रति वैसा ही आचरण करना चाहिए जो अपने प्रति किए जाने पर सुखावह प्रतीत होता हो। बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात में इस मनोभाव का निदर्शन इस प्रकार किया गया है:--

यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये।

अर्थात् जैसा मैं हूँ वैसे ही अन्य प्राणी भी हैं। ऐसी परिस्थिति में दूसरों को अपने समान मान कर किसी प्रकार उनकी हानि नहीं करनी चाहिए।

बौद्ध काल में नागरिक का परिलक्षण विविध निदर्शनों के द्वारा किया गया है। धम्मपद के अनुसार

उट्ठानवतो सतिमतो सुचिकम्मस्स निसम्मकारिणो।
सञ्ञतस्स च धम्मजीविनो अप्पमत्तस्स यसो भिवड्ढति॥

अर्थात् उद्योगी, जागरूक, पवित्र कर्म करने वाले, संयमी, धर्मानुसार जीविका चलाने वाले तथा अप्रमादी मनुष्य के यश की वृद्धि होती है। सत्पुरुष का अभिनन्दन करते हुए आगे कहा गया है:--

न पुप्फ-गन्धो पटिवातमेति
न चन्दनं तगरमल्लिका वा।
सतं च गन्धो पटिवातमेति
सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति॥

अर्थात् न तो पुष्पों की सुगन्ध, न चन्दन की सुगन्ध, न तगर अथवा चमेली की सुगन्ध हवा के विरुद्ध जाती है; परन्तु सत्पुरुषों की सुगन्ध हवा के विरुद्ध भी जाती है। सत्पुरुष सभी दिशाओं में अपनी सुगन्ध फैलाते हैं।

बौद्ध काल का नागरिक निन्दा और प्रशंसा की चिन्ता नहीं करता था। उपर्युक्त ग्रन्थ में पण्डित की उपमा ठोस पहाड़ से दी गई है। जैसे ठोस पहाड़ वायु के वेग से नहीं डोलता, वैसे ही पण्डित निन्दा और प्रशंसा से कम्पित नहीं होता। सच्चे नागरिक के व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण आदर्शहीन नागरिक से तुलना करते हुए इस प्रकार किया गया है :—

दूरे सन्तो पकासेन्ति हिमवन्तो व पब्बता।
असन्तो त्थ न दिस्सन्ति रत्तिखित्ता यथा सरा॥

अर्थात् सत्पुरुष हिमालय पर्वत की भाँति दूर से ही प्रकाशित होता है; परन्तु असज्जन रात में फेंके हुए बाण की भाँति दिखाई नहीं देते। असज्जन के विषय में आगे चल कर कहा गया है :—

मिद्धी यदा होति महग्घसो च
निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो व निवापपुट्ठो
पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो॥

अर्थात् जो आलसी, बहुत खाने वाला, निद्रालु, करवट बदल कर सोने वाला, दाना खाकर मोटे सूअर की भाँति होता है, वह मन्दमति वारंवार गर्भ में पड़ता है। इस प्रकार धम्मपद में नागरिक को उद्योगी, यशस्वी, गम्भीर तथा लोकोपकार की भावना से वासित माना गया है और कहा गया है।—

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं॥

जो मनुष्य अपना सुख चाहते हुए सुख की कामना करने वाले अन्य प्राणियों की हिंसा करता है, वह मर कर सुख नहीं पाता।

भारतीय नागरिक के स्वरूप की जो रूप-रेखा सम्राट् अशोक ने बनाई थी, उसका अङ्कन तत्कालीन शिलालेखों में अशोक के शब्दों में मिलता है। अशोक ने लिखवाया—'माता और पिता की सेवा करनी चाहिए। सत्य बोलना चाहिए। विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिए। अपने जाति-भाइयों के प्रति उचित व्यवहार करना चाहिए।' अशोक ने धार्मिक मंगलाचार की प्रतिष्ठा की और उसमें दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर तथा प्राणियों की अहिंसा को सम्मिलित

किया। उसने नागरिकों में सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना को जागरित किया और नियम बनाया कि सभी धर्मों की उन्नति के लिए वाक्संयम अपेक्षित है। लोग केवल अपने ही धर्म का आदर तथा दूसरे धर्मों की निन्दा न करें। सब धर्मों का आदर करना लोगों का कर्तव्य है। ऐसा करने से अपने धर्म की उन्नति तथा दूसरे धर्मों का उपकार होता है। सभी धर्म वालों का मेल-जोल अच्छा है। अशोक ने विचारशील व्यक्तियों के लिए आत्म-परीक्षा की कसौटी नियत करते हुए कहा है कि यों तो अपने दोषों को स्वयं देखना कठिन है, तथापि मनुष्य को यह देखना चाहिए कि चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, मान ईर्ष्या ये सब पाप के कारण हैं।

अशोक ने नागरिकों के लिए नियम बनाया कि उन्हें थोड़ा व्यय और थोड़ा ही संचय करना चाहिए।

अशोक ने केवल सिद्धान्त-रूप में उपदेश ही नहीं दिया है, अपितु उसने प्रजा के समक्ष अपने आदर्श जीवन का उदाहरण भी प्रस्तुत किया। अशोक की निःस्वार्थ कर्मनिष्ठा पर दृष्टिपात कीजिए। उसने बौद्ध दर्शन पर आधारित साधु जीवन की प्रतिष्ठा केवल भारत में ही नहीं की, अपितु विदेशों में भी उसका प्रसार करने में अपना जीवन लगा दिया। प्रजा का काम तत्परता से करने के लिए उसने ऐसा प्रबन्ध किया, जिससे उसको भोजन करते हुए, अन्तःपुर में बैठे हुए, शयन-गृह में पड़े हुए, रथमें यात्रा करते हुए, अथवा उपवन में प्रकृति का सौन्दर्य देखते हुए--सदा ही गुप्तचरों से प्रजा का समाचार मिलता रहता था। उसने अपनी प्रतिज्ञा इन शब्दों में अमर की है--'मैं सर्वत्र प्रजा का काम करूँगा। मैं कितना ही परिश्रम करूँ या कितना ही राज-काज करूँ, मुझे पूरा सन्तोष नहीं होता। सब लोगों का हित परिश्रम और राज-कार्य-सम्पादन के बिना नहीं हो सकता। सब लोगों के हित-साधन की अपेक्षा अन्य कोई काम बड़ा नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ, वह प्राणियों के प्रति अपना ऋण चुकाने के लिए करता हूँ। मेरी कामना है कि मैं इस /लोक में लोगों को सुखी करूँ तथा परलोक में उन्हें स्वर्ग का लाभ कराऊँ।

अशोक के उदात्त मनोभावों का परिचय उसके नीचे लिखे विचारों से मिलता है--सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं। मैं चाहता हूँ कि जिस प्रकार मेरे पुत्र-गण सब प्रकार के सुख प्राप्त करें, उसी प्रकार सारी प्रजा ऐहिक और पारलौकिक सब प्रकार के हित और सुख का लाभ उठाए।

कवि-सम्राट् कालिदास ने समृद्धिशाली लोगों के जीवन को आदर्श रूप देने के लिए विनय को सर्वप्रथम अलंकार माना है। उन्होंने कहा है।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः
नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घनाः।

अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ।।

अर्थात् वृक्ष फलों के आने पर नम्र हो जाते हैं। बादल भी जल के भार से झुक जाते हैं। सज्जन समृद्धिशाली होने पर विनयी हो जाते हैं। परोपकारी लोगों का स्वभाव ही यही है।

आदर्श नागरिकों के स्वरूप का विशद चित्रण भर्तृहरि की नीचे लिखी पंक्ति में मिलता है :—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णास्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ।।

नारी की प्रतिष्ठा

सिन्धु-सभ्यता के युग में स्त्रियों का पद प्रतिष्ठित रहा होगा। उनके विविध प्रकार के मनोरम वस्त्रों और आभूषणों को देख कर यह निश्चित-सा प्रतीत होता है कि कुटुम्ब में सभी लोग उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। उस समय की स्त्रियाँ संगीत और नृत्य की कलाओं में प्रवीण होती थीं। संभवतः पर्दे की प्रथा नहीं थी। स्त्रियाँ स्वतन्त्र रूप से पूजा-पाठ करने के लिए बाहर आ-जा सकती थीं।

भारतीय इतिहास में वैदिक काल में स्त्रियों को सबसे अधिक गौरवपूर्ण पद प्राप्त था। उस समय से धीरे-धीरे स्त्रियों का पद दिनोदिन प्रायः गिरता ही गया। आधुनिक युग में एक बार और स्त्रियों को समुचित पद पर प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया जा रहा है। फिर भी वैदिक काल से ही प्रायः सदा उच्च कोटि की महिलायें हुई हैं, जिन्होंने युद्धभूमि तक में अपने उदात्त पराक्रम का प्रदर्शन किया है।[1]

विवाह के अवसर पर वैदिक काल में स्त्री अपने पति के साथ गृहस्वामिनी बनाई जाती थी। वैसे तो कुमारियाँ दान में दे दी जाती थीं या कभी-कभी बेची भी जाती थीं अथवा जुआरी लोग अपनी स्त्रियों को दाँव पर रख देते थे, पर समाज में इन कुरीतियों को निन्दनीय समझा जाता था।

पुत्रोत्पत्ति के लिए माता-पिता की स्वाभाविक इच्छा होने पर भी कुछ ऐसे लोगों के वर्णन वैदिक साहित्य में मिलते हैं, जो विदुषी और योग्य कन्याएँ प्राप्त

१. बारहवीं शती में अपने पुत्र को गोद में लेकर नाईकि देवी ने चालुक्य-सैन्य-संचालन करके मुइजुद्दीन मुहम्मद गोरी को परास्त करके गुर्जर-गौरव की रक्षा की। दुर्गावती, लक्ष्मीबाई और चन्नम्मा नामक वीर रानियों ने स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए युद्धभूमि में सैन्य-संचालन किया है।

करने के लिए विशेष प्रकार की यज्ञादि क्रियाएँ करते थे। कुमारियों और कुमारों के व्यक्तित्व के विकास में कोई अन्तर नहीं था। कुमारियाँ ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करती थीं और उनमें से कई वैदिक मन्त्रों की रचना भी करती थीं। उनका विवाह १६ वर्ष की अवस्था से पहले नहीं होता था। ऐसी कुमारियों का समाज में स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी होता था और वे अपने विवाह के लिए जीवन-साथी स्वयं खोज लेती थीं। गान्धर्व-विवाह भी होते थे।

वैदिक काल में विधवा-विवाह की प्रथा थी। विधवा को पुनर्विवाह या नियोग का अधिकार था। नियोग-विधि से वह किसी प्रतिष्ठित सम्बन्धी से सन्तानोत्पत्ति करा सकती थी। ऐसी परिस्थिति में स्त्रियों को अपने पैतृक धन में अथवा पति की सम्पत्ति में कोई भाग न मिलने से भी उनके प्रतिष्ठित जीवन में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती थी।

वैदिक काल में स्त्रियों को अपने पति के साथ ही सभी प्रकार के यज्ञ और धार्मिक कृत्य करने का महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त था।

वैदिक काल के अन्तिम भाग में तपस्वी वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। उनके पवित्र जीवन में स्त्रियों के सहवास तथा सांसारिक भोग-विलासों को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सका था। यह परिस्थिति स्त्री-जाति के निरादर का कारण हुई। उनका पद ऋग्वेद-काल जैसा ऊँचा नहीं रह गया। उनको जुआ और शराब जैसा माना गया, आपत्ति की मूर्ति समझा गया तथा शूद्रों से हीन पद दिया गया। कन्या तो विपत्ति मानी गई। यों तो यह विचार-धारा केवल तपस्वी वर्ग तथा कुछ अन्य आध्यात्मिक उन्नति चाहने वालों तक ही सीमित रही, पर इसका दुष्प्रभाव सारे समाज पर पड़ कर रहा।

उत्तरवैदिक काल में भी स्त्रियाँ विदुषी होती थीं। इनमें से कुछ तो दार्शनिक विवाद में पुरुषों से घट कर नहीं थीं। उपनिषद्-काल में बहुत-सी स्त्रियाँ शिक्षक भी थीं, धीरे-धीरे स्त्री-शिक्षा कम होने लगी। छात्राओं के लिए नियम बना कि पढ़ने के लिए वे ऋषियों के आश्रम में दूर न जाकर पिता, भाई या चाचा इत्यादि से घर पर शिक्षा प्राप्त करें। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि स्त्रियों के विद्यालय थे ही नहीं। स्त्री-शिक्षा के विद्यालय जैसे-तैसे प्राचीन भारत में सदा चलते रहे।

महाभारत में स्त्रियों की निन्दा स्थान-स्थान पर मिलती है, पर उनकी वास्तविक प्रशंसा से यह ग्रन्थ भरपूर है। इस ग्रन्थ के अनुसार स्त्री, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की जड़ है। वह सबसे बड़ा मित्र है, आनन्द में मित्र है, उत्सव में पिता के बराबर है और बीमारी में माँ के बराबर है। क्रोध होने पर भी पुरुष अपनी स्त्री को

असन्तुष्ट न करे । जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं, स्त्रियों के आदर, सम्मान और पूजन से सभी काम सफल होते हैं ।

इस युग में स्त्रियों के वेद पढ़ने और यज्ञ करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया । उनका विवाह-संस्कार १२, १३ वर्ष की अवस्था तक कर देने का विधान बना दिया गया । कन्याओं का उपनयन, जो वैदिक काल में सदैव होता आ रहा था, केवल नाम-मात्र के लिए विवाह-संस्कार के अवसर पर किया जाने लगा । लगभग २०० ई० में उपनयन-संस्कार स्त्रियों के लिए वर्जित कर दिया गया और तर्क उपस्थित किया गया कि स्त्रियों का विवाह ही उपनयन है । फिर तो ९, १० वर्ष में भी कन्याओं का विवाह भी होने लगा, क्योंकि उपनयन के लिए भी यही समय नियत था । पिता १२ वर्ष से अधिक की कुमारी कन्या अपने घर पर रख नहीं सकता था । स्त्रियों की शिक्षा ऐसी परिस्थिति में हो ही नहीं सकती थी । महाभारत-काल तक विधवा-विवाह और नियोग की प्रथा का प्रचलन रहा, पर ५०० ई० के लगभग उनका सर्वथा लोप हो गया । इस समय बाल-विधवा या तो सती हो जाती थी या पूर्णतः दुःखमय जीवन बिताती थी । स्त्रियाँ धीरे-धीरे असहाय हो गईं । शास्त्रकारों ने नियम बना दिया कि पति बुरा भी हो तो स्त्री उसकी पूजा करे । पुराणों ने ऐसी सेविकाओं को स्वर्ग में सर्वोच्च पद पाने की आशा से उत्साहित किया ।

इस युग में स्त्रियों के पति की सम्पत्ति में भाग पाने का नियम पहले-पहल बना । जो स्त्रियाँ सती नहीं होती थीं, वे पति की सम्पत्ति का उपभोग कर सकती थीं । जातकों में कुछ ऐसी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं, जिन्होंने पति की मृत्यु हो जाने पर राज-काज चलाया ।

धीरे-धीरे कन्याओं के विवाह करने की अवस्था और कम होती गई । अन्त में निश्चित किया गया कि ८ वर्ष की कन्या का विवाह आदर्श है । क्षत्रिय कन्याओं का विवाह तब भी १४, १५ वर्ष की अवस्था में होता रहा । सती की प्रथा स्त्री-समाज के लिए आदर्श बनती गई । पर कभी भी ऐसे शास्त्रकारों की कमी नहीं रही, जिन्होंने इस प्रथा को दोषमयी न बताया हो, किन्तु उनकी बात सुनी नहीं गई । सती-प्रथा यहाँ तक बढ़ी कि सती न बनने की इच्छा रखने वाली स्त्रियाँ भी बलात् जला दी जाती थीं । स्मरण रहे कि यह स्थिति केवल उच्चवर्गीय स्त्रियों की थी ।

इसी युग में पर्दा-प्रथा का विशेष प्रचलन हुआ । पर्दे का नियम प्रायः राजकुल या धनी समाज में ही विशेष रूप से रहा । मुसलमानों के आने के पश्चात् पर्दा-प्रथा अधिक दृढ़ होती गई ।

वैदिक समाज में स्त्रियों को जो ऊँचा स्थान प्राप्त था, वह धीरे-धीरे नहीं रहा । उस समय स्त्री और पुरुष या पुत्र और कन्या में भेद-भाव की भित्ति प्रायः,

अदृश्य-सी ही थी । वैदिक काल के पश्चात् भी, जब स्त्रियों का पद नीचे गिर गया, उनकी प्रतिष्ठा में प्रायः कमी नहीं रही । कामसूत्र में स्त्रियों के विषय में कहा गया कि वे कुसुम के समान हैं । सदा से गर्भवती और नववधू के लिए मार्ग छोड़ने की रीति चली आई है । स्त्रियों को मृत्युदण्ड दिया ही नहीं जा सकता था । प्राचीन साहित्य में चित्त को चंचल करने वाली, तपोमय पथ से डिगाने वाली और प्रेमियों को सन्तप्त करने वाली मोहिनी नारी को अवश्य ही बुरा-भला कहा गया है, पर नारी का यही एक मात्र रूप नहीं है। वे माता या पत्नी होकर पूजित रही हैं ।

स्त्री का वध करना महापातक माना जाता था । असाधारण परिस्थितियों में यदि कभी राजा स्त्री को मृत्यु-दंड देता था तो उसे स्वयं प्रायश्चित्त करना पड़ता था । मनु के अनुसार स्त्री का वध करने वाला मनुष्य प्रायश्चित्त करने पर भी शुद्ध नहीं हो सकता था ।

यदि स्त्री कहीं दूषित हो गई तो रजः काल तक ही वह अशुद्ध मानी जाती थी, पश्चात् वह ग्राह्य थी ।[1]

भारतीय समाज ने स्त्रियों को कुछ सुविधाएँ भी प्रदान की थीं । मार्ग पर उनके लिए स्थान छोड़कर स्वयं हट जाना शिष्टाचार रहा है । समान अपराध या पाप करने पर स्त्रियों की शुद्धि पुरुषों की अपेक्षा केवल आधा ही प्रायश्चित्त करने पर हो सकती थी । स्त्रियों से कर नहीं लिया जाता था । अतिथियों को भोजन कराने के पहले ही कन्याओं और गर्भवती स्त्रियों को भोजन देने का विधान था । स्त्री धन के उत्तराधिकार का निर्णय करते समय कन्याओं की गणना पुत्रों की गणना से पहले होती थी ।

प्राचीन भारत में वेश्याओं की संख्या कुछ कम न थी । उन्हें साधारण स्त्री कहा जाता था और उनकी भरपूर निन्दा की गई है ।

दास-प्रथा

वैदिक काल में प्रारम्भ से ही दासों के उल्लेख मिलते हैं ।[2] वे साधारण सेवकों की भाँति कुटुम्ब में काम करते थे, पर उनका पद अन्य सेवकों से कुछ-कुछ भिन्न होता था । उनको वेतन नहीं देना पड़ता था । वे दान के रूप में दूसरों को दिए जा सकते थे अथवा आवश्यकता पड़ने पर बेचे जा सकते थे । वे अपने स्वामी का परित्याग उस समय तक नहीं कर सकते थे, जब तक स्वामी उनको मुक्त न कर दे ।

---

१. शान्ति प० ३५:३०

२. यहाँ दास पद वैदिक काल के सुसमृद्ध और सुसभ्य दास नामक जाति से भिन्न प्रयुक्त है ।

साधारणतः किसी भी जाति का मनुष्य दास बन सकता था, पर अपने से उच्चतर जाति का मनुष्य दास नहीं बनाया जा सकता था।[1]

वैदिक काल में दास साधारणतः युद्ध में जीते हुए लोग होते थे। राजाओं के पास बहुत-सी दास-दासियाँ होती थीं। राजा प्रायः दास-दासियों को ऋषियों की सेवा करने के लिए देते थे। उसी समय से प्रायः सदा ही प्राचीन भारत में दास-प्रथा रही है।

इस देश में सदा ही दास-दासियों के साथ सद्व्यवहार करने का नियम रहा है। आपस्तम्ब सूत्र में कहा गया है कि आवश्यकता पड़ने पर स्त्री-पुत्र आदि को भोजन न दे और न स्वयं खाये, पर दास को अवश्य खिलाये। मनु ने लिखा है कि पहले दास को भोजन कराना चाहिए, फिर बचे हुए भोजन को पत्नी के साथ खाना चाहिए।

दासों को स्वामी से मुक्ति मिल सकती थी। कौटिल्य ने लिखा है--'यथोचित धन चुकता कर देने पर क्रय किये हुए, दंड पाये हुए और युद्ध में पकड़े हुए दास मुक्त कर दिये जायें। यदि स्वामी दास के साथ दुर्व्यवहार करता है, उससे हीन काम कराता है, कष्ट देता है, नंगा रखता है या पीटता है तो दास बिना मूल्य चुकाये भी स्वतंत्र है।' नारद ने लिखा है--'यदि दास स्वामी की प्राण-रक्षा करे तो वह स्वतन्त्र हो जाता है और उसे स्वामी के धन से पुत्र की भाँति भाग मिलता है। अकाल पड़ने पर भोजन के लिए बने हुए दास दो गौ देकर स्वतन्त्र हो जाते थे। जो भोजन के लिए ही दास बने हैं, वे भोजन न पाने पर स्वतन्त्र हैं। यदि आक्रमणकारी किसी मनुष्य को पकड़ कर वेंच दे, तो वह दास राजा के द्वारा मुक्त कर दिया जाना चाहिए।' नारद ने दास को मुक्त करने का विवरण इस प्रकार दिया है--यदि स्वामी दास से प्रसन्न होकर उसे मुक्त करना चाहे तो वह दास के कन्धे से जलपूर्ण कलश लेकर उसे फोड़ दे, दास के सिर पर पानी, फूल और धान के कण बिखेर दे और तीन बार कहे कि अब तुम स्वतंत्र हो। स्वामी उसका मुँह पूर्व की ओर करके विदा कर दे।

ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर कश्मीर में धन या अश्व के लिए नर विक्रय होता था।[2] सुन्दरियों का मूल्य २००० दीनार तक होता था।[3]

———

१. अपवाद रूप से हरिश्चन्द्र को डोम का दास बनना पड़ा।

२. राजत० ४.३९७

३. फतहुल्वुल्दा खण्ड ७ पृष्ठ ३२

सप्तम अध्याय

मनोरञ्जन

प्रकृति के साधारणतः सभी बड़े प्राणी विनोद-प्रिय हैं। अपने जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाने के पश्चात् प्रायः सभी बड़े जीवधारियों का कुछ न कुछ विनोद करने का स्वभाव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में जीवन की आवश्यकताएँ थोड़ी थीं और उनकी पूर्ति करने के लिए लोगों का थोड़ा ही समय लगता था। ऐसी परिस्थिति में उनको मनोरंजन के लिए पूरा अवकाश मिलता था। यही कारण है कि तत्कालीन भारतवासियों में अनेक प्रकार के मनोरंजन की विधियाँ प्रचलित हो सकीं। श्रान्त मानव को मनोरंजन पुनः नई शक्ति और स्फूर्ति प्रदान करता है।

भारतीय धार्मिक कर्मकाण्ड में कतिपय कलात्मक मनोरंजनों का विनियोग प्रचलित था। पितृमेध में नृत्य, गीत और वाद्य का आयोजन होता था। यज्ञ के अवसर पर बहुविध मनोरंजनों से समागत जनता को सुप्रसन्न रखा जाता था।

नाटक

मनोरंजन में नाटक का स्थान सबसे पहले आता है। प्रारम्भ में किसी दूसरे मनुष्य के चरित को समझाने या बतलाने के लिए इसका प्रयोग हुआ। इसमें मनोरंजन कम और ज्ञान अधिक होता था। धीरे-धीरे इसमें नृत्य, वाद्य, संगीत और अभिनय आदि के द्वारा मनोरंजन की सामग्री बढ़ती गई। नाटक केवल मनोरंजन का साधन ही नहीं रहा, अपितु यह सर्वोच्च कला का प्रतिनिधि हुआ और ऐसी परिस्थिति में इसको सफलता के लिए शास्त्रीय रूप दिया गया। सर्वप्रथम भरत ने नाट्य-शास्त्र में नाटक के सिद्धान्तों का विवेचन किया। तभी से लेकर आधुनिक काल तक असंख्य नाटकों की रचना हुई। नाटक के प्रारम्भिक रूप की कुछ-कुछ झलक अब भी देहातों की रामलीलाओं में देखने को मिलती है।

मध्याह्न और अर्द्धरात्र को छोड़कर किसी समय भी नाटक खेले जाते थे। मधुर संगीत से भरे हुए और धार्मिक अभ्युदय के नाटक दोपहर के पहले, वीरता और उदारता-सम्बन्धी नाटक दोपहर के पश्चात्, शृंगार रस के नृत्य, वाद्य और संगीत वाले नाटक रात के समय और किसी की महिमा प्रकट करने वाले अथवा करुण रस के नाटक सबेरे खेले जाते थे।

नाट्याभिनय में वेश्याओं का भूरिशः नियोग होने के कारण इस व्यवसाय को उत्तम नहीं गिना गया ।

संगीत

वैदिक काल से भारत में उच्चकोटि के संगीत का परिचय मिलता है । इस कला का सर्वप्रथम शास्त्रीय रूप समावेद की स्तुतियों में प्राप्त होता है । इसी से स्वरों की उत्पत्ति हुई है । तभी से सदैव संगीत की प्रतिष्ठा भारतीय समाज में रही है । धनी और दीन-हीन सभी संगीत की स्वर-लहरी में विभोर होते आये हैं । राजाओं के प्रासाद में, रंक के कुटीर में, पथिक के मार्ग में, धोबी के घाट पर, नाविकों का नौका पर, ग्वालों के वनों में, शस्यरक्षिका का धान के खेतों में, जाँते पर रमणियों का, योद्धाओं का रणभूमि में शिशुओं का स्वप्नशय्या पर, भक्तों का मन्दिर में संगीत सर्वत्र परिव्याप्त होकर नाना रूपधारी, श्रमापहारी, ब्रह्मानन्द-विहारी, प्रात:सायं, अहर्निश शाश्वत रूप से परिव्याप्त है ।

संगीत-कला का प्रादुर्भाव प्रायः प्रकृति की संगति में हुआ है और प्रकृति की संगति में ही इसका विकास हुआ है । संगीत के सात स्वरों की कल्पना पशु-पक्षियों की बोली से हुई है। नारद ने स्वरों का लक्षण इस प्रकार बताया है :--

षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्षभम् ।
अजाविकौ च गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम् ।
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पंचमम् ।
अश्वस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुंजरः ।।

सातों स्वरों के लिए क्रमशः मोर, गौ, भेड़, क्रौञ्च पक्षी, कोकिल, घोड़े और हाथी की बोलियाँ उदाहरणार्थ हैं ।

प्रत्येक राग लय-रूप में किसी रस--शृंगार, वीर आदि और किसी प्राकृतिक दृश्य--अग्नि, अर्धरात्र या वन अथवा वर्षा की झड़ी की ओर संकेत करता है । छ: राग छः ऋतुओं के अनुकूल होते हैं । राग और उनके भेदों के द्वारा गायक के विषय, ऋतु और काल की अभिव्यक्ति की जाती है । इनकी सहायता से वह विभिन्न प्रकार के वातावरणों की सृष्टि करता है । भारतीय संगीत की परम्परा सदैव आनन्द-मयी रही है ।

वाद्य

संगीत और वाद्य की संगति प्रारम्भ से ही है । गीत के राग और लय का सामंजस्य बाजे के राग और लय से होता है । सिन्धु-सभ्यता के लोग ढोल, मृदंग, वीणा और कांसताल जैसे बाजों से पूर्ण परिचित थे । वैदिक काल में जब स्त्रियाँ

अपने नृत्य और संगीत का प्रदर्शन करती थीं, उस समय नृत्य की संगति में वीणा और झाल बजाये जाते थे। उत्तरवैदिक काल में वीणागाथी वीणा बजाते हुए गाते थे। कई बाजों में १०० तक तार लगे होते थे। इन्हें शततन्तु कहा जाता था। उस समय के अन्य बाजों के नाम वेणु, कर्करि, क्षोणी, आघाती, गर्गर, गोध तथा पिंग आदि मिलते हैं। बौद्धकाल में अनेक बाजों का आविष्कार हुआ। उस समय के पाणिस्सर, सम्मताल, कुम्मत्थूण, भेरी, मूतिंगा, मुरज, आलंबर, आनक, शंख, पनव-देण्डिमा, स्वरमुख, गोधा परिवादेन्तिका, कुटुम्बतिण्डिम आदि बाजों के उल्लेख मिलते हैं। तत्कालीन उत्सव और समाजों में नृत्य, संगीत और वाद्य के द्वारा मनोरंजन होता था। भरत ने मृदंग नामक बाजे को ऊँचा स्थान दिया है।

गुप्त-काल में संगीत और वाद्य-कला की प्रगति विशेष रूप से हुई। सम्राट् समुद्रगुप्त गाने और बजाने में निपुण था। कालिदास के ग्रन्थों के अनुसार तत्कालीन वाद्यों के नाम निम्नलिखित हैं--तूर्य, वल्लकी, आतोद्य, मृदंग, वीणा, वंशकृत्य, वेणु, दुन्दुभि आदि। पल्लव राजाओं के शासन-काल में कटुमुख वादित्र और समुद्रघोष युद्ध के बाजे थे।

प्राचीन काल से ही वाद्य-यन्त्र चार प्रकार के होते आये हैं---तत (तन्त्री वाले), आनद्ध (चमड़े से आच्छादित), शुषिर (छेद वाले) और घन (ठोस धातु के)। तन्त्री वाले वाद्य वीणा के अन्तर्गत आते हैं। आगे चल कर २९ प्रकार की वीणाओं के उल्लेख मिलते हैं। चमड़े से छाये हुए वाद्यों में मृदंग सर्वोच्च है। इस कोटि के अन्य प्रसिद्ध बाजे मुरज, पटह, पणव, भेरी, डमरू, दुन्दुभि आदि हैं। छेद वाले वाद्यों में वेणु या वंशी प्रसिद्ध है। यह लकड़ी, लाल चन्दन, श्वेत चन्दन, हाथी-दाँत, सोने, चाँदी, ताँबें, लोहे और स्फटिक आदि से बनाई जाती थी। घन वाद्यों का प्रतिनिधि घंटा है। इस कोटि के अन्य वाद्य करताल, घर्घरा, झंझताल, मंजीर आदि हैं।

नृत्य

नवीन प्रस्तर-युग के कुछ चित्रों में नृत्य करते हुए लोगों का प्रदर्शन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति के आदिकाल से नृत्य की कला विकसित होती आई है। सिन्धु-सभ्यता के युग में लोगों को नाचने का चाव था। पुरुष और स्त्री दोनों नृत्य करते थे। वैदिक काल में पुरुष और स्त्री का सम्मिलित नृत्य होता था। विशेष प्रकार के मनोरम वस्त्र और अलंकार पहन कर लोग नाचने के लिए निकलते थे। युद्ध-नृत्य का बड़ा चाव था। कुमारियाँ अपना नृत्य-प्रदर्शन करने के लिए उत्सुक रहा करती थीं। उस समय नृत्य की संगति में वाद्य-यन्त्रों की झनकार और झालों की स्वर-लहरी आकाश में गूँज उठती थी। यजुर्वेद में बाँस पर

नाचने वाले वंशनर्तो का उल्लेख मिलता है। महाभारत-काल में नृत्य की शिक्षा राजकुमारियों को दी जाती थी। भरत ने नृत्य-कला को शास्त्रीय रूप दिया है। भरत के समय तक इसका बहुत विकास हो चुका था। कालिदास ने लिखा है कि संगीत-शाला में नाट्याचार्य संगीत, वाद्य और नृत्य की शिक्षा देता था। इस महाकवि के अनुसार नृत्य सभी लोगों के मनोरंजन का साधन है, चाहे उनकी रुचि भिन्न-भिन्न क्यों न हो। प्राचीन काल में सदा ही संगीत और नृत्य की प्रतिष्ठा रही। कृष्ण के भक्तों में इनका विशेष रूप से मान रहा। कृष्ण के रूप की कल्पना, सहृदय भक्त सदा से करते आये हैं। वह उनकी मुरली बजाती हुई नृत्य की मुद्रा वाली भाव-भंगिमा के अनुसार है। कृष्ण की रासलीला सुप्रसिद्ध है। इसमें नायक का नायिकाओं के साथ नृत्य का आयोजन होता था। इस लीला का अनुवर्तन राजाओं और विलासियों के वर्ग में अपवाद रूप से रहा। ऊपर मनोरंजन की जिन विधियों का उल्लेख किया गया है, वे प्रधानतः कला के अन्तर्गत आती हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक मनोरंजन के साधन थे। उनमें से कुछ का परिचय आगे दिया जाता है।

कथा

कथा कहने की परम्परा का प्रादुर्भाव मनुष्य के बोलने की शक्ति के दिन से ही मानना चाहिए। यह मनोविनोद पूर्ण रूप से सार्वजनिक है। वैदिक काल से आज तक महापुरुषों और देवताओं की चरित-गाथा का वर्णन करना और सुनना पुण्य माना गया है। प्राचीन काल में कथा के लिए बहुत बड़े-बड़े समारोह होते थे। नगर, गाँव और वनों में सर्वत्र इस मनोरंजन का प्रसार था। कथा कहने वालों का समाज में सम्मान था।

कविता-पाठ

भारतवासी सदा से काव्य-प्रेमी रहे हैं। वैदिक काल में यज्ञ के अवसर पर देवताओं की स्तुति करने के लिए लोग कविता-पाठ करते थे। उस समय यजमानों की वीरता और उदारता के सम्बन्ध में लम्बी-लम्बी गाथाएँ पढ़ी जाती थीं। राज-सभाओं में कवियों को स्थान मिला था। कवि लोग राजाओं की भाँति दिग्विजय के लिए निकल पड़ते थे। फिर तो महाकवि-सम्मेलन का आयोजन होता था। ऐसी परम्परा प्राचीन भारत में प्रायः सदा रही।

समाज और गोष्ठी

समाज का समारोह ब्रह्मा, शिव या सरस्वती के सम्मान में होता था। इस अवसर पर विभिन्न प्रदेशों के वीर अपने अस्त्र-शस्त्रों की कला का प्रदर्शन करते थे। मल्ल लोग लड़ा करते थे। सभी नागरिक इस समारोह का आनन्द लेते थे। विद्वानों

ग्रौर कलाविदों की ऐसी सभा का नाम गोष्ठी पड़ा। गोष्ठियों में पुराण, इतिहास ग्रौर ग्राख्यान के द्वारा मनोविनोद होता था।

उद्यान-यात्रा ग्रौर जलक्रीडा

प्राय: वसन्त ऋतु में, जब वनों और उपवनों तथा पशु-पक्षियों की शोभा ग्रधिक होती थी, लोग मनोरंजन के लिए वहाँ जाते थे। भाँति-भाँति की क्रीडाग्रों से से वहाँ मनोविनोद होता था। पशु-पक्षियों की लड़ाई, ग्राँख-मिचौनी ग्रौर कलाग्रों के प्रदर्शन से लोगों का समय ग्रानन्दपूर्वक कटता था, स्त्रियाँ ग्रपने प्रियतमों के साथ फूल चुनती थीं। इसके पश्चात् या स्वतन्त्र रूप से जलक्रीड़ा होती थी। जलक्रीडा का मनोविनोद ग्रामोद-पूर्ण होता था। प्रेमी जन इसमें ग्रतिशय उत्साह दिखाते थे। ग्रधिक देर तक जलक्रीडा करने के लिए दूध ग्रौषधि मिला कर पिया जाता था। जल में लोग तैरते, पानी पीटते ग्रथवा प्रेमी जनों पर जल के छींटे उछालते थे।

मृगया

मृगया केवल मनोरंजन ही नहीं है, ग्रपितु इसके द्वारा भोजन की समस्या का समाधान हो जाता है। धनी लोग भले ही मनोरंजन के लिए मृगया करते हों, पर दीन-हीन लोग ग्रपनी जीविका चलाने के लिए सदा से मृगया करते आये हैं। फिर भी लोगों के मृगया के दृश्यों का चित्रण करने से ऐसा प्रतीत होता है कि नवीन प्रस्तर-युग से ही मृगया में लोग ग्रानन्द भी लेते थे। सिन्धु-सभ्यता के युग में लोग मृगया के प्रति बहुत उत्साह प्रदर्शित करते थे। वे धूमधाम से ढोल बजा कर बाघ तक का शिकार कर लेते थे। वैदिक काल में सिंह, हाथी, सूग्रर, भैंसे, मृग, पक्षी ग्रादि का शिकार होता था। कवियों ने मृगया की ग्रत्यधिक प्रशंसा की है। रामायण-महाभारत से लेकर कालिदास की रचनाग्रों तक सर्वत्र राजाग्रों को कर्मण्य बनाने के लिए मृगया करने की सीख दी गई है। मृगया से वन निरापद होते हैं।

ग्रलबेरूनी ने लिखा है कि पशुग्रों ग्रौर पक्षियों को पकड़ने के लिए वाद्य का सहारा लिया जाता था।

जुग्रा

जुग्रा का खेल सिन्धु-सभ्यता के युग से भारत में सदैव प्रचलित रहा है। संभवत: यहाँ के निवासी चौपड़, पासा ग्रौर चतुरंग के विविध प्रकार के खेलों से मनोरंजन करते थे। वैदिक काल में भी इसका ग्रच्छा प्रचार था। महाभारत-काल में जुग्रा का धनिकों में प्रचलन था। स्त्रियाँ तक जुए में दाँव पर रखी जा सकती थीं। यों तो जुग्रा सदैव रहा, पर समाज में जुग्रारियों को कभी प्रतिष्ठित स्थान न

मिला। मनु ने जुआ को चोरी माना। उन्होंने नियम बनाया कि जुआरियों और जुआ खेलने का प्रबन्ध कराने वालों को राजदंड मिलना चाहिए।

शतरंज और चौसर दोनों ही खेलों का आविष्कार भारत से ही हुआ है। ये दोनों खेल सातवीं शती में ईरान होते हुए अरब पहुँचे। वहाँ से इनका प्रसार योरप में हुआ।

इन्द्रजाल

इन्द्रजाल भारत की बहुत पुरानी विद्या है। इसके द्वारा लोग अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करके आश्चर्यजनक करतब कर दिखाते हैं। कुछ लोग सदा से ही इन्द्रजाल के द्वारा मनोरंजन करते आए हैं और इस प्रकार उन्होंने अपनी जीविका प्राप्त की है। इस विद्या के द्वारा दूसरों को प्रभावित करके प्राचीन काल से ही उनको ठगा गया है। प्रायः सदा धूर्तों के हाथ में इन्द्रजाल रहा है। इन्द्रजाल का उपयोग नाट्याभिनय में नया रंग ला देता रहा है। यह छाया-नाटक का प्रमुख अङ्ग है।

मल्ल-युद्ध

मल्ल-युद्ध मनोरंजन का स्वाभाविक साधन रहा है। पशु-पक्षी भी मनोरंजन के लिए एक दूसरे से लड़ते देखे जाते हैं। मनुष्य तो केवल मनुष्य से ही मल्ल-युद्ध करके सन्तुष्ट नहीं हुआ, अपितु वह जंगली और पालतू पशुओं से भी लड़ाई ठान कर मनोरंजन करता आ रहा है। मल्ल-युद्ध के लिए रंगशालाएँ बनती थीं। उनके चारों ओर दर्शकों के लिए आसन होते थे। महाभारत में मल्ल-युद्ध के प्रसिद्ध आचार्य भीम के करतबों का सांगोपांगवर्णन मिलता है।

मल्ल-युद्ध जिस स्पर्धा का द्योतक है, उसी के आधार पर अन्य मनोरंजन दौड़ना, कूदना, गेंद खेलना, रथ दौड़ाना, गोली खेलना और मुष्टि-युद्ध आदि रहे हैं। इन सभी में शारीरिक बल और कौशल का प्रदर्शन होता है।

पारिवारिक उत्सव

आनन्द के अवसर पर धूमधाम से उत्सव मनाने का आयोजन होता आया है। प्राचीन काल में भी प्रायः सभी संस्कारों को सम्पन्न करते समय ऊपर लिखे हुए कई मनोविनोद सम्मिलित रूप से अपनाये जाते थे। ऐसे उत्सवों का स्वरूप प्रायः सार्वजनिक होता था। इनमें कुटुम्ब और पास-पड़ोस के लोग तथा सम्बन्धी भाग लेते थे।

वसंतोत्सव

वसन्त शृंगारमय मनोविनोदों के लिए उपयुक्त माना गया है। ऋतु के प्रारम्भ होने के दिन सज-धज कर लोग वसन्त का स्वागत करते थे। तब से प्रायः प्रतिदिन

नृत्य और संगीत के द्वारा सार्वजनिक मनोविनोद होता था। वसन्तोत्सव का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम नर-नारियों का पारस्परिक खेलना रहा है। वसन्तोत्सव का आधुनिक रूप होली है।

शिशुओं के विनोद

प्रायः सभी युगों में शिशुओं और बालकों के मनोरंजन अनेक प्रकार के रहे हैं। बालकों को स्वभावतः खेल-कूद में विशेष रस मिलता है। उनके खेल-कूद की सामग्री सस्ती होती है। जहाँ चाहें, वहीं बच्चे क्षण भर में अपने खेल-कूद की सामग्री जुटा लेते हैं और यदि कुछ और न हुआ तो बड़े-बूढ़ों की नकल उतारना तो उन्हें खूब आता है। आज से लगभग ५००० वर्ष पुरानी सिन्धु-सभ्यता में बच्चों के खिलौने थे--हिलते सिर वाले बैल, रस्सी के सहारे ऊपर-नीच चढ़ते-उतरते वानर, बैलगाड़ी, पक्षियों के आकार की सीटी, पिंजरे में रखे पक्षी, झुनझुने और बौने--ये सभी के सभी मिट्टी के बनते थे। अश्वघोष के अनुसार गौतम बुद्ध के बालकपन में उनके विनोद के लिए जो खिलौने दिये गए थे, वे इस प्रकार हैं :--

मृगप्रयुक्तान् रथकांश्च हैमानाचक्रिरेऽस्मै सुहृद्बालयेभ्यः ।
वयोऽनुरूपाणि च भूषणानि हिरण्मयान् हस्तिमृगाश्वकांश्च ।।
रथांश्च गोपूत्रकसंप्रयुक्तान् पुत्रीश्च चामीकररूप्यचित्राः ।।

हरिण जुते सोने के रथ, सोने के हाथी, मृग और घोड़े, बछवे जुते रथ और सोने की पुतलियाँ। गौतम के लिए जो खिलौने सोने के थे, वे ही साधारण शिशुओं के लिए मिट्टी के होते थे।

कृष्ण-लीला के प्रसंग में उनके गोपाल होने पर दूसरे चरवाहों के साथ खेलने का वर्णन मिलता है। भागवत के अनुसार--बलराम, कृष्ण तथा दूसरे चरवाहों ने पल्लव, मोरपंख, पुष्प और गेरु से शरीर को सुसज्जित कर लिया। फिर कोई आनन्द में मग्न होकर नाचने लगा तो कोई ताल ठोककर कुश्ती लड़ने लगा। जिस समय कृष्ण नाचने लगते थे, उस समय कुछ ग्वाल-बाल गाने लगते, कुछ बाँसुरी बजाते या हथेली से ताल देते थे। कृष्ण और बलराम कभी कुम्हार के चाक की भांति चक्कर करते थे, कभी एक दूसरे से अधिक कूदने का अभ्यास करते थे और कभी होड़ लगाकर अधिक से अधिक दूर कंकड़ फेंकते थे। ग्वाल-बालों के बीच कभी आँख-मिचौनी होती थी। बालक मेढक की भाँति बोलकर परस्पर मनोरञ्जन करते थे। इनके खेल वृन्दावन की नदी, पर्वत, घाटी कुञ्ज, वन और सरोवरों में होते थे।

कृष्ण और बलराम अपने बचपन में बछड़ों की पूँछ पकड़ लेते थे और बछड़े उनको घसीटते हुए लेकर भागते थे। वे कभी-कभी भूमि पर बैठे हुए किसी पक्षी को

पकड़ने के लिए धीरे-धीरे चलकर उस पर लपकते थे और जब वह उड़ जाता था तो उसकी छाया के साथ-साथ घुटनों के बल दौड़ते थे।

सामाजिक विनोद

भारत का प्राचीन काल स्वर्ण-युग कहा जाता है। मनोविनोदों का इतिहास भी इस कथन की पुष्टि करता है। सच तो यह है कि प्राचीन काल में मनोविनोद भारतीय जीवन का अभिन्न अंग बन चुका था। तभी तो छोटे-बड़े, बुड्ढे-बालक, राजा-रंक, स्त्री-पुरुष, विद्वान्-मूर्ख, पहलवान-रोगी, ऋषि और गँवार——सभी के सभी नित्य ही मनोविनोद का रस लेते थे। चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते सभी अवस्थाओं में मनोविनोद चल सकता था। विवाह का समारम्भ हो, युद्ध-भूमि हो या यज्ञ का विधान हो, सर्वत्र मनोरंजन का कुछ सामान होना ही चाहिए था। वास्तव में दैनिक कार्यक्रम के साथ मनोविनोद का स्वस्थ सामञ्जस्य करने में प्राचीन भारत सफल था। उनके लिए लोक-यात्रा में ऊबने का प्रश्न ही नहीं था।

भारतीय मनोविनोदों की समृद्धि का सबसे अच्छा परिचय पहले-पहल बौद्ध साहित्य की जातक कथाओं में मिलता है। इसके अनुसार आज से लगभग २५,०० वर्ष पहले मनोविनोदों के प्रति लोगों की अभिरुचि विशेष बढ़ी हुई थी। उस समय उपवनों में अपनी स्त्रियों के साथ वन-विहार का प्रचलन था। नदियों और सरोवरों में जल-क्रीडाएँ होती थीं। नृत्य, गीत और रासलीलाएँ नित्य प्रति चलती थीं। जातक युग में राजधानियों के उत्सव अनेक वर्षों तक लगातार चल सकते थे। ऐसे उत्सवों में हजारों नट-नर्तक भाग लेते थे। जादूगरों के द्वारा प्रस्तुत मनोविनोद विचित्र होते थे। एक जादूगर ने राजभवन के सामने आम का एक बड़ा पेड़ बनाकर खड़ा कर दिया। एक धाग के सहारे वह आम के पेड़ पर चढ़ गया। अन्य नटों ने फिर पेड़ को काट दिया और टुकड़ों को पानी से सींचकर नाचने लगे। इसी बीच वह पेड़ फल-फूल से सुशोभित होकर फिर खड़ा हो गया। ऐसे ही उत्सव में एक नट अपने साथियों के साथ अग्नि में प्रवेश कर गया। थोड़ी देर के बाद चिता पर पानी छिड़क दिया गया। फिर तो सभी जले हुए नट फूलों का परिधान पहने हुए चिता से बाहर निकले। उसी समय एक ऐसे नृत्य का आयोजन किया गया, जिसमें एक भुजा, एक पैर और एक आँख में तो नृत्य की गति थी और दूसरी भुजा, पैर और आँख निश्चल थीं। जातक युग में सँपेरे और वानरिकों के खेल गाँवों में प्रायः हुआ करते थे। बन्दरों के गले में माला और कानों में सीसे के कुण्डल पहनाए जाते थे और बन्दर आज की ही भाँति अपने विवाह के लिए चल देते थे।

ऐंद्रजालिक राजसभाओं में ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि को दिखाते थे, जैसा रत्नावली में लिखा है :——

एवं ब्रह्मा सरोजे रजनिकरकलाशेखरः शंकरोऽयं
दोर्भिर्दैत्यान्तकोऽसौ सधनुरसिगदाचक्र-चिह्नश्चर्भिः
एषोप्यैरावतस्थस्त्रिदशपतिरमी देवि देवास्तथान्ये
नृत्यन्ति व्योम्नि चैताश्चलचरणरणन्नूपुरा दिव्य-नार्यः ।।

कभी-कभी राजाओं का सार्वजनिक जल-विहार भी होता था, जिसमें राजा के साथ नागरिक जल-क्रीड़ा करते थे।

भगवान् मानो कुछ लोगों को समाज का मनोविनोद करने के लिए ही उत्पन्न करते हैं। महाकवि बाण ने एक ऐसे ही मनोविनोदी जीव का परिचय दिया है। उसका नाम था जरद्द्रविडधार्मिक। बूढ़े धार्मिक का शरीर जले हुए ठूंठ की भाँति था। उसके शरीर पर उभड़ी नसें जले पेड़ पर चढ़ी छिपकली की भाँति दिखाई देती थीं। कहीं से उसे सिद्धाञ्जन मिल गया था। उसे लगाने का अभ्यास तो किया था किसी बड़ी सिद्धि के लिए, पर लगाते-लगाते एक आँख जाती रही फिर भी दूसरी आँख में अंजन लगाना नहीं छोड़ा। वह अपने आगे के निकले हुए दाँतों को छोटा करने के लिए नित्य उन पर तितलौकी का रस लगाता था। अत्यन्त वृद्ध होने पर भी वह दुर्गा की पूजा करता था, जिससे प्रसन्न होकर दुर्गा उसे दक्षिण भारत का सम्राट् बनने का वर दे दें। दिन भर मच्छर की भाँति भनभनाते हुए और सिर को थोड़ा हिलाते हुए कुछन कुछ गाया करता था। वह बुड्ढी संन्यासिनियों पर चूर्ण छिड़का करता था, जिससे कोई उस पर रीझ जाय। पेड़ पर चढ़ने पर उसकी वानरों से लड़ाई हो जाती थी। बेल के फल सैकड़ों बार गिरकर उसके सिर को फोड़ने का प्रयत्न कर चुके थे। ऐसे महापुरुष को अपने व्याह की धुन थी और होली आई तो किसी बुढ़िया को टूटी खाट पर बिठाकर उसके ब्याह का स्वाँग मनचले लोगों ने पूरा कर दिया।

मनोविनोदों के लिए राजधानियाँ सदा सुप्रसिद्ध रही हैं। राजधानी में देश-विदेश के सभी मनोविनोद समय-समय पर नागरिकों के मनोरंजन के लिए प्रस्तुत होते रहते थे। वास्तव में प्राचीन युग के राजा मनोविनोद सम्बन्धी प्रवृत्तियों का संवर्धन करते थे। राजा की ओर से नाट्याभिनय, नृत्य, संगीत, वाद्य, कथाख्यान, गोष्ठी, वन-विहार, जल-विहार, मृगया, जुआ, मल्लयुद्ध आदि के आयोजन कार्यान्वित किए जाते थे। इनसे प्रजा का अनुरंजन होता था। राजकुल के विनोद के लिए वानर, कुबड़े, बहरे, वामन तथा अन्य चित्र-विचित्र पशु-पक्षी रखे जाते थे। देश-विदेश के दर्शनीय पशु-पक्षी, सिंह, हरिण, मयूर, सारस आदि का प्रदर्शन होता था। राजाओं को विचित्र पशु-पक्षियों का उपहार अत्यन्त प्रिय था।

सांस्कृतिक दृष्टि से राजसभा में कवियों की देन अनुपम कही जा सकती है। यों तो कवि अपनी मनोरंजक रचनाएँ सुनाकर राजा से धन और सम्मान पाया करते

थे, पर कभी-कभी कवियों की प्रतिस्पर्धा से राज-सभा का विशेष मनोरंजन होता था। गुजरात के राजा वीरधवल की सभा में हरिहर और सोमेश्वर नामक दो कवियों की प्रतिस्पर्धा बढ़ी। एक बार राजा के महल की प्रशस्ति में सोमेश्वर ने अपने रचे हुए १०८ श्लोक सुनाए। हरिहर ने कह दिया कि श्लोक तो अच्छे हैं, पर नए नहीं हैं। फिर उन श्लोकों को आदि से अन्त तक उसने सुना दिया। सबने यही समझा कि सोमेश्वर चोर कवि हैं। बात यह थी कि हरिहर श्रुतिधर थे और श्लोकों को एक ही बार सुनकर याद कर लेते थे। सोमेश्वर के क्षमा-याचना करने पर हरिहर ने अपनी स्मरण-शक्ति का रहस्य प्रकट किया और राजसभा में कह दिया कि ये श्लोक वास्तव में सोमेश्वर के ही रचे हैं।

इसी हरिहर की एक दूसरे दरबारी कवि मदन से लाग-डाट रहती थी। राजा का आदेश था कि इनमें एक के राजसभा में होने पर द्वारपाल दूसरे को प्रवेश न करने दे। एक बार भूल से मदन कवि राजसभा में जा पहुँचे, जब हरिहर अपनी कविता सुना रहे थे। तत्काल मदन ने डाँटा—

हरिहर परिहर गर्वं कविगजराजाङ्कुशो मदनः।

अर्थात् हरिहर, घमण्ड छोड़ो, कविराज-रूपी मत्त गजराजों का अंकुश मैं मदन आ पहुँचा। हरिहर तो प्रत्युत्पन्न मति थे ही। उन्होंने झट उत्तर दिया :—

मदन विमुद्रय वदनं हरिहरचरितं स्मरातीतम्।

अर्थात् 'मदन, मुँह बंद करो। हरिहर के सामने मदन (कामदेव) की क्या शक्ति?'

इस नोक-झोंक को बढ़ते देखकर मन्त्री ने बीच-बचाव किया और कहा कि आज आप दोनों में कौन श्रेष्ठ है—यह निर्णय हो ही जाना चाहिए। सामने के वृक्ष के विषय में आप दोनों श्लोक लिखें। जो पहले १०० श्लोक बनायेगा, वह विजयी माना जायेगा। इस प्रतियोगिता में मदन आगे रहे, पर हरिहर को यह कब सह्य था। उन्होंने अन्योक्ति द्वारा मदन की कविता को गँवारू बतलाकर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए कहा—

रे रे ग्राम कुविन्द कन्दलतया वस्त्राण्यमूनि त्वया
गोणी विभ्रमभाजनानि बहुशः स्वात्मा किमायास्यते।
अप्येकं रुचिरं चिरादभिनवं वासस्तदा सूय्यताम्
यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृतां वल्लभाः॥

अर्थात् ऐ जुलाहे! देहाती स्त्रियों के लिए अनेक साड़ी बनाने में क्यों व्याकुल है? एक ही साड़ी बना, जो किसी रानी को सदा अलंकृत करे।

आधुनिक मिस इण्डिया की प्रतियोगिता का समकक्ष मनोविनोद भारत में केवल एक ही बार सुनने को मिलता है। कुवलया नामक एक नर्तकी श्रावस्ती के मेले में सबसे अधिक सुन्दरी प्रसिद्ध हुई। लोगों ने कहा कि यहाँ तो सबसे बढ़कर सुन्दर गौतम बुद्ध हैं। कुवलया उनके पास पहुँची। योग-बल से गौतम ने उसे चुड़ैल बना दिया। सम्भवतः उसी युग में यह सौन्दर्य-प्रतियोगिता मरी। आज स्वतन्त्र भारत में पुनः उसका पुनर्जन्म हुआ। अब इसका अन्त करने वाले गौतम बुद्ध नहीं रहे।

मनोविनोद के क्षेत्र में भारत कई बातों में विश्व का गुरु रहा है। कहते हैं कि पोलो, शतरंज आदि का जन्मदाता भारत है। यहीं से इन खेलों का योरप में प्रचार हुआ। प्राचीन भारत का वाजिवाह्यालि-विनोद ही योरप का पोलो है। वाजिवाह्यालि-विनोद में आठ-आठ सवारों की दो टीमें होती थीं। प्रत्येक सवार के हाथ में ४ हाथका लम्बा बल्ला होता था। बल्ले से गेंद को मारकर विपक्षी के गोल में पहुँचा देना जीत के लिए साध्य था। स्वयं राजा किसी एक पक्ष में सम्मिलित हो जाता था।

गजवाह्यालि-विनोद एक भयंकर मनोरंजन था। इसके लिए एक बिगड़ैल हाथी को प्रमादकारी औषधियाँ खिलाकर अतीव क्रोधित कराया जाता था। विनोद के दो-तीन दिन पहले उसे भूखा रखकर और भयंकर बनाया जाता था। फिर ४०० हाथ लम्बे और २०० हाथ चौड़े अखाड़े में घुड़सवारों से हाथी की मुठभेड़ होती थी। खूंखार हाथी के झपेटे में पड़कर कई वीर अपना प्राण गँवा देते थे। इसमें भाग लेने वाले वीरों को राजा की ओर से पारितोषिक दिया जाता था।

मुर्गे की लड़ाई का प्राचीन नाम ताम्रचूड-विनोद है। इसके लिए ३० हाथ घेरे का गोल अखाड़ा बनाया जाता था। बीच में ऊँची वेदी राजा के आसन के लिए होती थी। लड़ने वाले मुर्गों की टाँगों में पैनी छुरियाँ बाँधी जाती थीं। कार्तिक से फाल्गुन तक निरन्तर पाँच सप्ताह प्रति सोमवार को यह लड़ाई चलती थी। छठे सोमवार को निर्णयात्मक लड़ाई होती थी। विजयी मुर्गे के पक्ष के लोग हारे मुर्गे के पक्ष के लोगों की पीठ पर सवारी करते थे। विजयी मुर्गे की शानदार सवारी निकाली जाती थी। इसी प्रकार तित्तिर, मेंढ़े और भैंसे भी लड़ाए जाते थे।

भारतीय संगीत की मोहिनी शक्ति सुप्रसिद्ध है। हाथी, हरिण और पक्षियों को गीत और वाद्य से वश में करने की रीति रही है। गुजरात के राजा कुमारपाल की राजधानी में एक दिन एक विदेशी कलाकार रोने लगा कि मैं लुट गया। राजा ने उससे पूछा कि तुम्हें किसने लूटा? उसने उत्तर दिया—हरिण ने। मैंने गाना सुनाकर एक जंगली हरिण को वश में कर लिया था। जब वह मेरे पास आया तो मैंने अपने गले का हार उसके गले में डाल दिया। उसी समय उधर से एक सिंह निकला।

उसे देखकर वह हरिण मेरा हार लिए हुए भाग गया। राजा ने अपने संगीताचार्य सोलक को आदेश दिया कि तुम उस हरिणको बुलाओ और हार लौटवाओ। सोलक ने वह कर दिखाया। सोलक ने गीत गाकर एक वृक्ष की सूखी शाखा पर नए पत्ते और पल्लव लगा दिए।

संगीत की भाँति नृत्य की शक्ति अलौकिक रही है। वसन्तसेना नामक नर्तकी अपने नृत्य-प्रदर्शन से कलियों को खिला सकती थी। कोषा नामक नर्तकी सरसों के ढेर पर इस प्रकार नाच सकती थी कि ढेर न बिखरे।

वैसे तो मनोविनोदों का प्रचलन विश्व के सभी भू-भागों में समान रूप से है, पर भारतीय मनोविनोदों के क्षेत्र में जो गरिमा और संयम दृष्टिगोचर होते हैं, उनका अन्यत्र प्रायः अभाव-सा है। उदाहरण के लिए यूनान में फ्लोरालिया, बारजेलिया, डायोनोसिया आदि उत्सवों में मनोविनोद करते हुए योरप का मानव शालीनता को दूर छोड़कर ऐन्द्रिक विलासों में पाशविक नग्नता प्रदर्शित करता था। अपने मनोरंजन के लिए दूसरे मानवों और पशुओं को पीड़ित करते हुए उनके मनोभावों और चीत्कारों में आनन्द लेना विदेशों में विशेष प्रचलित हुआ, भारत में नहीं। भारतीय मनोरंजनों का विकास भारतीय संस्कृति की उच्चता के अनुरूप हुआ है।

———

अष्टम अध्याय

औद्योगिक जीवन

जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्राचीन भारत में विविध प्रकार के उद्योग-धन्धे प्रचलित थे। वैसे तो सदा से ही असंख्य प्रकार के उद्योग-धंधों में लोग लगे रहे हैं, पर प्रधान रूप से इस देश में कृषि, पशुपालन, शिल्प और व्यापार मुख्य व्यवसाय रहे हैं।

कृषि

कृषि का सर्वप्रथम परिचय सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से लगता है। मोहे-न्जोदड़ो में आज से लगभग ५००० वर्ष पुराने जो गेहूँ और जौ के दाने मिले हैं, उनसे निश्चित ज्ञात होता है कि उस समय खेती के काम में लोगों ने आश्चर्य-जनक उन्नति की थी। जो बैल उनकी खेती के काम में आते थे, खुदाई में उनका मूर्त्त रूप मिला है। उसे देखकर ज्ञात होता है कि उस समय के लोगों का खेती के काम में पूरा उत्साह था और इस काम में उनका मन लगता था। वे लोग प्रधान रूप से गेहूं, जौ और रूई की खेती करते थे।

वैदिक काल में आर्यों को खेती का बहुत अधिक चाव था। उनकी खेती का ढंग बहुत कुछ वैसा ही था, जैसा आजकल गाँवों में देखा जा सकता है। उनकी खेती में हल, फाल, जोते, हँसिया आदि का उपयोग होता था। उनकी जोताई, बोआई, सिंचाई, कटाई, पिटाई, आजकल ही जैसी होती थी। वैदिक काल के हलों में दो से अधिक बैल जोते जाते थे। काठक-संहिता के अनुसार एक बार एक हल को २४ बैल भी खींचने में असमर्थ हो गये। उस समय अभागा ही दो बैलों का हल चलाता था। हल में दो से अधिक बैल जोतने की रीति प्रायः सदैव प्रचलित रही। पराशर ने लिखा है--

हलमष्टगवं धर्म्यं षड्गवं मध्यमं स्मृतम्।
चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं वृषघातिनाम्॥

(आठ बैलों का हल धार्मिक है। छः बैलों का मध्यम है। चार बैलों का हल नीच लोग चलाते हैं। केवल बैलों की हत्या करने वाले दो बैलों का हल चलाते हैं।)

पद्मपुराण में ब्राह्मणों को खेती की विधि का निर्देश करते हुए बताया गया है कि उन्हें आधे दिन तक चार बैलों का हल जोतना चाहिए। चार के अभाव में

तीन बैलों का हल भी जोता जा सकता है। जो दुर्बल, रोगी, अत्यन्त छोटी अवस्था के और बूढ़े बैल से काम लेकर उन्हें कष्ट पहुँचाता है, उसे गो-हत्या का पाप लगता है। पापी ही एक ओर दुर्बल और दूसरी ओर बलवान् बैल को जोतता है। जो बिना चारा खिलाये बैल को हल जोतने के काम में लगता है, वह गो-हत्या के पाप का भागी है।

वैदिक काल में विविध प्रकार के अन्न––धान, जौ, गेहूँ, चना, माष, तिल, प्रियंगु, मूँग, मसूर ईख इत्यादि उत्पन्न किये जाते थे। कपास की खेती होती थी। जाड़े और बरसात में दो फसलें बोई जाती थीं। उनके बोने और काटने का समय निश्चित था।

महाभारत-काल में खेती को विशेष रूप से राजकीय संरक्षण मिला। खेती वर्षा के भरोसे नहीं छोड़ी जाती थी। महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया है कि जहाँ का दृश्य सुन्दर हो, जहाँ अन्न की उपज अधिक होती हो, जहाँ सब प्रकार के प्राणी निवास करते हों, वहीं भूमि जलाशय के लिए उत्तम है। राजा स्वयं पुण्य के लिए अनेक जलाशय बनवा देता था। वह किसानों की देख-भाल करता था और उनका सदा विश्वास करता था। जातकों में सामूहिक रूप से खेती करने का उल्लेख मिलता है। सबके खेत साथ ही जोते जाते थे। सभी लोग मिलकर सिंचाई के लिए सोते, जलाशय और नाले बनाते थे। गाँव का मुखिया सिंचाई की देख-रेख करता था। गाँव भर की खेती की रक्षा के लिए एक ही बाड़ा बनता था। ग्रीक लेखक स्ट्रैबो ने ऐसी कृषि-पद्धति का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि वर्ष के अंत में प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार अन्न ले लेता था। शेष अन्न जला दिया जाता था। ऐसा इसलिए किया जाता था कि कहीं लोग आलसी न हो जायँ और आवश्यकता न रहने पर काम करना छोड़ दें।

मौर्य-काल में राजा की ओर से सिंचाई का सुप्रबन्ध किया गया था। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में ३१० ई० पू० में आधुनिक जूनागढ़ प्रान्त के गिरिनगर में ऊर्जवत् पर्वत की घाटी को बाँधकर एक बड़ी झील बनाई गई। २६० ई० पू० में अशोक ने सिंचाई के लिए उससे अनेक नहरें निकलवाई। यह बाँध १५० ई० में टूट गया। पश्चिमी भारत के राजा रुद्रदामन् ने इसको फिर बनवाया। लगभग ३०० वर्षों के बाद यह बाँध एक बार और टूटा और ४५६ ई० में स्कन्दगुप्त ने इसको बनवाया। इस प्रकार के बाँध बनवाने का काम तथा अन्य सिंचाई के प्रबन्ध प्रायः सभी अच्छे राजाओं ने किये।

ई० पू० २०० के लगभग की कृषि-सम्बन्धी उन्नति और महत्त्व की कल्पना महाभाष्य के इस वाक्य से की जा सकती है :—

अर्थवानयं देश उच्यते यस्मिन्गाव: सस्यानि च वर्तन्ते ।
(वह देश अर्थवान् कहा जाता है, जहाँ गौ और सस्य विराजमान हों ।)

मनु ने असावधानी के कारण खेती न करने वालों पर समुचित प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था दी है । उस समय यदि कोई खेतिहर असावधान होता और अपने खेत को चर जाने देता अथवा उपज को किसी प्रकार भी नष्ट होने देता तो राजा उससे भूमिकर का दस गुना दण्ड-रूप में लेता था । उस समय सिंचाई के सुप्रबन्ध के लिए गाँवों की सीमाओं पर तडाग, उदपान, बावली और नहरों का प्रबन्ध था ।

गुप्त-काल में राजा आदित्यसेन की स्त्री ने एक बड़ा जलाशय बनवाया । तत्कालीन भारतवासियों ने खेती को सबसे अधिक आकर्षक माना था । ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि जिस राष्ट्र में किसान बहुत हों, परन्तु वे घमंडी न हों तथा जहाँ सब प्रकार के अन्न उत्पन्न होते हों, वहीं बुद्धिमान् मनुष्य को रहना चाहिए । भूमि सदा अन्न उपजाने वाली होनी चाहिए ।

कश्मीर के राजा अवन्ति वर्मा के मन्त्री सूय ने बाढ़ आने पर झेलम के तट पर बाँध बनवाकर उससे नहरें निकलवाईं । उसने प्रत्येक ग्राम की जाँच करवाई कि उसे कितने जल की आवश्यकता है और फिर उचित मात्रा में सिंचाई के लिए जल देकर खेती का ऐसा सुप्रबन्ध करवाया कि चावल का मूल्य पहले से $\frac{१}{६}$ हो गया । कल्हण ने राजतरङ्गिणी में सूय की चतुरता का वर्णन करते हुए कहा है कि उसने नदियों को इस प्रकार नचाया, जैसे सँपेरा साँपों को नचाता है ।

दसवीं शतीं में परमार वंशी राजा वाक्पति मुंज ने अनेक जलाशय खुदवाये । उनमें से मुंजसागर अब भी धारा नगरी के समीप उसकी कृति का स्मारक-स्वरूप विराजमान है । इसी के वंश में भोज ने ग्यारहवीं शतीं में भोजपुर के समीप एक बहुत बड़ी झील बनवाई, जो अपने युग में सर्वोत्तम गिनी गई । यह पन्द्रहवीं शती तक उस प्रदेश को अलंकृत करती थी । इसका सर्वनाश शाह हुसेन ने पन्द्रहवीं शती में कर दिया । इस झील के अवशेष भोपाल से १५ मील की दूरी पर दर्शनीय हैं ।

तामिल प्रदेश में नदियों का जल मुहाने के पास रोक कर उससे सिंचाई की जाती थी । सिंचाई के लिए करिकाल चोल ने १०० मील का बाँध कावेरी पर बँधवाया था । चोलों ने बहुत से कुएँ और जलाशय भी बनवाये । इस वंश के राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी के समीप एक झील बनवाई, जो कोलेरुन और वेल्लार नदियों के जल से भरी जाती थी । इस झील की चारों ओर की दीवार ४ मील लम्बी थी । इसमें पत्थर के बने हुए नाले और नालियाँ बनाई गई थीं, जिससे सिंचाई का पानी बाहर आता था । दक्षिण भारत के पल्लव राजाओं ने भी खेती के लिए सिंचाई का

प्रबन्ध किया। उन्होंने अनेक झीलों और जलाशयों का निर्माण कराया। इस प्रथा को भारतीय यात्रियों ने लंका में चलाया। पराक्रम बाहु (११५० ई०) ने लंका में १४७० जलाशय और ५३४ नहरें बनवाईं और अनेक जलाशयों और नहरों का नवीकरण कराया।

भारतीय धर्मों में जलाशय और कूपों का बनवाना महान् पुण्य का साधन माना गया है। प्रायः सभी स्मृतियों और पुराणों में इनका निर्माण कराने वालों की प्रशंसा की गई है। इस धार्मिक व्यवस्था के कारण सदा से कुएँ और जलाशय बनते आये हैं। ये कहीं भठ न जायँ, इस उद्देश्य से एक उपयोगी धार्मिक व्यवस्था दी गई थी—पहले पाँच लोग मिट्टी निकाल कर ही पोखरे में स्नान करने के लिए प्रवेश करे। इस विधि से पोखरों और जलाशयों की गहराई अधिक वर्षों तक सम्भव रहती होगी। पद्मपुराण में नष्ट होते हुए जलाशय को पुनः खुदवा कर उसका उद्धार करने का काम सुख, शान्ति और स्वर्ग-प्राप्ति का कारण बताया गया।

भारत ने खेती को सभी उद्योगों में प्रमुख स्थान दिया था। प्रायः सभी जातियों के लोग सदा से ही अन्न उपजाने का काम मुख्य रूप से तथा अन्य काम गौण रूप से करते थे। अबूजैद सैराफी ने लिखा है कि—वर्षा के दिनों में नाव नहीं चलते। भारतवासी उन दिनों खेती-बारी या अन्य कोई व्यवसाय करते हैं। वर्षा पर उनका निर्वाह होता है। इसी ऋतु में चावल होता है, जो उनका भोजन है।

उद्यान

सिन्धु-सभ्यता के युग में लोग फलों से परिचित थे। अनुमान किया जाता है कि वे लोग खजूर नीबू, नारियल और अनार के फलों को अपने उद्यानों में उपजाते थे। वैदिक काल में लोगों को फल खाने का चाव था। वन में बहुत से फल प्रकृति-प्रदत्त रूप में मिल जाते थे। उन जंगली वृक्षों के फलों से सन्तुष्ट न रह कर उन्होंने परिश्रम करके अच्छे फलों के वृक्षों को उपवनों में स्थान दिया। रामायण और महा-भारत में विविध प्रकार के उपवनों का वर्णन मिलता है। उस समय प्रत्येक नगर के समीप सार्वजनिक उपवन होता था। धनी लोगों के उपवन उनके घरों से सटे रहते थे।

जलाशयों में पद्मवन तैयार किये जाते थे। ऐसे पद्मवन उद्यानों के बीच में होते थे। बौद्ध-काल में काशी के राजा के उद्यान की दीवाल १८ हाथ चौड़ी थी। उसमें कई स्थानों पर द्वार और अट्टालिकाएं बनी हुई थीं। उद्यान में विविध प्रकार के वृक्ष लगे थे, जो फल और फूल से लदे थे। उसके बीच एक पुष्करिणी थी, जिसमें पाँच प्रकार के कमल खिले हुए थे।

महाभारत के अनुसार वृक्ष लगाने वाले मनुष्य की इस लोक में कीर्ति बनी रहती है और मरने के पश्चात् उसे उत्तम फल की प्राप्ति होती है। इस ग्रन्थ में वृक्षों को, लगाने वाले व्यक्ति का, पुत्र माना गया है। उस समय लोगों की धारणा थी कि वृक्ष अपने पुष्पों से देवताओं को, फलों से पितरों को और छाया से अतिथियों को सन्तुष्ट करते हैं। महाभारतकार ने कहा है कि लौकिक और पारलौकिक कल्याण चाहने वाले व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह पोखरा खुदवा कर उसके किनारे अच्छे-अच्छे वृक्ष लगाये और पुत्र के समान उन वृक्षों की रक्षा करे।

उपवन लगाने की वैज्ञानिक विधि का उल्लेख अर्थशास्त्र में इस प्रकार मिलता है—'वृक्ष लगाने के पहले गड्ढा खोदना चाहिए। उस गड्ढे को आग से जलाना चाहिए। फिर उसमें गाय की हड्डी और गोबर की खाद डालनी चाहिए और तब पौधा लगाना चाहिए।' महाराज अशोक ने प्रजा के सुख के लिए असंख्य वृक्ष सड़कों के किनारे लगवाये।

गुप्त-काल में उपवनों का उपयोग सरस जीवन और मनोरंजन के लिए होता था। उनमें मनोरम प्राकृतिक छटा सर्वत्र विराजती थी और भाँति-भाँति की क्रीडाओं के लिए साधन प्रस्तुत किये जाते थे।[१] उपवन के साथ ही जलक्रीडा के लिए पुष्करिणी होती थी। प्रेमियों की क्रीडाओं के लिए क्रीडाशैल बनता था। उपवनों में भाँति-भाँति के गाने वाले और मनोहर पक्षी पाले जाते थे।

उपवन का महत्त्व भारतीय जीवन में सदा बढ़ता गया। वृक्षों की बढ़वारी और स्वास्थ्य के लिए उनके रोगों का अन्वेषण और चिकित्सा का प्रबन्ध हुआ। वराहमिहिर (५०५ ई०) ने बृहत्सहिता के वृक्षायुर्वेद नामक अध्याय में वृक्षों के विकास और उनके रोगों के उपचार के उपाय बताये हैं।

पौराणिक काल में वृक्षों की पूजा होने लगी। मत्स्यपुराण में वृक्षोत्सव का महान् आयोजन करने की सीख दी गई है। पद्मपुराण में पीपल के वृक्षारोपण का अत्यन्त महत्त्व बताया गया है। पीपल का वृक्ष सरोवरों के चारों ओर लगाने की विधि दी गई है। इस पुराण के अनुसार रसों के क्रय-विक्रय के लिए नियत रमणीय स्थान पर मार्ग में और जलाशय के किनारे वृक्ष लगाने चाहिए।

अरबी लेखकों ने भारतीय उद्यानों की बड़ी प्रशंसा की है। उनके लेखों में भारतीय नारियल, नीबू, आम और केले के सुन्दर और स्वादिष्ठ फलों का बारंबार वर्णन मिलता है।

---

१. वृक्ष की काव्यात्मक चारुता का निदर्शन है—
I shall never see a poem as lovely as a tree. joye Kilmer

पशु-पालन

कृषि के साथ-साथ पशु-पालन का उद्योग सफलतापूर्वक चलता है। प्राचीन काल से भारतवासियों ने इन दोनों उद्योगों की पारस्परिक संगति देख कर साथ ही इनको अपनाया है। कृषि से केवल मनुष्यों का ही भोजन नहीं उत्पन्न होता, अपितु पशुओं का भी भोजन प्राप्त होता है। पशुओं में सबसे अधिक महिमशाली बैल है। वह हल खींच कर खेती के काम में सहायता देता है। पशुओं के गोबर से खाद होती है। खाद खेती के पौधों का मुख्य भोजन है।

सिन्धु-सभ्यता के युग में लोग बैल, भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ते और ऊँट पालते थे। तत्कालीन बैलों की मूर्तियों से यह निश्चित प्रतीत होता है कि वे लोग पशु-पालन-विज्ञान में परं प्रवीण थे। पशुओं को वे केवल पशु ही नहीं समझते थे, अपितु उनको मानव-जीवन के सन्निकट मानते थे। वे पशुओं को पूज्य कोटि में गिनते थे और उन्होंने पशुओं को देवताओं का पार्श्ववर्ती माना था। अपनी कलात्मक कृतियों में पशुओं को स्थान देकर उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि पशुओं के प्रति उनका प्रेम था।

वैदिक काल में प्रायः गाय, बैल, भैंस, घोड़े, हाथी, ऊँट, गदहे, बकरियाँ और भेड़ें पाली जाती थीं। उस समय राजाओं की अध्यक्षता में सहस्रों हाथी, घोड़े और गायें रखी जाती थीं। आर्थिक विकास के लिए आर्य गौओं को इतना आवश्यक मानते थे कि उनको देवता और अघ्न्य की पदवी दी गई। वे देवताओं से प्रार्थना करते थे कि गायों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाय और वे अधिक दूध दें।

पशुओं से मानवों का सम्बन्ध निकटतर होता गया। पशुओं के प्रति लोगों के वही भाव हो गये, जो परिवार के लोगों के साथ होते थे। गोवत्स के उत्पन्न होने पर उसकी माता के चाटने के पहले ही उसके ललाट को चाटना उसके लिए पुष्टिकारक माना गया। गोवत्स के जन्म के अवसर पर वैदिक मन्त्रों का पाठ होता था। गोशाला में प्रतिदिन सन्ध्या के समय गौओं को सुगन्धित द्रव्यों के गन्ध से आह्लादित किया जाता था।

महाभारत में नकुल तथा सहदेव के पशु-पालन की चर्चा की गई है। ये दोनों घोड़े और गौओं की शिक्षा और परिचर्या में कुशल थे। तत्कालीन राजाओं के पास असंख्य गायें होती थीं। राजा विराट् की गायें एक लाख थीं। गोपालन का महत्त्व इतना अधिक था कि राजकुमार भी पशुओं की गणना करने तथा उनकी देख-भाल करने के लिए नियुक्त होते थे।

पशुओं की उपयोगिता तत्कालीन राजाओं के लिए बहुत अधिक थी। सेना में हाथियों और घोड़ों के अतिरिक्त बैलगाड़ी में जुतने के लिए बैलों की आवश्यकता पड़ती थी। ऐसी परिस्थिति में राजाओं के संरक्षण में पशु-पालन के विज्ञान की उन्नति

ई। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने तत्कालीन राजाश्रय में पाले हुए गौओं, घोड़ों और हाथियों आदि के संवर्धन का पूरा विवरण दिया है। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन पशुओं का जीवन बहुत सुखी था। घोड़ों के विषय में जो कुछ उसने लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि इनके भोजन में प्रधानतः चावल, जौ, चना, मूंग, माष, तेल, नमक मांस, दही और चीनी होती थी। बछेड़ों को पैदा होने के समय से लेकर दस दिनों तक मक्खन और आटा दिया जाता था। उनको छः मास तक दूध और चार वर्ष तक जौ खिलाते-पिलाते थे। घोड़ों को सुरक्षित और नीरोग रखने के लिए प्रबन्ध किया गया था। उनको किसी प्रकार की हानि पहुंचाने वाला व्यक्ति दण्डनीय था। वैद्य उनके स्वास्थ्य की चिन्ता करते थे। यदि औषधियों के दोष से या वैद्य की असावधानी से घाड़ों की बीमारी बढ़ जाती थी तो उनको दण्ड दिया जाता था। घोड़ों की सजावटा सुरुचिपूर्ण नागरिकों की भाँति होती थी। उनको नहलाया जाता था, चन्दन से उनका शरीर चर्चित किया जाता था और दिन में दो बार उनको मालाएँ पहिनाई जाती थीं। इसी प्रकार अन्य पशुओं का भी संवर्धन होता था।

मनु ने व्यवस्था दी है कि गाँव के चारों ओर ४०० हाथ तथा नगर के चारों ओर १२०० हाथ चौड़ी भूमि छोड़ देनी चाहिए। इस भूमि का नाम परीहार था और यह पशुओं के चरने के लिए थी। मनु ने पशुओं की देखभाल करने वालों को सन्तोषजनक वेतन देने का विधान बनाया है और बताया है कि जो चरवाहा वेतन के रूप में दूध ही लेना चाहे, वह स्वामी की आज्ञा से प्रत्येक दस गायों के समूह में सबसे अधिक दूध देने वाली गाय का दूध ले ले। चरवाहा दिन भर पशुओं के साथ रह कर उन्हें चराता था। सन्ध्या के समय पशुओं को चरवाहे स्वामी के घर ला देते थे। कभी-कभी रात्रि के समय भी पशु चरवाहों की देख-रेख में छोड़ दिए जाते थे।

गुप्तकालीन पशु-पालन का आदर्श कालिदास ने 'रघुवंश' में चित्रित किया है—'महाराज दिलीप स्वयं नन्दिनी नामक गाय की परिचर्या कर रहे हैं। प्रतिदिन बछड़े के पी लेने के पश्चात् गाय को गन्ध और माला से रानी स्वयं सजाती हैं। राजा कोमल और स्वादिष्ठ घास नोचकर गाय को खिलाते हैं, उसके शरीर को खुजलाते हैं। और मच्छरों को भगा देते हैं। वह गाय जिधर चाहती है, मनमाना रहती है और सन्ध्या हो जाने पर वसिष्ठ के आश्रम की ओर लौटती है। रानी हाथ में अक्षत लेकर उसकी प्रदक्षिणा करती है, प्रणाम करती है और सींगों के मध्य-भाग का अर्चन करती है। रात्रि के समय उस गाय के निकट बलि और दीप रखे जाते हैं। गाय के सो जाने पर ही राजा सोते हैं। एक दिन जब गाय को सिंह पकड़ लेता है तो राजा गाय के बदले में अपना शरीर देकर उसकी रक्षा करने के लिए उद्यत हो जाते हैं।

पौराणिक काल में पशुओं के प्रति सौहार्दमय व्यवहार होता रहा। उस समय नियम बनाया गया कि प्रतिदिन बलों को चोर और व्याघ्र आदि से रहित स्थान

में, जहाँ घास काटी न गई हो, चराना चाहिए। उनको यथेष्ट घास खाने के लिए दी जानी चाहिए। बैलों के रहने के लिए ऐसी गोशाला होनी चाहिए, जहाँ किसी प्रकार का उपद्रव न हो। गोबर, मूत्र और बिखरी हुई घास आदि हटाकर गोशाला को सदा स्वच्छ रखना चाहिए। उस समय गोशाला को देवताओं का स्थान माना गया था। वहाँ कूड़ा फेंकने का निषेध था। विद्वान् पुरुषों का कर्त्तव्य बतलाया गया है कि वे गोशाला को अपने शयन-गृह की भाँति स्वच्छ रखें, उसके धरातल को समतल बनायें तथा ऐसी व्यवस्था करें, जिससे वहाँ सर्दी, वायु और धूल से पशुओं को किसी प्रकार का कष्ट न हो। गौ को अपने प्राण के समान समझने की सीख दी गई है।

काम करने वाले पशुओं को छुट्टी भी मिलती थी। अमावस्या, संक्रान्ति तथा पूर्णिमा को हल जोतना मना था। इन तिथियों को पशुओं के शरीर में श्वेत और रंग-विरंगी रचना करके काजल, पुष्प और तेल के द्वारा उनकी पूजा करना पुण्यकारक माना जाता था।

व्यापार

नवीन प्रस्तर-युग से बहुमूल्य वस्तुओं को एक दूसरे से प्राप्त करने के लिए योरप और एशिया का व्यापार चला आ रहा है। उस समय लोग बहुमूल्य धातुओं, रत्नों और मोतियों की खोज में सहस्रों मील की यात्रा करते थे। संभवत: नवीन प्रस्तर युग के व्यापारी विदेशियों ने ताम्रपर्णी नदी के तट पर अपनी वसति बसाई थी। यह नदी मोतियों के लिए प्रसिद्ध रही है। यहाँ आस-पास सोना भी मिलता था।

सिन्धु-सभ्यता के लोगों ने केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों में ही अपने व्यापार का प्रसार नहीं किया, अपितु भारत के बाहर विदेशों से भी वे व्यापार करते थे। वहाँ की मुद्राएँ संभवत: व्यापार करने के काम में आती होंगी। वे भारत के बाहर से टिन, ताँबा और बहुमूल्य रत्न मँगाते थे। सिन्धु-सभ्यता की समकालीन सभ्यताएँ मिस्र और मेसीपोटामिया में पाई जाती हैं। भारत, मिस्र और मेसोपोटामिया में पाई जाने वाली तत्कालीन वस्तुओं से ज्ञात होता है कि इन सभी देशों में व्यापारिक आदान-प्रदान होता था। सिन्धु-सभ्यता के लोग नावों का उपयोग करते थे।

वैदिक काल में पणि नामक व्यापारी जाति का उल्लेख मिलता है। संभवत: उनकी आर्यों से नहीं पटती थी। उस समय नदियों के आरपार जाने के लिए नावों का उपयोग होता था। वेदों में सामुद्रिक नावों का उल्लेख मिलता है। संभव है, वे समुद्रों में चलने वाली नावें हों या बड़ी-बड़ी नदियों में ही चलती हों। बड़ी नदियों को भी समुद्र कहते हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि उनकी नावें बहुत

बड़ी थीं और उनमें सौ तक पतवार लगाये जाते थे। नावों के अतिरिक्त उस समय रथ और गाड़ियों से भी व्यापार होता था। रथों में घोड़े जुतते थे और गाड़ियाँ बैलों से खींची जाती थीं। जंगलों के बीच से मार्ग बनाने के लिए संभवतः अग्नि से वृक्षों को जला दिया जाता था। अग्नि का एक नाम तत्कालीन साहित्य में 'पथिकृत्' भी मिलता है।

व्यापार विशेषतः वस्तुओं के लेन-देन से होता था। मुद्राओं का प्रचलन कम था। मुद्रा की इकाई गाय थी। गाय को उस युग का प्रधान सिक्का माना जा सकता है। निष्क नामक सोने का टुकड़ा भी मुद्रा के रूप में प्रचलित था। क्रय-विक्रय प्रायः वस्त्र, चादर, चर्म और सोम का होता था।

वैदिक युग के अन्तिम भाग में आर्यों का किरातों से व्यापार बढ़ चला। किरात प्रायः पर्वतों और वनों में रहते थे। उनकी औषधियाँ आर्यों की वसति में बिकती थीं। निष्क, शतमान और कृष्णल नामक मुद्राओं का प्रचलन हुआ। व्यापारियों के संघ बनने लगे। वैश्य जाति ने मुख्य रूप से वाणिज्य का काम अपनाया।

ई० पू० आठवीं शती से लेकर लगभग चौथी शती ई० पू० तक स्वर्णभूमि (बर्मा और मलाया आदि), ताम्रपर्णी (लंका) और बावेरु (बेबीलोन), चीन, मिस्र आदि से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ा। भारतीय नदियों से प्रादेशिक व्यापार के लिए सहजाति (मध्य भारत), कौशाम्बी (यमुना के तट पर), बनारस, अयोध्या, चम्पा (भागलपुर के समीप), पाटलिपुत्र (पटना) और पत्तल (सिन्धु नदी के तीर पर) प्रमुख नौ-स्थान थे। समुद्री तटों पर भृगुकच्छ (भड़ौच), शूर्पारक (बम्बई के उत्तर सोपर) आदि प्रमुख नौ स्थान थे। ये जल मार्ग के मुख थे।

स्थल-मार्ग से व्यापार की अच्छी सुविधा थी। एक सड़क गंगा की घाटियों के प्रमुख नगरों से होती हुई तक्षशिला जाती थी और वहाँ से सड़क मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया तक गई थी। दूसरी सड़क दक्षिणी बिहार के राजगृह नगर से श्रावस्ती और वहाँ से गोदावरी-तट तक गई थी। तीसरी सड़क राजस्थान की मरुभूमि से होती हुई सिन्धु नदी की घाटी तक जाती थी और वहाँ से नर्मदा नदी के मुहाने तक गई थी। मार्गों में यात्री और व्यापारियों का पथ-प्रदर्शन ताराओं को देखकर दिशा-ज्ञान करने वाले लोग किया करते थे।

एक भारतीय नाविक का उल्लेख योरपीय साहित्य में मिलता है, जो चौथी शती ई० पू० में जर्मनी और इंगलैंड के बीच अपनी नाव ले गया था, पर दुर्भाग्यवश वहाँ तूफान में फँस गया। ऐसे और भी भारतीय नाविकों के उल्लेख योरप और मिस्र के प्राचीन साहित्य में मिलते हैं, जो ईसवी शती से पूर्व उधर गए थे।

मौर्यकाल में भारत का मिस्र, सीरिया और ग्रीक राज्यों से व्यापारिक सम्बन्ध था। मौर्य-राजाओं के जल-यान-विभाग की ओर से बहुत-सी नावें बनती थीं और किराए पर भी चलती थीं।

उपर्युक्त काल में व्यापार की मुख्य वस्तुएँ रेशम, मलमल, बेल-बूटे का काम, लकड़ी, पशु, हाथी-दाँत का काम, रत्न और सोना थीं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तत्कालीन व्यापार का पूरा परिचय मिलता है। वह लिखता है कि उत्तर भारत कम्बल, घोड़े और चमड़े के लिए तथा दक्षिण भारत शंख, रत्न, हीरे, बहुमूल्य पत्थर, मोती और सोने के लिए अच्छे व्यापारिक क्षेत्र हैं। उस समय नाप-तोल में गड़बड़ी करने वालों को दण्ड दिया जाता था। पण्याध्यक्ष, जो राजा की ओर से नियुक्त किया जाता था, प्रजा की वस्तुओं के क्रय-विक्रय का भी प्रबन्ध करता था।

ई० पू० पहली शती में भारत और रोम राज्य का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। योरप के लोग भारत की भोग-विलास की वस्तुओं को बहुत चाव से मँगाते थे। पहली शती में हिप्पालस ने भारत से योरप जाने का सरलतम सामुद्रिक मार्ग ढूँढ़ निकाला। पहली शती के अन्तिम भाग में मिस्र देश में रहने वाले एक ग्रीक नाविक ने लाल सागर और अरब सागर से होते हुए भारत के समुद्री तट की यात्रा की। उसने 'एरिथ्रियन सागर का परिभ्रमण' नामक पुस्तक में इस यात्रा का वर्णन किया है।

ऊपर जिस व्यापार का उल्लेख किया गया है, उसके द्वारा भारत योरप की सोने की मुद्राओं से भरने लगा।

पहली ईसवी शती में अफ्रीका के किनारे कई द्वीपों में भारतवासियों ने अपना व्यापारिक उपनिवेश बनाया। ऐसा एक उपनिवेश सकोत्रा द्वीप में था। पश्चिमी देशों में भारत से मसाले, गंध, सूती कपड़े, रेशम, मलमल, हाथी-दाँत, कछुए की पीठ, मिट्टी के बर्तन, मोती, हीरा, जवाहिर, चमड़ा, दवा आदि जाते थे। उन देशों से भारत में कपड़ा, दवा, शीशे के बरतन, सोना, चाँदी, ताँबा, टिन, सीसा और जवाहिर आते थे। पहली शती ईसवी के ग्रीक लेखक प्लीनी के अनुसार इस व्यापार से भारत को बहुत लाभ होता है और रोम-साम्राज्य का बहुत अधिक धन भारत जाता है। उस समय चोल प्रदेश में कावेरपट्टम्, तोंडी और पुहार समुद्री व्यापार के बड़े केन्द्र थे। अफ्रीका में सिकन्दरिया व्यापार का महान् केन्द्र था। लाल सागर तक जो सामान पहुँचता था, वह वहीं इकठ्ठा होता था और वहाँ से योरप और अफ्रीका के देशों में भेजा जाता था।

पूर्वी देशों के साथ भी व्यापार बढ़ता रहा। बंगाल की खाड़ी से नाव पूर्वी द्वीप-समूह और चीन तक जाती थीं। पूर्वी द्वीप-समूह में मसाले की उपज बहुत अधिक थी। दूसरी शती ई० के टालेमी ने मलाया, जावा और सुमात्रा आदि के व्यापारिक केन्द्रों का उल्लेख किया है। टालेमी ने लिखा है कि पलुरा (गंजाम के समीप नौका-स्थान) से सीधा समुद्री मार्ग मलाया जाने के लिए प्रसिद्ध था। भारतीय साहित्य में उन वीर और उत्साही व्यापारियों तथा क्षत्रिय कुमारों की कथाएँ भरी पड़ी हैं, जो सुदूर प्राचीन काल में प्राणों को संशय में डाल कर अपने भाग्य का निर्णय करने के लिए इन द्वीपों की ओर चल पड़े। उन्होंने वहाँ पर व्यापारिक केन्द्र तथा साम्राज्य की स्थापना की। इन्हीं लोगों के साथ ही भारतीय संस्कृति भी उन देशों में जा पहुँची।

सातवीं शती से योरप में अरबों का प्रभुत्व हो जाने के पश्चात् भारत का पश्चिमी देशों से व्यपारिक सम्बन्ध अरबों के माध्यम से होने लगा। अरब स्वयं बड़े कुशल नाविक थे। वे अरब से चलकर भारतीय समुद्री तट से होते हुए पूर्वी द्वीप-समूह और चीन तक पहुँचते थे। सातवीं शती में फारस की खाड़ी में उबला का प्रसिद्ध नौकास्थान इराक में बसरे के पास था। उस समय निकटवर्ती देशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध बहुत बढ़ा हुआ था। उबला भारत का एक टुकड़ा गिना जाता था। चीन और भारत से आने वाले जलयान यहीं ठहरते थे और यहीं से चलते थे। भारतीय व्यापारिक उन्नति की कल्पना एक अरब यात्री के नीचे लिखे वर्णन से हो सकती है। उसने हजरत उमर को भारत का विवरण देते हुए कहा है--'भारत की नदियाँ मोती हैं, पर्वत लाल हैं और वृक्ष इत्र हैं।' हजरत उमर ने उबला पर अपना अधिकार कर लिया। तब से लेकर लगभग २५० वर्षों तक यह नौका-स्थान अरबों के हाथ में दिन-प्रतिदिन उन्नति करता रहा। सातवीं शती के मध्य भाग में इराक में अरबों ने बसरा का नौकास्थान बनवाया। बसरा भी भारत आने-जाने का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया।

नवीं शती में फारस की खाड़ी में सैराफ का नौकास्थान भारतवासियों के द्वारा अपनाया गया। यह उबला की भाँति बड़ा नगर हो गया और लगभग सौ वर्षों तक उन्नति करता रहा।

सैराफ की अवनति का कारण फारस की खाड़ी में उमान के समीप कैश द्वीप में कैश नामक नौकास्थान का बनना था। बारहवीं शती तक यह नौकास्थान भारतीय व्यापार का प्रमुख केन्द्र रहा। इसकी सारी उन्नति भारतीय व्यापार के कारण थी। भारत के सभी जलयान यहाँ ठहरते थे। कजनीवी (१३०७ ई०) ने कैश के विषय में लिखा है--'यह भारत के व्यापार की मंडी है और उसकी नौकाओं का आश्रय है। भारत में जो अच्छी वस्तुएँ हैं, वे सभी यहाँ लाई जाती हैं।'

अरब के ग्रन्थों में सातवीं शती से भारतीय नौकास्थानों का परिचय मिलता है। उस समय सिन्ध में देबल, गुजरात में थाना, खम्मात, सोपारा और जैमूर, मद्रास में कोलममली, मालाबार और कन्याकुमारी प्रसिद्ध नौकास्थान थे। कोलममली में जलयान बनाने और उनके नवीकरण का कारखाना था। इब्न हौकल ने दसवीं शती के देवल नामक नौकास्थान के विषय में लिखा है—'यह व्यापार की बहुत बड़ी मंडी है। यहाँ अनेक प्रकार के व्यापार होते हैं।'

ऊपर बताये हुए नगरों से यहूदी जाति के लोग सामान मोल लेकर प्रायः स्थल-मार्ग से योरप के देशों में पहुँचते थे। नवीं शती के अरब लेखक इब्न खुर्दाजबा ने यहूदियों के विषय में लिखा है—ये लोग अरबी, फारसी, लैटिन, फिरंगी, स्पेनी और स्लव भाषाएँ बोलते हैं तथा पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व जल-थल में दौड़ते-फिरते हैं। यहूदी दास, रेशमी कपड़े, समूर, पोस्तीन और तलवार बेचते हैं। ये फिरंगिस्तान से सवार होकर रूमसागर के मिस्र वाले तट पर आते हैं और स्थल पर उतर कर व्यापार की सामग्री पशुओं की पीठ पर लाद कर लाल सागर लाते हैं। वहाँ से फिर जहाज पर बैठकर जद्दा आते हैं और जद्दा से सिन्ध, भारत और चीन जाते हैं। इसी मार्ग से वे लौटते भी हैं। यहूदियों का दूसरा मार्ग रूम-सागर से नाव से शाम, फिर थल-मार्ग से इराक और वहाँ से फरात की नहर में नाव से बगदाद आने का है। वे बगदाद से दजला नदी में नाव पर यात्रा करते हुए उबला पहुँचते हैं। उबला से वे उमान, सिन्ध, भारत और चीन जाते हैं।

इब्न खुर्दाजबा ने लिखा है कि रूपी जाति के लोग भी भारत और चीन तक जल-थल के मार्ग से आते-जाते हैं। उस समय काबुल और गजनी में भारतीय व्यापारिक मंडियाँ थीं।

नवीं शती के एक अरब यात्री ने इस बात का विवेचन किया है कि सराफ के जलयान भारत की ओर तो जाते हैं, पर मिस्र की ओर नहीं जाते। उसने कहा है—'भारत के पानी में मोती होता है, पर्वतों में हीरे होते हैं और सोने की खानें हैं, जानवरों के मुँह में हाथी-दाँत हैं, भूमि से आबनूस, बेंत, जद, कपूर, लवङ्ग, जायफल, बक्कम, चन्दन और सब प्रकार के सुगन्धित द्रव्य होते हैं, पक्षियों में तोते और मोर होते हैं और कस्तूरी होती है।' ऊपर लिखी हुई इन्हीं वस्तुओं के लिए व्यापारी आते थे। नवीं शती के दूसरे अरबी लेखक इब्न खुर्दाजबा ने भारत से दूसरे देशों में जाने वाली वस्तुओं का नाम इस प्रकार गिनाया है—सुगन्धित लकड़ियाँ, चन्दन, कपूर, लौंग, जायफल, कबाब चीनी, नारियल, सन के कपड़े, रूई के मखमली कपड़े, हाथी-दाँत, सीसा, बक्कम, कुट, बाँस और बेंत। दशवीं शती के लेखक मसऊदी ने भारत से बाहर जाने वाले जूतों की सुन्दरता की प्रशंसा की है। दशवीं शती के दूसरे

अरबी लेखक मुसइर बिन मुहलहिल ने दक्षिण भारत का परिभ्रमण किया। उसने ट्रावनकोर के उद्योग-धन्धों का वर्णन करते हुए लिखा है--'यहाँ पर वे मिट्टी के बर्तन बनते हैं, जो हमारे देश में चीनी बर्तनों के नाम से बिकते हैं। यहाँ सागौन की लकड़ी सौ हाथ लम्बी होती है। इसके अतिरिक्त बक्कम, बेंत और नेजे की लकड़ी भी बहुत होती है। रेवन्द चीनी और तेजपत्ता भी होता है। व्यापारी लोग ऊद, कपूर और लोबान यहाँ से ले जाते हैं। आठवीं शती के अरबी लेखक सुलेमान ने भारतीय वस्त्रों के विषया में लिखा है--'यहाँ जैसे कपड़े बुने जाते हैं, वैसे और कहीं नहीं बुने जाते। कपड़े इतने महीन होते हैं कि थान का थान एक अँगूठी में आ सकता है। अरबी व्यापारी भारत से गैंड़ों के सींग चीन ले जाते थे। सींगों पर चित्र बनाये जाते थे। भारतीय गन्ध-बिलाव के पसीने का व्यापार भी अरबी लोगों ने बढ़ाया। वे उस सुगन्धित द्रव्य को मोरक्को ले जाते थे। काला नमक भारत से बाहर जाता था।

नवीं शती में मिस्र से पन्ने की अँगूठी भारत आती थी। मूँगा विदेशों से आता था। रोम से रेशमी कपड़े, समूर, पोस्तीन और तलवारें आती थीं। फारस के गुलाब-जल की भारत में बहुत माँग थी। बसरे से सिन्ध में खजूर और अरब से कारोमण्डल में अरबी घोड़े आते थे।

मुद्राएँ

व्यापार की चर्चा करते समय मुद्राओं का उल्लेख हो चुका है। वैदिक काल में निष्क, शतमान और कृष्णल आदि मुद्राओं का प्रचलन हो चुका था। वैदिक काल के पश्चात् नए-नए सिक्के चले। सातवी शती ई० पू० के लगभग कार्षापण, निष्क, पण, पाद, माष और शाण आदि सिक्कों का व्यापार में उपयोग होने लगा था। मौर्य-काल में राजा की ओर से सिक्कों के बनाने का काम होने लगा।

प्राचीन सिक्कों पर कोई लेख या राजा का नाम नहीं लिखा जाता था। उनका केवल तोल ही निश्चित रहता था। उन पर मनुष्य, पशु, पक्षी, चन्द्र, सूर्य, धनुष, बाण, स्तूप, बोधिवृक्ष, स्वस्तिक, वज्र, नदी, पर्वत आदि की प्रतिकृति होती थी। ये सब मुद्राएँ सोने, चाँदी और ताँबे की होती थीं। कौटिल्य के समय में मुद्राएँ एक पण, आधे पण, चौथाई पण और पण के आठवें भाग की होती थीं। ताँबे के बने हुए सिक्के माषक, आधे माषक, काकणी और आधी काकणी थे।

सबसे पहले प्राचीन लेख वाले मालव-जाति के सिक्के ई० पू० तीसरी शती के मिलते हैं। इनके पश्चात् ग्रीक, शक, कुषाण और क्षत्रपों के सिक्के मिलते हैं। भारत में रोम-साम्राज्य के सिक्के व्यापार के माध्यम से आते थे और उनका सार्वजनिक लेन-देन में उपयोग होता था।

गुप्त-काल में विविध प्रकार के सिक्कों का प्रचलन हुआ। इन सिक्कों पर विदेशी सिक्कों की भाँति राजा की आकृति अङ्कित है। ह्वेनसांग के समय में मोती का उपयोग भी क्रय-विक्रय के माध्यम के रूप में होता था। उस समय साधारणत: सोने और चाँदी के सिक्के चलते थे। कौड़ियाँ भी सिक्कों की भाँति काम में आती थीं।

छठीं शती में हूणों ने भारत में ईरानी सिक्कों का प्रचार किया। सातवीं शती के पश्चात् के राजाओं के बहुत से सिक्के मिलते हैं, पर उनमें से केवल कुछ सिक्कों पर ही राजाओं की प्रतिकृति है। संभवत: प्राचीन काल में राजा के अतिरिक्त व्यापारिक संघ भी अपने सिक्के चला सकते थे। कुछ रानियाँ भी अपने नाम के सिक्के चलाती थीं। अजमेर के चौहान राजा अजय देव की रानी सोमल देवी ने अपने नाम के सिक्के चलाए थे। प्रसिद्ध राजा भोज ने आदिवराह का सिक्का चलाया। इस पर पृथ्वी के उद्धार का दृश्य अंकित है। भारत में नीचे लिखे राजवंशों के सिक्के प्राय: मिलते हैं--कुषाण, गुप्त, आहोम, परमार, चालुक्य, चोल, पल्लव, पांड्य, केरल और चन्देल।

अन्य व्यवसाय

खेती, पशु-पालन और व्यापार--इन तीन व्यवसायों में भारत की अधिकांश जनसंख्या लगी रही। ये तो लोगों के प्रधान उद्योग थे। इनके साथ ही साथ कुछ अन्य उद्योग भी थे। जैसा हमने भारतीय व्यापार का विवेचन किया है, भारत में विविध प्रकार के शैल्पिक व्यवसाय प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। इन व्यवसायों से जिन वस्तुओं का उत्पादन होता था, वे देश-विदेश में व्यापारियों के द्वारा बेची जाती थीं। भारतीय रहन-सहन सदा उच्चकोटि की रही है। ऐसे जीवन में विविध प्रकार की सामग्रियों की आवश्यकता रहा करती थी, जिनके उत्पादन के लिए विविध प्रकार के शैल्पिक उद्योग-धन्धे चला करते थे।

कतिपय आवश्यक व्यवसायों को लोग अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। तदनुसार लोहार, कुम्हार, चित्रकार, सुवर्णकार, छत्रकार, शैलूष, शस्त्रजीवी, कारु आदि के यहाँ ब्राह्मण-भोजन निषिद्ध था।

व्यावसायिक संघ

उद्योग-धन्धों की प्रगति के लिए व्यावसायिक संघों का प्रचलन वैदिक काल में हुआ। उस समय विभिन्न गोत्रों के लोगों की गायें अलग-अलग चरा करती थीं। महाभारत में सैनिकों, व्यावसायिकों और व्यापारियों के संघों के उल्लेख हैं। बौद्ध और जैन साहित्य में संघ-प्रणाली के पूर्ण विकास का परिचय मिलता है। विभिन्न व्यवसायों के लोगों के गाँव बसे हुए थे। ये लोग अपनी बनाई वस्तुओं को उचित मूल्य पर बेचने के लिए संघ बना लेते थे। संघों का अपना शासन-तन्त्र था। राजा भी संघों के निर्माण और प्रगति में सहायता देता था।

नवम अध्याय

रहन-सहन

भारतीय रहन-सहन में सदा से विविधता रही है। भोजन, पान, वस्त्र, अलंकार आदि की दृष्टि से यदि एक वर्ग भोग-विलास की चरम सीमा पर था तो दूसरा वर्ग केवल जीवन-धारण मात्र के लिए यथावश्यक मात्रा में उनका प्रयोग करता था। इसके साथ ही ऋषियों के तपोमय जीवन में तथा जैन मुनियों के परिषह में निराहार रहना, दिगम्बर रहना अथवा केवल वल्कल धारण करना आदि साधारण-सी बातें रही हैं।

भोजन

सिन्धु-सभ्यता के युग में लोग गेहूँ और जौ की रोटी, दूध, मांस, मछली, अंडे और फलों का भोजन करते थे। वे शाक, भाजी, खजूर, तिल, और तरबूज भी भोजन के लिए उपजाते थे। लोग पशु-पालन में प्रवीण थे और उनको दूध और घी पर्याप्त मात्रा में मिल जाता था।

वैदिक काल में प्रायः यही भोजन रहा। लोग उस समय पक्ति (रोटी), पुरोडाश, अपूप और करंभ या यवागु पका कर खाते थे। वे चावल के साथ दूध, मूँग या तिल मिलाकर भात पकाते थे। भोजन के साथ मधु खाने का साधारण प्रचलन था।

महाभारत में चावल, गेहूँ और ज्वार साधारण अन्न थे। भात में मांस मिला-कर खाने की रीति थी। धनवान् लोगों के भोजन में मांस, मध्यम वर्ग के लोगों के भोजन में दूध-घी और दीन-हीन लोगों के भोजन में तेल की प्रधानता थी। सत्तू की उपयोगिता महाभारत में विशेष रूप से कही गई है। अपूप, राग-खाण्डव और मोदक नाम की मिठाइयाँ बनती थीं। साधारण भोज्य थे—फेनिका, वटक, भक्त, सूप, करंजिका, द्राक्षारस, चूतरस, केला, मण्डक, खण्डलक, पूरिका, मिर्च और पिप्पली के योग से बनी कढ़ी, बड़ा, सौहालिका, पूरिका, शतच्छिद्र, वेष्टिका, पूपिका, मणि, सूत्रसंघ पर्पट, पायस-भक्त। जातकों के अनुसार यवागु लोकप्रिय भोजन-प्रतीत होता है। बौद्ध काल में उड़द और मूँग की दालें, श्यामाक, चिंगूलक और चीनक आदि के चावल साधारण अन्न थे। अर्थशास्त्र में कोदों, धान, वरक, प्रियंगु (बाजरा), मूँग, जौ, गेहूँ, माष, मसूर, शिम्बि आदि साधारण भोज्य अन्न बताए गए हैं।

मांस-भोजन भारत में सदा प्रचलित रहा है, पर वह वैदिक काल में प्रायः यज्ञों के लिए अथवा अतिथि-सत्कार के लिए सीमित था। इतना तो निश्चित ही है, कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम में मांस खाने का पूर्ण रूप से निषेध केवल गृहस्थाश्रम में लोग मांस खा सकते थे। वैदिक काल से बौद्ध काल तक बैल या गाय के मांस-भक्षण का प्रचलन रहा है। जातकों में प्रायः मछली और भात के भोजन का उल्लेख मिलता है। मांस को सुदूर भविष्य में खाने के योग्य बनाने के लिए उसे सुखाने की विधि प्रचलित थी। सुखाए हुए मांस का नाम वल्लूर था। आश्वलायन के अनुसार अतिथि का स्वागत करते समय मधुपर्क में मांस होना चाहिए।

मांस-भोजन का इतना प्रचार होने पर भी इसके परित्याग के लक्षण वैदिक काल में मिलते हैं। ऋग्वेद में पवित्र मन से दी हुई आहुति, समिधा और स्तुतियों का महत्त्व निर्मांस होने पर भी किसी प्रकार कम नहीं माना गया है। शुद्ध मन से कही हुई स्तुतियाँ यज्ञ में वध किए जाने वाले बैल और गायों की भाँति फल देने वाली मानी गई हैं। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि जिसका मांस तुम खाते हो, वह भविष्य में तुम्हारा मांस खाएगा।

धीरे-धीरे वैदिक यज्ञों का प्रचलन घटा और वेदों में बताए हुए यज्ञों के द्वारा प्राप्त स्वर्ग के स्थान पर उपनिषदों की मुक्ति को तप के द्वारा ही लभ्य माना गया। तप जीवन की शुद्धि है। तपस्वी के लिए मांस-भोजन का निषेध था। सारे समाज ने उनके आदर्श को अपना लिया।

महाभारत के अनुशासन-पर्व में युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म ने बताया है कि जो सुन्दरता, दीर्घ आयु, असीम शक्ति, तीव्र बुद्धि और स्मरण-शक्ति चाहता है, उसे हिंसा से बचना चाहिए। मांस और मदिरा से बचना वैसा ही पुण्यकारक है, जैसे प्रतिमास अश्वमेघ का सम्पादन। बौद्ध और जैन धर्म के आचार्यों ने भी भोजन की शुद्धि के लिए प्रचार किया। महाराज अशोक ने पशु-वध बन्द करते के लिए राजकीय नियम बनाए और अपनी भोजनशाला में मांस-भोजन का निषेध किया।

गुप्तकालीन चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है कि लोग प्रायः शाकाहारी हैं। उस समय साधुओं का भोजन चावल, दही और घी था। साधारण लोग गेहूँ और जौ से ही सन्तुष्ट रहते थे। गुडविकार और और मत्स्यण्डिका नाम की मिठाइयाँ बनती थीं। दूध से मक्खन और घी निकाला जाता था। उत्सवों के अवसर पर पयश्चरु, मोदक और शिखरिणी नाम के विशेष भोजन बनते थे। नमक, मरीच, लवंग, एलालता आदि मसालों से भोजन स्वादिष्ठ बनाया जाता था।

सातवीं शती के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है—'सबसे अधिक उपयोगी भोज्य दूध, मक्खन और मलाई है। कोमल शक्कर, मिस्री, सरसों का तेल और अन्न से बने अनेक प्रकार के भोजन खाए जाते हैं।'

भोजन के अन्त में पान खाने की रीति रही है। उसमें चन्दन का चूर्ण और सुपारी होती थीं। नागरक भोजन के पश्चात् धूमवर्तिका से धूमपान करते थे।

पेय

दूध सदा ही भारत का लोकप्रिय पेय रहा है। वैदिक काल में दूध के समान सोम-रस का पान किया जाता था।[१] सोम-रस एक वल्ली का रस होता था। सोम-वल्ली को पहले पीसा जाता था। फिर उसे छान कर दूध मिलाया जाता था। इस प्रकार जो रस बनता था, वह स्वास्थ्य और बुद्धिवर्धक था। कुछ लोग सुरा-पान करते थे। मांस-भोजन के साथ सुरा का निषेध हुआ। काण्वसंहिता के अनुसार क्षत्रिय सुरापान कर सकते थे, पर ब्राह्मणों के लिए उसे निश्चित रूप से हानिकर बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में सुरा पीने वाले को पतित माना गया है। महाभारत के अनुसार शुक्राचार्य ने नियम बनाया कि ब्राह्मणों को सुरापान नहीं करना चाहिए। यों तो सभी धर्मशास्त्रकारों ने सुरापान की भूरि-भूरि निन्दा की है, फिर भी वह युद्ध करने वाले क्षत्रियों और शूद्रों के द्वारा कभी छोड़ा न जा सका। अनेक प्रकार की सुराओं का बनना सदा प्रचलित रहा। फिर भी उच्च व्यक्तित्व के लोग, जो अपना अभ्युदय चाहते थे, कभी भी सुरापान नहीं करते थे। केवल हिन्दू ही नहीं, मुसलमान राजाओं ने भी सुरापान पर रोक लगाई है।

सोम और सुरा निश्चित रूप से अलग-अलग हैं। इन दोनों का अन्तर बताते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है, 'सोमरस सत्य, अभ्युदय और प्रकाश है तथा सुरा असत्य, पतन और अन्धकार है।' सुरभित जल पीने का चाव था।[२]

भोजन-विधि

संभवतः सिन्धु-सभ्यता के धनी लोग चौकियों पर भोजन करते होंगे। भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार पवित्र और मन को प्रसन्न करने वाले स्थान में आसन पर बैठ कर स्वस्थ चित्त से भोजन करना चाहिए। गृहस्थ को पहले स्नान और पंच महायज्ञ करने चाहिए और अपने आश्रित जनों को भोजन देकर ही खाना चाहिए।

---

१. सोम असाधारण लोगों का पेय था। पुरोहित, वीर, कवि आदि सोमपायी होते थे।

२. एलोशीरलवंग-चन्दनलसत्कर्पूरकस्तूरिका-
जातीपाटलकेतकैः सुरभितं पानीयमानीयताम्।। भोजप्रबन्ध से

भोजन करते समय मौन रहना सबसे अच्छा है। प्रायः लोग दिन में केवल दो बार भोजन करते थे—दिन में दोपहर के समय और रात्रि में एक पहर बीतने पर। सूत्रों में इन दो बार के भोजनों के बीच में कुछ मूल और फल-फूल खाने के विधान का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में भोजन के लिए दोपहर तक प्रतीक्षा नहीं की जाती थी। प्रातःकाल भोजन कर लिया जाता था।

भोजन न करते हुए लोगों के सामने भोजन करना अथवा किसी एक मनुष्य के सामने जो भोजन न करता हो, अनेक मनुष्यों का भोजन करना उचित नहीं माना जाता था। अकेले भोजन करना सबसे अच्छा माना जाता था। लोगों की धारणा थी कि साथ भोजन करने वालों के पापों का भागी बनना पड़ता है।

भोजन करते समय दाहिने हाथ से जल पिया जाता था। भोजन समाप्त कर लेने पर जल पीकर तथा हाथ धोकर दो बार आचमन किया जाता था। कोमलता से दातुन करके दाँतों को निर्मल कर लिया जाता था और आचमन करके मुँह में ताम्बूल रख लिया जाता था।

वस्त्र

सिन्धु-सभ्यता के युग से भारत में रुई के उत्तम वस्त्र सदैव बनते आए हैं। इनके अतिरिक्त ऊन, छाल, रेशम, सन आदि के वस्त्र समय-समय पर बनते रहे। मृगचर्म भी ओढ़ने और बिछाने के काम में प्रायः आता था। अन्य कई पशुओं के चर्म का इस भाँति उपयोग होता था।

सिंधु-सभ्यता के लोग चादर शरीर पर डाल लेते थे। चादर बाएँ कन्धे के ऊपर से हो कर दाहिने हाथ के नीचे से जाती थी। स्त्रियाँ कपड़े से सिर ढकती थीं।

वैदिक काल में वास (धोती या साड़ी) अधोवस्त्र था। शरीर के ऊपरी भाग को अधिवास नामक कपड़े से ढकते थे। उस समय विभिन्न अवसरों और कार्यों के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के पहनने की रीति थी। पूजा और यज्ञ की विधियों के लिए नए वस्त्र पहने जाते थे। पुरोहित, यजमान और उसकी पत्नी को धुले हुए वस्त्र पहनने पड़ते थे। अभिचार-यज्ञों में पुरोहित लाल वस्त्र और पगड़ी बाँधता था। महाव्रत का यजमान रेशमी वस्त्र धारण करता था और उसकी पत्नी कुश का वस्त्र पहनती थी। वेदाध्ययन, दान, भोजन और आचमन करते समय बौधायन के अनुसार उत्तरीय धारण करना आवश्यक था। स्नातक और गृहस्थ को श्वेत वस्त्र पहनने की व्यवस्था थी। वे भड़कीले वस्त्र नहीं पहन सकते थे। नीले या लाल वस्त्रों का पहनना उचित नहीं माना जाता था। इनको पहन लेने पर प्रायश्चित्त करना पड़ता था।

जातकों में पुरुषों के दुष्य-युग और स्त्रियों के साटन पहनने के उल्लेख मिलते हैं। उस समय धूप के धुयें से वस्त्रों को सुगन्धित करने की रीति थी।

विदेशी लोगों के साथ उनके कुछ पहनावे भी भारत में आए। इनमें से टोपी, कंचुक और पायजामे प्रमुख हैं। ये पहनावे राज-सभा और नगरों तक ही सीमित रह गये। साधारण लोगों का पहनावा सदा धोती, दुपट्टा और पगड़ी आदि रही।

भारतीय वस्त्र प्रायः ढीले-ढाले रहे हैं। ऐसे वस्त्र इस देश की जलवायु के अनुकूल पड़ते हैं। इनसे शारीरिक शुद्धि तथा वायु और प्रकाश का भीतर प्रवेश सम्भव होता है। स्त्रियों के वस्त्र वयोऽनुरूप भी होते थे।[1]

शरीर-शुद्धि

सिन्धु-सभ्यता के युग से भारतवासी शरीर की शुद्धि का पूरा-पूरा ध्यान रखते आए हैं। वे प्रातःकाल उठते ही दातुन से दाँत माँजते थे। वैदिक काल में दातुन प्रायः काँटेदार या दूध देने वाले वृक्ष की होती थी। दातुन की लम्बाई १२ अंगुल और मोटाई कानी अंगुली के समान होती थी। उसके बीच कोई छेद नहीं होता था। जिस वृक्ष की टहनी से दातुन बनाई जाती थी, उसकी प्रार्थना इन शब्दों में की जाती थी-- हे वृक्ष! मुझे दीर्घायु, बल, यश, तेज, सन्तति, पशु, धन, वेद-ज्ञान, स्मरण-शक्ति और उत्कृष्ट बुद्धि प्रदान करो।

दातुन के पश्चात् स्नान होता था। शरीर की शुद्धि के लिए शुद्ध मिट्टी से शरीर को रगड़ने की विधि थी। इस प्रयोजन के लिए मिट्टी पृथ्वी-तल को ६ इंच खोदकर उसके नीचे से निकाली जाती थी। स्नान का महत्त्व इतना अधिक था कि रोगियों को भी स्नान कराया जाता था, भले ही वह स्नान उष्ण पानी से हो अथवा सिर को छोड़ कर शेष शरीर के लिए हो या भीगे वस्त्र से शरीर को पोंछ ही दिया जाता हो।[2] स्नान के पहले कुछ लोग व्यायाम करते थे और तेल लगाकर अंगमर्दन करा लेते थे।

---

१. कन्येति सूचयति वेषविशेष एव
यन्नील चोलकवती लिखितात्र चित्रे।
पाणिग्रहात् प्रभृति तु प्रमदाजनस्य
नीवी विशेष-सुभगः परिधानमार्गः ।। विद्ध० १.३४

२. प्रातः स्नानं महापुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।
'स्रवत्येष दिवारात्रौ प्रातःस्नानं विशोधनम्' यह शरीर के विषय में कहा गया है।

स्नान का महत्त्व महर्षि व्यास ने महाभारत में इस प्रकार बताया है—

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥

(स्नान करने वाले मनुष्य में दश गुण अनायास आ जाते हैं—बल, रूप, मधुर स्वर, शरीर की मनोरम कान्ति, शरीर का सुखावह स्पर्श और मनोरम गन्ध, विशुद्धता और वरेण्य नारी) पद्मपुराण के अनुसार स्नान के बिना न तो शरीर निर्मल होता है और न मन।

स्नान के लिए प्रकृति ने पूरी सुविधाएँ प्रस्तुत की हैं। इस देश में प्रायः सर्वत्र नदी, झील, झरने और सोते आदि मिलते हैं। जहाँ से ये प्राकृतिक सुविधाएँ निकट नहीं पड़ती थीं, वहाँ लोग कुएँ और जलाशय खुदवाते थे और स्नानागार बनवाते थे। जातक-काल की एक पुष्करिणी का वर्णन इस प्रकार मिलता है—'उसमें सौ घाट थे, पाँच प्रकार के कमल खिल रहे थे और उसमें सहस्रों मोड़ थे।' कालिदास ने सम-सामयिक धारा-गृहों का वर्णन किया है, जिसमें ग्रीष्म-ऋतु में यन्त्र के द्वारा संचारित होकर शीतल जल आता था और स्नान करते समय बैठने के लिए मणिशिलाएँ बनी हुई थीं। इन शिलाओं पर चन्दन के जल से छिड़काव किया जाता था। स्नानागार में जल की द्रोणी में कुछ देर बैठकर सुगन्धित जल से नहाया जाता था। शरीर का मैल छुड़ाने के लिए प्रति तीसरे दिन फेन का प्रयोग किया जाता था।

केश-रचना

स्नान करने के पश्चात् लोग केश को धूप के धुएँ से सुगन्धित करके विभिन्न शैलियों से उसको सुसज्जित करते आये हैं। सिन्धु-सभ्यता के लोगों में प्रायः केश को पीछे की ओर मोड़ कर बाँधने की रीति थी। कुछ लोग केश को कटवा कर छोटा भी कर लेते थे। पुरुषों में कुछ लोग मूँ मुड़ाते थे। अधिकतर लोग छोटी-सी दाढ़ी रखते थे। स्त्रियाँ केश में चिमटी और काँटे लगाती थीं। कुछ लोग केश के बीच से माँग (सीमन्त) बनाते थे। स्त्रियाँ पंखे के समान सिर के ऊपर वस्त्र बाँधती थीं। केश में फूल खोंसने का प्रचलन था। पुरुष और स्त्रियों की केश-रचना प्रायः समान होती थी।

वैदिक काल में बड़े-बड़े बाल रखे जाते थे। स्त्री और पुरुष सिर पर जूड़ा बनाकर बाँधते थे। जूड़े का नाम कपर्द था। कुमारियाँ केश की चार चोटियाँ बनाकर एक में बाँधती थीं। बाल के गुच्छों को कसने के लिए कुरीर नामक गहना सिर पर पहना जाता था।

महाभारत-काल में सौभाग्यवती स्त्रियों के माँग बनाने का उल्लेख मिलता है। वे सिर पर जूड़ा बनाती थीं। एक या तीन वेणियों में उनके बाल सुसज्जित किये

जाते थे। जिस स्त्री का पति विदेश में होता था, वह केवल एक वेणी बनाती थी। माँग के बीच केसर अथवा कुंकुम भरने का प्रचलन था। ललाट पर भी कुंकुम लगाया जाता था। ब्राह्मण प्रायः सिर के बाल मुड़वा देते थे और क्षत्रिय लोग सिर पर बड़े बाल रखते थे।

गुप्त-काल में पुरुषों के सिर पर केशों का जूड़ा होता था, जो धागे या स्वर्ण-सूत्र से बाँधा जाता था। कुछ लोगों के केश दो भागों में विभक्त होते थे और दोनों कन्धों के समीप उनका जूड़ा बनाया जाता था। स्त्रियाँ लम्बे-लम्बे केश की वेणियाँ गूँथ लेती थीं या सिर पर जूड़ा बनाती थीं। अजन्ता की गुफाओं में स्त्रियों के चित्रों को देखने से प्रतीत होता है कि उस समय केश-रचना की विविध शैलियाँ प्रचलित थीं। चित्रों में कुछ स्त्रियों के केश बीच से तथा कुछ के दाहिनी ओर से विभक्त किये गए हैं। मस्तक के ऊपर के केश या तो पीछे की ओर मोड़ दिये गए हैं या सामने की ओर घुँघराले बनाकर लटकाये गए हैं। वेणियाँ या तो पीछे लटकती हैं या केशों का गुच्छा पीछे की ओर गर्दन पर लटकाया गया है। केश-विन्यास की विविधता का मूलाधार तत्कालीन नागरिकों की सुरुचि और कला-विलास थे।

सातवीं शती की केश-रचना का परिचय ह्वेनसांग के वर्णनों से लगता है। उस समय भी पुरुष बड़े-बड़े बाल रखते थे। स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के मनोरम केश-विन्यास करती थीं। बालों का जूड़ा पीछे बाँधा जाता था। उसमें सुगन्धित फूल भी खोंसे जाते थे। केश-पाश को सँवार कर उसके ऊपर से सुगन्धित माला पहनी जाती थी। ब्राह्मण लोग सिर और दाढ़ी के बाल कटवाते थे। क्षत्रिय लोग लम्बी-लम्बी दाढ़ी रखते थे।

केश-रचना का सबसे अधिक मनोरम प्रदर्शन भुवनेवर के दसवीं शती के मन्दिर की स्त्रियों की मूर्ति में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि घण्टों के परिश्रम से इस प्रकार की केश-रचना हो पाती होगी। ललाट और केशों को विविध प्रकार के रत्नों, मणियों और मोतियों के आभूषणों से सजाया जाता था।

आभूषण

प्रकृति-प्रदत्त सौन्दर्य से सन्तुष्ट न होकर मानवों ने शरीर को विविध प्रकार के प्रसाधनों से सजाया है। प्राचीन काल में इस दृष्टि से आभूषण का स्थान पुरुष और स्त्री दोनों के लिए सर्वप्रथम रहा है। सिन्धु-सभ्यता के युग में स्त्री और पुरुष दोनों हँसली और छाप पहनते थे। स्त्रियाँ कान में बाली, हाथ पर चूड़ी, कमर पर करधनी और पैर में साँठ आदि पहनती थीं। धनी लोगों के आभूषण सोने, चाँदी, मोती और रत्नों के होते थे। दीन-हीन लोग काँसे, सीपी, कौड़ी अथवा मिट्टी के गहनों से

सन्तोष कर लेते थे। फूलों से गहने बना लेना किसी सुरुचिपूर्ण व्यक्ति के लिए सदा ही बाएँ हाथ का खेल रहा है। हाथी-दाँत के गहने बनते थे। लोग सिर पर तिकोने, गले में हार, बाहु में कंकण और पैरों में नूपुर आदि पहनते थे।

वैदिक काल में केश के गुच्छों को कसने के लिए कुरीर पहने जाते थे। सिर पर कुम्भ नामक गहना धारण किया जाता था। धनी लोग सिर पर स्वर्ण-मुकुट पहनते थे। हाथ और पैर दोनों में कड़े पहनने का प्रचलन था। कानों में कर्णशोभन नाम का गहना पहना जाता था। गर्दन में निष्क, सूंका, मणिग्रीव, स्त्रक् और रुक्म नामक हार पहने जाते थे। उस समय गहने सोने, चाँदी और मोतियों के बनाए जाते थे। महाभारत में भुजाओं के गहने--केयूर और अंगद का उल्लेख मिलता है। धनी लोग कड़े और पहुँची पहनते थे। रानियाँ सिर पर सोने की पट्टियाँ पहनती थीं। कमर में कांची या रशना तथा पैर में नूपुर पहने जाते थे। मणियों और रत्नों के हार गले में पहने जाते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विविध प्रकार के हारों का उल्लेख मिलता है, जिनमें १००८, ५०४, ६४, ५४, ३२, २७, २४, २० और १० लड़ियाँ होती थीं। एक लड़ी का हार एकावली कहा जाता था।

गुप्तकाल में सिर पर चूडामणि, मुक्तगुण और किरीट पहने जाते थे। कानों में कर्णभूषण, कर्णपूर और मणिकुण्डल आदि विभिन्न प्रकार के कुण्डल पहने जाते थे। बाँह में अंगद, केयूर और वलय धारण किए जाते थे। करधनी विविध प्रकार की होती थीं, जिनके नाम मेखला, हेम-मेखला, कांची, कनक-किंकणी और रशना आदि मिलते हैं। अजन्ता के चित्रों से ज्ञात होता है कि माँग को अलंकृत करने के लिए स्त्रियाँ रत्न-जटित अलंकार धारण करती थीं। उस समय जूड़े में बहुमूल्य रत्न लटकाने का प्रचलन था। पुरुष और स्त्री दोनों समान रूप से अनेक हार एक दूसरे की शोभा बढ़ाने के लिए पहनते थे।

सातवीं शती के अलंकारों का परिचय ह्वेनसाँग के लेखों और बाण की रचनाओं से मिलता है। उस समय लोग अमूल्य मणियों और रत्नों के हार, अँगूठियाँ, कड़े और मालाएँ धारण करते थे। कुछ स्त्रियाँ कानों के नीचे के भाग को दो भागों में कटवा कर प्रत्येक भाग में छेद कराकर उनके बीच तार डलवा कर उससे सोने के सुन्दर अलङ्कार लटकाती थीं। पैरों में सादे या घुँघरू वाले गहने पहने जाते थे। हाथी-दाँत की चूड़ियों से कलाई अलंकृत की जाती थी।

प्राचीन काल में नाक में नथ पहनने का प्रचलन नहीं रहा है। संभवतः आगे चल कर यह गहना मुसलमानों की वेश-भूषा से लिया गया हो।

वर्षा और धूप से रक्षा करने के लिए छाते लगाये जाते थे। धनिकों और राजाओं के छत्र उनकी समृद्धिशालिता और ऐश्वर्य का परिचय देने के लिए होते

थे। गाँवों में पत्ते के बने छाते भी उपयोग में आते थे। पैर की रक्षा करने लिए जूते (पदत्राण), चप्पल, खड़ाऊँ आदि विविध प्रकार के उपादान प्रचलित थे।

उपर्युक्त सारी सजावटों के लिए दर्पण का उपयोग होता था। सिन्धु-सभ्यता के लोग पीतल, ताँबे और काँसे के दर्पणों से काम चलाते थे। उसी समय से विभिन्न प्रकार के दर्पणों का उपयोग सदैव होता रहा।

शृंगार-विधि

शृंगार-विधि के द्वारा शरीर को मनोरम बनाने के लिए विविध प्रकार के लेप, चूर्ण और तेलों का उपयोग होता था। लोग श्वेत बालों को लेप से काला करते थे। केश में सुवासित तेल लगाया जाता था। शेष अङ्गों में ऊपर से नीचे तक अङ्गराग लगाया जाता था। आखों में अञ्जन, ओठों पर अधर-राग तथा मुख और छाती पर चन्दन के लेप और केसर के चूर्ण का प्रयोग होता था। स्त्रियाँ मुख पर पत्रावली की रचना करती थीं। कुंकुम-रस के लेपन से सारा शरीर स्वर्ण की भाँति चमकने लगता था। पैर पर लाख के गाढ़े रंग से विविध प्रकार के चित्र बनाये जाते थे। मुख को सुवासित करने के लिए ताम्बूल [1] के अतिरिक्त कमल से वासित एक द्रव्य को चूसा जाता था, जिसे जायफल, कस्तूरी और कर्पूर के चूर्ण को आम के रस तथा मधु में मिलाकर बनाया जाता था।

---

१. ताम्बूल से मदातुरों की क्रीडा होती थी। यथा,

वक्त्रे ततः फणिलतादल वीटिकां स्वे
विन्यस्य चन्दनघनावृत पूगगर्भाम्।
रामोऽब्रवीदयि गृहाण मुखेन बाले
तच्छद्मना ददधरं मधुरं प्रपातुम्॥ हनु० ना० २.१३

दशम अध्याय

आचार और चरित्र-निर्माण

मानव-संस्कृति के विन्यास में सदाचार और सच्चरित्रता का आरम्भिक युग से महत्त्व रहा है इनके बिना सुश्लिष्ट सामाजिक जीवन असम्भव होता और व्यक्तिगत सुख और शान्ति की कल्पना भी न होती। भारत में आचार तथा चरित्र की प्रतिष्ठा का प्रधान आधार प्रकृति की उदारता और सहायशीलता रही है। प्रकृति की समृद्धि ने मानव को शरीरतः केवल सुखी ही नहीं बनाया, वरं अपनी उदारता के अनुरूप मानव के हृदय को उदार बना दिया। परिणामतः मानव पारस्परिक व्यवहार में स्वार्थ और संकीर्णता से ऊपर उठा और उसमें उदात्त भावनाओं का स्फुरण हुआ।

सिन्धु-सभ्यता के युग में जिस नागरिकता का उदय हुआ, उसकी पृष्ठभूमि में मानव की उच्चतम चरित्र-निष्ठा रही होगी। उस समय के मानवों ने सामूहिक उद्योग-धन्धों तथा व्यवसायों का देश-विदेश में प्रसार किया था। ऐसी सभ्यता के निर्माण में असंख्य पुरुषों के सहयोग की अपेक्षा थी। ऐसी स्थिति में हम कल्पना कर सकते हैं कि उस युग के भारतीय पूर्वज आचार-पथ पर आगे बढ़ चले थे।

वैदिक आचार

ऋत

वैदिक कालीन आचार-पद्धति में ऋत अथवा सत् या सत्य की सर्वोच्च प्रतिष्ठा हुई थी। तत्कालीन धारणा के अनुसार चराचर-लोक की सृष्टि, संवर्धन और संहार का नियामक ऋत है। प्रकृति की शक्तियाँ तथा दैवी विभूतियाँ ऋत के अनुकूल अपने-अपने व्यापार में संलग्न हैं। इस प्रकार विश्व की सन्तुलित गति के लिए ऋत की आवश्यकता है। ऋत वह वस्तु है, जिसके अभाव में प्रकृति के सारे कार्य-व्यापार रुक जाते हैं। ऋत के विपरीत अनृत है। अनृत पाप है।

वैदिक समाज ने ऋत की प्रतिष्ठा सामाजिक जीवन में की। प्राकृतिक ऋत को आदर्श मान कर उन्होंने अपने जीवन में क्रमबद्धता और व्यवस्था को प्रथम स्थान दिया। उनके याज्ञिक विधानों में क्रियाओं का क्रम था। उस क्रम का व्यवधान नहीं होना चाहिए था। वैदिक मन्त्रों के पाठ में क्रम की योजना थी तथा मन्त्रों के

उच्चारण में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का विन्यास था। यदि मन्त्रोंच्चार में किसी प्रकार की अशुद्धि हो जाती तो जितने पुण्य-फल की आशा की जा सकती थी, उससे कई गुना अधिक पाप का भागी बनना पड़ता था। निःसन्देह उन महर्षियों का जीवन असाधारण रूप से सुव्यवस्थित था।

दैवी प्रेरणा

वैदिक ऋषियों का विश्वास था कि देवता मानवों के चरित्र का पर्यालोचन करते हैं तथा वे पापियों को दण्ड देते हैं। ऋग्वेद के अनुसार सूर्य मानवों के साधु और असाधु आचार को देखते हुए ऊपर चढ़ता है। मित्र और वरुण सत्य के द्रष्टा हैं। ऊँचे आकाश से वे सबको देखते है। वरुण की दोनों आँखें सारे संसार को देखती हैं। कोई व्यक्ति स्वर्ग के दूसरे छोर पर ही उड़कर क्यों न चला जाय, वह वरुण की दृष्टि से नहीं बच सकता। वरुण के दूत सारी पृथ्वी पर विचरण करते हुए पापियों को ढूंढ़ निकालते हैं।

ऋषियों को देवताओं के परोपकार और सुकृत का परिचय प्राप्त था। वैदिक साहित्य में इन्द्र और अश्विद्वय आदि देवताओं की परोपकारमयी उदात्त भावनाओं का जो आदर्श है, वह ऋषि-वर्ग में प्रतिष्ठित हुआ। देवता मधु-जिह्व अर्थात् मधुर बोलने वाले हैं। उनकी वृत्ति उदार है। मानवों ने देवताओं की सहायता के लिए स्तुति की, उनका गुण-गान किया और उनके आदर्शों को अपने जीवन में ढाला। ऋषियों का विश्वास था कि देवताओं की कृपा उन्हें ही प्राप्त हो सकती है, जो उनके अनुशासन को मानते हैं और स्वयं पुण्य-पथ पर अग्रसर हैं। देवताओं के आदर्श पर मानवता को सन्देश दिया गया--

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः।

ऋग्वेद में सत्य की सर्वोच्च प्रतिष्ठा की गई है। इसके अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति के पहले ऋत और सत्य उत्पन्न हुए और सत्य से आकाश, पृथ्वी, वायु आदि तत्त्व स्थिर हैं। सत्य के समक्ष असत्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। अथर्ववेद के अनुसार असत्यवादी वरुण के पाश में पकड़ा जाता है। उसका उदर फूल जाता है।

अथर्ववेद में पाप का मानवीकरण करते हुए एक ऋषि ने अपने हृदय की आन्तरिक वेदना को दाक्षिण्यपूर्वक व्यक्त किया है—'हे मन के पाप, दूर चले जाइये, क्योंकि आप ऐसी बातें कहते हैं, जो कहने के योग्य नहीं हैं। दूर जाइये मैं आपको नहीं चाहता। वृक्षों के ऊपर चले जाइये। वन में चले जाइये। मेरा मन पशुओं और घरों में आसक्त हो। (आप में नहीं)। हे पाप्मन्, यदि आप मुझे नहीं छोड़ते

तो मैं ही आपको छोड़ दूँगा। आप किसी दूसरे के पीछे पड़िये।' पाप से डरने की भावना मानव को सदाचारी बनाकर सच्चरित्रता के पक्ष पर लगा देती है।

शतपथ ब्राह्मण में सत्य को सर्वोच्च गुण बतलाया गया है। इसके अनुसार असत्य बोलने वाला व्यक्ति अपवित्र हो जाता है। उसे किसी यज्ञ आदि पवित्र कामों के लिए अधिकार नहीं रह जाता। इस ग्रन्थ में सत्य के द्वारा मानव की तेजस्विता की प्राप्ति तथा नित्य अभ्युदय की सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है। 'जो व्यक्ति सत्य बोलता है, उसका प्रकाश नित्य बढ़ता है। वह प्रतिदिन अच्छा होता जाता है। इसके विपरीत असत्य बोलने वाले का प्रकाश क्षीण होता जाता है। वह प्रतिदिन दुष्ट बनता जाता है। ऐसी परिस्थितियों में सदा सत्य-भाषण करना चाहिए। उस युग की मान्यता थी कि प्रारम्भ में भले ही सत्यवादी की पराजय हो, पर अन्त में उस की विजय होती है। 'देवताओं और असुरों में जो युद्ध हुआ, उसमें प्रारम्भ में देवाताओं की पराजय हुई, क्योंकि सत्यवादी प्रारम्भ में विजयी नहीं होते, अन्त में विजयी होते हैं। देवता भी अन्त में विजयी हुए। अपने दुर्विनय और अभिमान के कारण असुर अन्त में पराजित हुए। सत्य दुःख को दूर करता है। सत्य के द्वारा देवताओं की विजय होती है और उनका अप्रतिम यश संवर्धित होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में मनु के पुत्र नाभानेदिष्ठ की कथा मिलती है। नाभानेदिष्ठ ने सत्य बोलकर बहुमूल्य पारितोषिक पाया। उसी अवसर पर आदेश दिया गया है—विद्वान् को अवश्य ही सत्य बोलना चाहिए।

सत्य के द्वारा पाप को दूर करने का विधान बना था। यदि मनुष्य से कोई पाप हो ही गया तो उसके प्रभाव को कम करने के लिए उसे सबके समक्ष स्वीकार कर लेना पर्याप्त था। तत्कालीन धारणा के अनुसार पाप सत्य के सम्पर्क में आने पर सत्य बन जाता है। यज्ञ के अवसर पर स्वीकार न किया हुआ पाप यजमान के सम्बन्धियों को कष्ट में डालता है। उस युग में सत्य को सर्वोच्च आराधना के रूप में प्रतिष्ठा मिली।

उपनिषद्-काल में ऋषियों के दार्शनिक जीवन की भित्ति सदाचार के आधार पर खड़ी हुई। उनका चिन्तन दर्शन की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित था। चिन्तन के लिए चित्त की एकाग्रता और शान्ति की आवश्यकता थी। इनकी प्राप्ति के लिए ऋषियों ने केवल अपने ही लिए नहीं, अपितु सारे समाज के लिए उच्च कोटि की आचार-पद्धति की व्यवस्था दी है।

ब्राह्मी-स्थिति

उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म तक पहुँचने के लिए सभी प्रकार के पापों से छुटकारा पाना आवश्यक है। ब्रह्म सभी प्रकार के पापों से मुक्त है। ज्यों ही मानव

की सत्ता ब्रह्ममय हो जाती है, वह भी ब्रह्म की भाँति शुद्ध हो जाता है । जब मानव अपने अभ्युदय की प्रतिष्ठा सांसारिक विभूतियों से परे ब्रह्म की एकता में करता है तो वह सांसारिक पापों से निर्लिप्त हो जाता है । मुण्डक उपनिषद् में ऐसे ब्रह्मनिष्ठ के सम्बन्ध में कहा गया है ।

तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।

(वह शोक को पार कर जाता है । पाप को पार कर जाता है । गुहा-ग्रन्थि से विमुक्त होकर वह अमर हो जाता है ।)

इस उपनिषद् में मानव के व्यक्तित्व के विकास के सम्बन्ध में कहा गया है—'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः अर्थात् ज्ञान के प्रसाद से मानव का सत्व विशुद्ध हो जाता है । आत्म-ज्ञान के लिए आचार की आवश्यकता का निरूपण करते हुए इस उपनिषद् में कहा गया है :—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

(आत्मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य से लभ्य है । मानव-शरीर के भीतर ज्योतिर्मय शुभ आत्मा है । उस आत्मा को दोषहीन मुनि देख पाते हैं ।)

मानव तभी तक बुरी प्रवृत्तियों के चंगुल में फँसा रहता है, जब तक उसे ज्ञान नहीं रहता । ज्योंही वह जान लेता है कि सारा जगत् ब्रह्ममय है, उसकी पापमयी प्रवृत्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं । ईशोपनिषद् में यह कहने के पहले कि किसी के धन के लिए लोभ मत करो, यह बताया गया है कि जगत् में सब कुछ ईश से व्याप्त है । जो पुरुष अपने को सब में और अपने में सबको देखता है, वह क्योंकर किसी दूसरे प्राणी से घृणा कर सकता है अथवा किसी की हानि कर सकता है । यही एकत्व उपनिषद्-युग की आचार-पद्धति का दृढ़ आधार है । ईश उपनिषद् में ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह शुभ्र है, शुद्ध है और पापों से रहित है । ब्रह्म के अनुरूप मानव अपने व्यक्तित्व के विकास की योजना बनाता आ रहा है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में सत्य को धर्म का स्वरूप माना गया है और उसे सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठा दी गई है । 'सत्य के बल पर दुर्बल भी बलवान् को पराजित कर सकता है' अर्थात् धर्म या सत्य ही दुर्बल का सबसे बड़ा बल है । तत्कालीन मानव की सदाचारमयी निष्ठा का ज्ञान इस उपनिषद् में प्रस्तुत नीचे लिखी प्रार्थना से लगता है :—

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय ॥

'मुझे असत् से सत् की ओर, तम से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरता की ओर प्रवृत्त करो।'

इस उपनिषद् के अनुसार धर्म और सत्य सभी प्राणियों के मधु (पोषक) हैं और स्वयं मानव सभी प्राणियों के लिए मधु है।

लोकोपकार

ऋग्वैदिक काल से दान का महत्त्व रहा है। दान को ब्रह्मज्ञान का साधन भी माना गया। उपनिषदों में समाज-सेवा का उच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में नागरिक को आदेश दिया गया है कि किसी मनुष्य से यह न कहो कि तुम्हारे लिए वसति (रहने का स्थान) नहीं है। यह व्रत होना चाहिए। केवल रहने के लिए स्थान-मात्र देना कर्तव्य नहीं रहा। उस व्यक्ति को कुछ भोजन भी देना है। अतिथि को आदरपूर्वक भोजन देना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् में महान् बनने के लिए जिस मनोवृत्ति को आवश्यक कहा गया है, वह लोक-कल्याण के लिए है। मानव महान् बनने के लिए कामना करता है—मानवों में मैं अद्वितीय कमल बन जाऊँ, जैसे सूर्य दिशाओं में कमल है। अतिथि के सत्कार द्वारा वैदिककालीन भारतीय लोकोपकारिता का परिचय मिलता है। उस समय प्रत्येक ग्राम और नगर में आवसथ बने हुए थे। आवसथ सार्वजनिक रूप से अतिथियों के लिए स्वागत-भवन थे।

महाभारतीयाचार

महाभारत में सदाचार का पर्याय शिष्टाचार मिलता है। इसके अनुसार शिष्ट वे पुरुष हैं, जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और कुटिलता को वश में करके केवल धर्म को अपनाकर सन्तुष्ट रहते हैं। वे सदैव आचारनिष्ठ रहते हैं। शिष्ट पुरुष सदैव नियमित जीवन बिताते हैं। वे वेदों का स्वाध्याय करते हैं, त्यागपरायण होते हैं और सत्य को सर्वोच्च तत्त्व मानते हैं। शिष्ट पुरुष अपनी बुद्धि पर संयम रखते हैं, आचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तों पर चलते हैं और मर्यादा में स्थित होकर धर्म और अर्थ पर दृष्टि रखते हैं। शिष्ट पुरुष जानते हैं कि शुभ और अशुभ कर्मों के फल-संचय से सम्बन्ध रखने वाले परिणाम क्या हैं। शिष्ट पुरुष सबको दान देते हैं, निकटवर्ती लोगों में सब कुछ बाँट कर खाते हैं, दीनों पर अनुग्रह करते हैं, उनका जीवन तपोमय होता है और वे सभी प्राणियों पर दया करते हैं। इस युग में यज्ञ से बढ़कर अक्रोध, दया आदि को अच्छा माना गया।

शिष्ट पुरुषों का आचार ही शिष्टाचार है। शिष्टाचार के अन्तर्गत धर्म के सर्वोच्च तत्त्वों का परिगणन होता था। यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय और सत्य शिष्टा-

चार के प्रमुख अंग माने गये। शिष्टाचार में त्याग का स्थान ऊँचा है। महाभारत के अनुसार धर्म के तीन लक्षण हैं--परम धर्म वह है, जो वेदों में बतलाया गया है, धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट धर्म और शिष्टों का आचार। इस प्रकार उस युग में शिष्टाचार की प्रतिष्ठा बढ़ी।

शिष्ट पुरुषों के पास जब कोई सन्त पहुँचता है तो वे अपनी स्त्री और कुटुम्बी जनों को कष्ट देकर भी मनोयोगपूर्वक अपनी शक्ति से अधिक दान देते हैं। ऐसे शिष्ट पुरुष, महाभारत के अनुसार, अनन्त काल तक उन्नति की ओर अग्रसर होते रहते हैं। वे समस्त लोक के लिए प्रमाण हैं। शिष्टाचार हैं--दोषदृष्टि का अभाव, क्षमा, शान्ति, सन्तोष, प्रिय भाषण और शास्त्रों के अनुकूल कर्म करना। दूसरे का यश अपनी विद्या के द्वारा मिटाना अवनति के लिए है।

महाभारत के अनुसार सदाचार केवल आध्यात्मिक अभ्युदय की दृष्टि से ही ग्रहणीय नहीं है, अपितु शील के साथ धर्म, धर्म के साथ सत्य, सत्य के साथ सदाचार, सदाचार के साथ बल और बल के साथ लक्ष्मी का निवास होता है। इस प्रकार सदाचार से बल और ऐश्वर्य की प्राप्ति शिष्ट-योजना कही जा सकती है।

व्यावहारिक रूप

महाभारत में शिष्टाचार का व्यावहारिक रूप अनेक स्थलों पर मिलता है। इसके अनुसार शिष्ट पुरुष स्वयं अपनी शक्ति का परिचय देना ठीक नहीं समझते और न अपने गुणों का वर्णन उचित मानते हैं। आत्मश्लाघा से पुण्य क्षीण होने की धारणा थी। किसी श्रेष्ठ व्यक्ति के आने पर आसन छोड़कर खड़ा हो जाना चाहिए और उसकी पूजा करके अभिवादन करना चाहिए। यदि वह व्यक्ति पद में समान हो तो उसके हाथ का अपने हाथ से स्पर्श करना चाहिए। राजा या श्रेष्ठ पुरुषों को हाथ जोड़ कर प्रणाम करने की विधि थी। इसमें हाथ की अंजलिमुद्रा होती थी। जिसे प्रणाम किया जाता था, वह अंजलि ग्रहण करता था। अतिथि को कुछ दूर तक पहुँचाना चाहिए। अभिवादन करते समय अपना नाम बताना चाहिए। किसी नये स्थान पर रहने के लिए जाये तो वहाँ ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के लोगों से मिलना चाहिए। यदि कोई उपकार करे तो उससे बढ कर प्रत्युपकार कर देना कर्तव्य है। किसी श्रेष्ठ पुरुष से मिलने के लिए जाने पर प्रयोजन बताते हुए कहा जा सकता है कि आपका अभिवादन करने के लिए आ गया हूँ। कहीं से जाते समय वृद्धों का अभिवादन और बालकों का आलिंगन करना चाहिए। तीर्थ-यात्रा आदि कोई महान् कार्य करने के पहले अपने सम्बन्धियों से अनुमति लेनी चाहिए। स्नेही जनों के सिर सूंघने की रीति थी। पुत्रवधू के पहली बार आने

पर उसका सिर सूंघा जाता था। मार्ग में किसी व्यक्ति को लाँघ कर नहीं जाना चाहिए। लाँघने पर देह में व्यापक निर्गुण परमात्मा की अवमानना होती है। यदि कोई मीठी वस्तु खानी हो तो उसे पहले अपने से छोटों को देकर खाना चाहिए।

महाभारत का स्पष्ट मत है कि अच्छे कामों के साथ अभिमान होने पर वे सत्कर्म अच्छा फल नहीं दे पाते। मैंने इतना किया, यह आपने यदि कहीं प्रकाशित किया तो जो कुछ किया, वह भयंकर बन जाता है। वास्तव में

तपश्च दानं च शमो दमश्च ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा ।
नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः ॥

आदिपर्व ८५.१२

सम्मान से बचे, पर यदि किसी ने सम्मान कर ही दिया तो

न मान्यमानो मुदमाददीत ॥ आदिपर्व ८५.२५।

महाभारत में शिष्ट बनने की कामना करने वालों को आदेश दिया गया है--उद्योगी बनो, वृद्धों की उपासना करो, उनसे अनुमति लो और नित्य उठ कर वृद्धों से कर्तव्य पूछो। दिन में ऐसा काम करो कि रात में सुख से सो सको। वर्ष में आठ मास ऐसे काम करो कि वर्षा के चार मास सुख से बीतें। युवावस्था में ऐसा काम करो कि वृद्धावस्था आनन्द में बीते और जीवन भर ऐसा काम करो कि मरने के पश्चात् सुख हो। मानव का आचरण सूर्य की भाँति होना चाहिए। सबका उपकार करना एकमात्र कर्तव्य है। स्वर्ग में उसी व्यक्ति की सर्वोच्च प्रतिष्ठा होती है, जो सबको स्नेह-दृष्टि से देखता है, सभी प्राणियों के दुःख का निवारण करता है और सबके साथ प्रेम-पूर्वक सम्भाषण करके उनके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होता है।

आर्येतर शिष्टाचार

आर्यों के अतिरिक्त आर्येतर लोगों में भी सदाचार की प्रतिष्ठा सदा रही है। दस्युओं के नेता कायव्य ने अपने वर्ग के लोगों को सच्चरित्रता का पाठ इन शब्दों में पढ़ाया--स्त्री, भीत, तपस्वी और शिशुओं को न मारना। जो युद्ध न करता हो, उस पर हाथ न उठाना। स्त्री को बलपूर्वक न पकड़ना। सत्य की रक्षा करना। मंगल-कार्य में बाधा न पहुँचाना। उनके ही विरुद्ध आचरण करना जो हमारे प्राप्त धन हमें न देना चाहें। दण्ड दुष्टों का दमन करने के लिए है, शिष्टों को पीड़ा देने के लिए नहीं।

गीता में आचार-शिक्षण

श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण के चरित्र में आदर्श आचार की रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी है। कृष्ण ने कहा है--मैं साधुओं की रक्षा करने के लिए, पापियों का

विनाश करने के लिए और धर्म की स्थापना करने के लिए प्रत्येक युग में उत्पन्न होता हूँ। उपर्युक्त विचारधारा सच्चरित्रता के संवर्धन के लिए समुचित वातावरण की सृष्टि करती रही है। आगे चल कर कृष्ण ने बतलाया है कि अपनी इन्द्रिय मन तथा बुद्धि पर अधिकार रखने वाले क्रोध से रहित होकर कल्याण प्राप्त कर सकते है। ऐसा मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म का एक लक्षण है, लोकहित के लिए होना। यह एक प्रकार का यज्ञ है। इसे वही कर सकता है, जो किसी से द्वेष और मैत्री आदि नहीं करता। निष्काम व्यक्ति के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कहा गया है––वह विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते, और चाण्डाल के सम्बन्ध में समदर्शी होता है। उसके लिए शत्रु-मित्र, साधु-पापी आदि के विषय में समान दृष्टि सर्वश्रेष्ठ है।

मानवीय व्यक्तित्व के सर्वश्रेष्ठ विकास की योजना लोकहित की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण के बताये हुए आचार-पथ को अपनाने वाला यदि एक भी व्यक्ति किसी समाज में हो तो उस समाज में शान्ति का साम्राज्य होगा। कृष्ण ने ऐसे मनस्वी की परिभाषा इस प्रकार दी है––किसी से द्वेष न करने वाला, सबसे मित्रता रखने वाला, करुण, ममत्व, और अहंकार से रहित, सुख-दुःख में समान, क्षमावान् सन्तुष्ट, सदैव योगी, संयमी, दृढ़ निश्चय वाला तथा मुझ में मन और बुद्धि को अर्पित कर देने वाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

कृष्ण ने गीता में दैवी सम्पत्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव बतायी है। अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की निन्दा न करना, सभी प्राणियों के प्रति दया, तृष्णा का न होना, (बुरे कामों से) लज्जा, अचंचलता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, द्रोह न रखना, अपने को बहुत बड़ा न मान लेना––ये दैवी सम्पत्ति के गुण हैं। इनके विपरीत दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, परुषता, अज्ञान––ये आसुरी सम्पत्ति के गुण हैं। आसुरी सम्पत्ति विभिन्न योनियों में पुनर्जन्म के लिए होती है। काम, क्रोध और लोभ में से एक-एक नरक-द्वार हैं। वे हमारा नाश कर डालते हैं। इसलिए इन तीनों का त्याग करना चाहिए।

सत्य से स्वर्ग और असत्य से नरक-गति की प्राप्ति बतलायी गयी। साथ ही कहा गया है कि असत्य के कारण लोग नाना प्रकार के रोग, व्याधि और ताप से दुःखी रहते हैं तथा भूख, प्यास और परिश्रम के कारण कष्ट भोगते हैं। इतना ही नहीं, असत्यवादी को आँधी, पानी, सर्दी और गर्मी से उत्पन्न हुए भय तथा शारीरिक कष्ट झेलने पड़ते हैं और बन्धु-बान्धवों की मृत्यु, धन के नाश और प्रेमी जनों के वियोग के कारण होने वाले मानसिक शोक से ग्रस्त होना पड़ता है। इसी प्रकार वे जरा और मृत्यु के दुःखों को भोगते हैं।

आचार के अपवाद

असत्य-भाषण क्या किसी परिस्थिति में उचित माना जा सकता है ? इस सम्बन्ध में प्रायः शास्त्रकारों का मत रहा है कि विशेष परिस्थितियों में असत्य-भाषण क्षम्य हो सकता है। किसी भले आदमी के प्राणों की रक्षा करने के लिए असत्य बोलने में पाप नहीं होता। पुरोहितों के प्राण की रक्षा करने के लिए, गो-रक्षा के लिए, विवाह अथवा प्रेम-सम्बन्ध में, परिहास में, संकट पड़ने पर तथा क्रोध होने पर झूठ बोलना कोई अपराध या पाप नहीं है। महाभारत में उपर्युक्त विचार-धारा का निदर्शन नीचे लिखे श्लोक में मिलता है---

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि ।।

आदिपर्व ७७.१६ ।

(परिहास की बात से, स्त्री के सम्बन्ध में, विवाह के समय, प्राण का संकट होने पर और सर्वस्व नष्ट होने की आशंका होने पर यदि झूठ बोला ही जाय तो वह पाप नहीं है।)

महाभारत उपर्युक्त परिस्थितियों में भी असत्य को सर्वथा समीचीन नहीं मानता। उपर्युक्त असत्यों के लिए प्रायश्चित्त का विधान बना। यदि असत्य बोल कर किसी महर्षि की रक्षा कर ली गयी तो क्या हुआ ? सत्य की हत्या तो हुई ही। ऐसी परिस्थिति में कुछ शास्त्रकारों ने निर्णय दिया है कि किसी भी स्थिति में असत्य न बोला जाय, तभी सत्य की हत्या न होगी। महाभारत में स्पष्ट कहा गया है--- जो व्यक्ति अपने लिए अथवा दूसरों के लिए परिहास में कभी असत्य नहीं बोलते, वे स्वर्ग में जाते हैं। फिर भी लोकहित के लिए अथवा किसी निर्दोष व्यक्ति की रक्षा करने के लिए असत्य बोलना कभी भी निन्दनीय नहीं समझा गया।

अत्याचारियों अथवा दुष्टों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए---इस सम्बन्ध में प्रायः सभी शास्त्रकारों का मत है कि यदि अत्याचारी या दुष्ट पुरुष समझाने-बुझाने से अथवा साधुतापूर्वक व्यवहार करने से सत्पथ पर आ जाता है तो सबसे अच्छा है। महाभारत के अनुसार क्रोध को अक्रोध से और असाधु को साधुता से जीतना चाहिए। वैर का अन्त वैर से नहीं होता। दुष्टों के साथ दुष्ट न बने। यही गौतम बुद्ध की भी सीख है।

एकादशम अध्याय

शासन-संस्था

मानव जब तक अकेले या पति-पत्नी का छोटा कुटुम्ब बनाकर रहा, तब तक शासन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। ज्यों ही कई लोगों का एक समूह अथवा कुटुम्ब बनने लगा, तभी से उनको नेता अथवा शासक की आवश्यकता पड़ी। नेता उन सभी लोगों के कर्तव्य-पथ का निश्चय करता था और शासक उनके पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करता था। दुर्बल की रक्षा करना राज्य का प्रथम उद्देश्य है। जैसे समुद्र में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती हैं,[1] उसी प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बड़े-छोटों को न खा जाँय--यह विशेषतः राजा के प्रयत्न से सम्भव हुआ। ऐसी व्यवस्था स्वाभाविक है, जो लाखों वर्षों तक प्रचलित रही। उस प्राचीन युग का नेता अथवा शासक न्याय-प्रिय, बुद्धिमान्, दूरदर्शी और बलवान् होता था।

नृपतन्त्र

शासन-संस्था का प्रचलन कुटुम्ब से लेकर धीरे-धीरे बड़े जन-समूह के लिए हुआ। ऋग्वेद के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय कुटुम्ब, जन्मन्, विश् और जन नामक उत्तरोत्तर बड़े समूह थे। एक जाति के कई कुटुम्बों के जन्मन् (गाँव), अनेक जन्मनों के विश् और बहुत से विशों के जन होते थे। इन सभी जन-समूहों के अधिपति होते थे। विश्-पति और जनपति का पद ऊँचा था। धीरे-धीरे बड़े राज्यों की स्थापना होने लगी। वैदिक काल में आगे चल कर कई जनों के अधिपति होने लगे। उस समय के शासकों के नाम राजा, महाराज, सम्राट् आदि मिलते हैं।

चाहे कोई राजा, महाराज या सम्राट् हो अथवा प्रजा के द्वारा चुना हुआ राष्ट्रपति हो, उसके पीछे प्रजा का होना आवश्यक है। प्रजा शक्तिमान् और बुद्धिमान् लोगों को अपना शासक चुनती थी। जिन प्रदेशों में प्रजा के चुने हुए शासक होते थे, उन्हें विराट् कहा जाता था।

वैदिक काल में छोटे-छोटे राजा मिलकर अपने संघ बना लेते थे। उनको गण-राज्य या राज्य-संघ कहा जाता था। ऐसे गणों की स्थापना संभवतः अपनी सुरक्षा के लिए तथा सफलतापूर्वक सम्मिलित शक्ति से शत्रुओं का सामना करने के लिए हुई थी।

---

१. यह मात्स्य न्याय है।

भारतीय राज्य-सत्ता के सात अङ्ग माने गए हैं--राजा, मन्त्री, राज्य, कोष, दुर्ग, सेना और मित्र। इन सातों अङ्गों का उपयोग प्रजा को धन-धान्य-सम्पन्न बनाने के लिए तथा उनमें सदाचार की वृद्धि के लिए होता था। प्रजा का अभ्युदय राज्य का प्रधान उद्देश्य था। व्यक्तिगत और सामाजिक प्रयत्नों से केवल कुछ व्यक्तियों और समाजों की उन्नति हो सकती है, पर जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए तथा प्रजा की सुख और शान्ति की व्यवस्था के लिए सुव्यवस्थित राज्य-संस्था की सदा उपयोगिता रही है।

राजा

प्राचीन भारत में राजा दो प्रकार से बनते थे---स्वयं प्रतिष्ठित और प्रजा-प्रतिष्ठित। जो मनुष्य अपनी प्रतिभा, चरित्र और रण-कौशल से किसी भू-भाग या जन-समूह की सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता था, वह स्वयं-प्रतिष्ठित राजा होता था। प्रजा के द्वारा चुना हुआ राजा प्रजा-प्रतिष्ठित होता था। वैदिक काल में चुनाव का अधिकार राष्ट्र के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को था। ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों में जन्मनों और विशों के अधिपति होते थे।

किसी राजा का योग्य पुत्र उसके पश्चात् प्रायः राजा बन जाता था। इस सम्बन्ध में ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार अन्य पुत्रों से बढ़कर माना जाता था। उसके छोटे भाई प्रायः प्रान्तों के शासक बना दिए जाते थे अथवा राजधानी में उच्च पदों पर नियुक्त हो जाते थे।

वैदिक काल में राजा को देव (देवता) मानने की भावना का उदय हुआ। धीरे-धीरे राजा को देव-पद की प्राप्ति इस सीमा तक हो गई कि उसे सभी देवताओं का प्रतीक माना गया। यह भावना केवल उच्चकोटि के सच्चरित्र राजाओं के लिए थी। दुष्ट राजा राक्षसों के प्रतीक माने गये हैं। धर्मशास्त्रों ने यथाशीघ्र उनको राजपद से हटा देने की सीख दी है।

राजत्व का मौलिक आदर्श देवताओं के राजा वरुण का शासन माना जाता था। वरुण का प्रधान कर्त्तव्य ऋत अर्थात् सत्य, और धर्म की स्थापना और रक्षा करना था। वरुण स्वयं धृतव्रत हैं। यही मौलिक आदर्श भारतीय राजाओं के सामने सदा प्रस्तुत किया गया। राजा स्वयं धार्मिक तथा कर्त्तव्यपरायण होता था। ऐसी परिस्थिति में 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार प्रजा स्वाभावतः धार्मिक बन जाती थी।[1] प्रजा के सुख और अभ्युदय के लिए सर्वाधिक प्रयत्न करने वाला राजा प्रजा का सेवक माना गया। राजकोश का उपयोग अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करना उसके लिए महान् पाप गिना गया। ऐसा करने वाला राजा नरक का द्वार अपने लिए खोल लेता है। ऐसी धारणा राजा के नियन्त्रण-हेतु थी।

१. यादृशो जायते राजा तादृशोऽस्य जनो भवेत् ।। महा० स्त्रीपर्व ८.३२

उपर्युक्त दिशा में राजा के व्यक्तित्व का विकास करने के लिए उसकी बालावस्था से प्रयत्न होते थे। उसे अपने पद के योग्य बनने के लिए शस्त्रों के साथ शास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। उसकी भावनाओं को उदात्त बनाने के लिए महापुरुषों के आदर्श उसके सामने रखे जाते थे। उसे सज्जनों और विद्वानों की संगति में रखा जाता था। उसके मन में प्रत्यक्ष और गौण रूप से यह बात बैठा दी जाती थी कि कर्त्तव्य-विमुख और अधार्मिक होने पर अथवा अत्याचार करने पर उसको पदच्युत होना पड़ेगा, जैसा प्राचीन काल में अनेक बुरे राजाओं को होना पड़ा था। भारतीय शास्त्रों ने अनुमति दी है कि दुष्ट राजाओं का राज्य छोड़ कर अच्छे राजाओं के राज्य में जा बसना चाहिए।

मन्त्री

राजकीय समस्याओं का समाधान करते समय वैदिक काल से राजा मंत्रियों के मतों को सुनते आए हैं। सर्वप्रथम यजुर्वेद में रत्नी नामक पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है। राजा के सम्बन्धी, मन्त्री, विभागों के अध्यक्ष और अन्य महत्त्वपूर्ण सभासद् रत्नी होते थे। रत्नियों में पुरोहित का स्थान सर्वोच्च था। प्रधान रानी भी रत्नी होती थी। विभिन्न राजकीय विभागों के अध्यक्ष सेनानी (सेनापति), सूत (राजा का रथ-वाहक), ग्रामणी (गाँवों के प्रधान लोगों में सर्वश्रेष्ठ), संग्रहीता (कोषाध्यक्ष) और भागदुक् (कर-संग्रह करने वाला) होते थे। सभासद् रत्नियों में क्षत्ता, अक्षावाप तथा पालागल होते थे। क्षत्ता राजा के साथ रह कर सदा उसके विद्वान् मित्र की भांति कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान कराता था। अक्षावाप जुआ में और पालागल विनोद के साथी थे। उपर्युक्त सभी रत्नी अपने-अपने क्षेत्र में राजा को परामर्श देते थे।

रत्नियों का उल्लेख वैदिक साहित्य तक ही सीमित है। इसके पश्चात् राजा की सहायता के लिए मन्त्रिमण्डल का प्रचलन हुआ। मन्त्रियों का अधिकार धीरे-धीरे बढ़ता गया। राजा के निःसन्तान मर जाने पर उनके राजा तक नियुक्त कर देने के उल्लेख मिलते हैं। कई मन्त्री तो इतने शक्तिशाली हुए कि निकम्मे राजाओं को हटा कर स्वयं राजा बन गए। रामायण में दशरथ की मृत्यु के पश्चात् कोई राजा न रहने पर पुरोहित-मन्त्री वसिष्ठ के राजकाज सँभालने का उल्लेख किया गया है। राज्य में सुख-शान्ति और समृद्धि के लिए समुचित प्रबन्ध करना मन्त्रिमण्डल का उत्तरदायित्व था। मन्त्रिमण्डल भविष्य में अच्छे राजा बनाने के लिए राजकुमारों की उचित शिक्षा का प्रबन्ध करता था। मन्त्रियों के अधिकारों को देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन युग में राजा की स्वेच्छाचारिता नहीं के बराबर थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बुरे राजा निकम्मे मन्त्रियों को चुन लेते थे और भोग-

विलास में लिप्त होकर सब कुछ खो बैठते थे, पर साथ ही यह भी सच है कि सच्चरित्र मन्त्रियों के विचारों से राजा भी प्रभावित होता था और उनका कहना न मानकर अथवा उनसे वैर मोल लेकर अपनी ही जड़ खोदता था। राजा मन्त्रियों के आदेशानुसार अपनी आज्ञाओं में संशोधन करते थे।

मन्त्रिमण्डल की अध्यक्षता प्रधान मन्त्री करता था। वह सभी मन्त्रियों से अधिक योग्य और प्रभावशाली व्यक्ति होता था। प्रधान मन्त्री के नीचे युद्ध-मन्त्री का पद होता था। युद्ध-मन्त्री के अन्य नाम सेनापति, महाबलाधिकृत, कम्पन और महाप्रचण्डदण्डनायक आदि मिलते हैं। युद्ध-मन्त्री के पश्चात् परराष्ट्र-मन्त्री का स्थान होता था। यह मन्त्री साम, दाम, दंड और भेद की प्रक्रिया में प्रवीण होता था। प्रधान न्यायाधीश प्राड्विवाक राज्य के बड़े अभियोगों का न्याय करता था। पंडित नामक मत्री विवादग्रस्त विषयों के सम्बन्ध में धर्मशास्त्र और लोकाचार सम्बन्धी मत का उल्लेख करता था। वह राष्ट्र को सांस्कृतिक दृष्टिकोण से प्रगतिशील बनाने के लिए शास्त्रीय व्यवस्थाएँ उपस्थित करता था। कोषाध्यक्ष-मन्त्री, जिसके नाम संग्रहीता, समाहर्ता, भाण्डागारिक आदि समय-समय पर रखे गए, राष्ट्रीय आय-व्यय का लेखा रखता था।

मन्त्रियों की संख्या के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं मिलता है। उनकी संख्या आश्यकतानुसार कम या अधिक हो सकती थी। कई मन्त्री दो विभागों को भी सँभाल लेते थे। इस सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने केवल यही निश्चित मत प्रकट किया है कि मन्त्रियों की संख्या बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए। महाभारत में आठ, मनुस्मृति में सात या आठ और शुक्रनीति में दस मन्त्रियों की संख्या निर्धारित की गई है।

राजा स्वयं मन्त्रियों को नियुक्त करता था, उनकी पद-वृद्धि कर सकता था अथवा उनको निकाल सकता था। विषम परिस्थितियों में मन्त्री राजा के सर्वनाश करने के लिए षड्यन्त्र रचते थे और राजा उनका निर्वासन कर देता था। साधारण परिस्थितियों में राजा और मन्त्री का सहयोग होता था, वे एक दूसरे का सम्मान करते थे। राजा समझता था कि मेरी निजी उन्नति और राष्ट्र का अभ्युदय मन्त्रियों के यत्न से ही सम्भव है। मन्त्री भी प्रजा और राष्ट्र के संवर्धन के लिए प्राणपण से प्रयत्न करते थे और अपना सर्वस्व त्याग देने के लिए उद्यत रहते थे। वे राजा की रक्षा करने के लिए अपना प्राण तक दे सकते थे। इस उच्च आदर्श की सफल प्रतिष्ठा राजा जयापीड के मन्त्री ने की है। जब राजा बन्दी हो गया तो मन्त्री ने अपना प्राण इसलिए दे दिया कि उसके फूले हुए शव के सहारे राजा नदी पार कर शत्रुओं के कारागार से स्वतन्त्र हो जाए। होयसल-वंशी बल्लाल द्वितीय का मन्त्री, राजा की मृत्यु

हो जाने पर एक ऊँचे खंभे से कूद कर मर गया। यह थी आदर्श मन्त्रियों की राजभक्ति।

केन्द्रीय शासन

शासन की सुव्यवस्था के बिना सिन्धु-सभ्यता की नागरिकता का उदय असम्भव होता। केवल इसी आधार पर यह कल्पना कर सकते हैं कि तत्कालीन शासन-पद्धति भलीभाँति विकसित थी।

वैदिक शासन का परिचय तत्कालीन साहित्य से मिलता है। उस समय की शासन-पद्धति जटिल नहीं थी। कुछ राजपुरुष प्रजा की समस्याएँ राजा तक पहुँचाते थे और राजा की आज्ञाएँ प्रजा को समझाते थे। धीरे-धीरे केन्द्रीय शासन का विकास हुआ। ई० पू० चौथी शती से केन्द्रीय शासन के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष 'लेखक' नाम के कर्मचारियों का परिचय मिलता है। लेखक राजकीय आदेशों को सुचारु रूप से लिखने की व्यवस्था करते थे और उन्हें राजकीय मुद्राओं से प्रमाणित करके प्रजा के बीच काम करने वाले कर्मचारियों के पास कार्यान्वित करने के लिए भेज देते थे। आगे चल कर लेखकों की दूसरी उपाधि अक्षपटलिक और महाक्षपटलिक मिलती है।

केन्द्रीय शासन में राजा स्वयं प्रमुख भाग लेता था। वह अपने राज्य के विभिन्न प्रदेशों में समय-समय पर दौरा करके वहाँ की प्रजा की परिस्थिति का परिचय प्राप्त करता था तथा राजकर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करता था। राजकर्मचारियों के कामों के विषय में राजकीय दूत भी राजा को समाचार देते थे। जहाँ-कहीं राष्ट्रीय धन का दुरुपयोग होता था या कोई न्यायाधीश अनुचित न्याय करता था या प्रजा के बीच राजद्रोह, उपद्रव अथवा उनके ऊपर किसी प्रकार की विपत्ति आ पड़ती थी तो राजदूत राजा को समाचार देते थे कि उचित व्यवस्था के द्वारा गड़बड़ी दूर होनी चाहिए।

राज्य में सुव्यवस्था रखने के लिए तथा परराष्ट्रों के आक्रमण से बचाने के लिए प्रत्येक राजा सुव्यवस्थित सेना रखता था। सेनापति प्रायः युद्ध-मन्त्री, प्रधान न्यायाधीश और न्यायमन्त्री होता था। वह युद्ध-विभाग का अध्यक्ष होता था। उसको महासेनापति, महाबलाधिकृत या महाप्रचण्ड-दण्डनायक आदि उपाधियाँ समय-समय पर दी गई थीं। सेनापति के नीचे सेना को युद्ध-भूमि में क्रमबद्ध खड़ा कराने वाला अधिकारी महा-व्यूहपति और चार प्रकार की सेनाओं--पैदल, घुड़सवार, हाथी वाली और रथी--के अध्यक्ष होते थे। सेना-सम्बन्धी अन्य अधिकारी दुर्गों के अध्यक्ष कोटपाल, सैनिक सामग्री के अध्यक्ष, रण-भाण्डागाराध्यक्ष आदि होते थे। सैनिकों की शिक्षा देने के लिए विशेष प्रबन्ध किया गया था। सेना के लिए उपयोगी हाथी और

घोड़ों को वर्षों सिखाया जाता था कि युद्ध की विषय परिस्थितियों में वे किस प्रकार धैर्यपूर्वक डटे रहें ।

नौसेना का सर्वप्रथम उल्लेख मौर्य काल से मिलता है। उस समय से प्रायः सदा ही समुद्र और बड़ी नदियों के समीपस्थ राज्यों में नौसेना रखने का प्रचलन रहा है। कामरूप के राजा कुमार राज (भास्कर वर्मा) के पास ३०,००० सैनिक नावों का बेड़ा था। बंगाल के पाल राजाओं की नौसेना बड़ी शक्तिशालिनी थी। सुदूर दक्षिण के सभी राज्यों में बड़ी नौसेनाएँ थीं। सामुद्रिक व्यापार की रक्षा के लिए तामिल राज्य में सेना रखी जाती थी। चोल-वंशी राजाओं ने ग्यारहवीं शती में नौसेना के बल पर अनेक दूरस्थ द्वीपों पर विजय-पताका फहराई। नौसेना की सहायता से दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय साम्राज्य की प्रतिष्ठा हो सकी थी।

परराष्ट्र-मन्त्री अन्य राष्ट्रों और विदेशियों के सम्बन्ध में सजग रहता था। इस विभाग के गुप्तचर अन्य राष्ट्रों में तथा अपने राज्य में भ्रमण करते थे और मन्त्री को आवश्यक सूचनाएँ देते थे। महामुद्राध्यक्ष नामक इस विभाग का अधिकारी विदेशियों को अपने राष्ट्र में विचरने के लिए अधिकार-पत्र देता था। परराष्ट्र-मन्त्री के अन्य नाम महासान्धि-विग्रहिक तथा दूत आदि मिलते हैं।

राजकीय आय के विभिन्न विभागों के अलग-अलग अध्यक्ष होते थे। सीताध्यक्ष राजकीय खेती के काम-काज की देखभाल करता था। अरण्याध्यक्ष वन से आय करता था। गो-अध्यक्ष राजकीय पशुओं की वृद्धि के उपाय करता था। विवीताध्यक्ष खेती के काम में न आने वाली भूमि से आय करने का प्रबन्ध करता था। महाक्षपटलिक भूमिकर का प्रबन्ध करता था। इसी प्रकार के अन्य अध्यक्ष सूत, सुरा, गणिका (वेश्या), सूना (मांस-विक्रय), सुवर्ण (मुद्रा), पण्य (व्यापार), शुल्क (चुङ्गी) आदि से आय की व्यवस्था करते थे।

राजकीय आय को समुचित रूप से सुरक्षित रखने वाला अधिकारी कोषाध्यक्ष होता था। वह राजकीय धन के व्यय-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान भी करता था। राजकीय आय विभिन्न प्रकार के द्रव्यों के रूप में होती थी। लकड़ी, तेल और घी आदि से लेकर रत्न और मणियाँ प्राप्त होती थीं। इनके मूल्य का निर्धारण और उनका संरक्षण कोषाध्यक्ष करता था।

राज शासन को दूरदेशों में प्रचारित करने के लिए दूतों का उपयोग होता था।

न्याय

न्याय के क्षेत्र में राजा सदा ही सर्वोच्च अधिकारी माना गया है। यों तो छोट-मोटे अभियोग ग्रामीण पंचायतों में अथवा नगर के न्यायालयों में देखे-सुने जाते थे, पर किसी भी अभियोग की समुचित सुनवाई न होने पर प्रजा को अधिकार था

कि उसे व्यक्तिगत या सामाजिक किसी भी रूप में राजा के सामने उपस्थित करे। राजा के नीचे प्रधान न्यायाधीश होता था, जिसका नाम प्राड्विवाक् था। अन्य न्यायाधिकारी धर्माध्यक्ष, दंडाध्यक्ष आदि होते थे। चोरों को अथवा अन्य अपराधियों को पकड़ने के लिए चोरोद्धरणिक और दंडपाशिक नामक पदाधिकारी होते थे।

दंड की व्यवस्था बहुत कठोर थी। सम्भवतः यही कारण है कि उस समय अपराधियों की संख्या कम थी। प्रायः दंड मृत्यु, अंगभंग, निर्वासन और कारावास के रूप में दिए जाते थे। अपराध का निश्चय करने के लिए पूरी छान-बीन की जाती थी। वकीलों का उस युग में अभाव था। अपराधी कभी-कभी दंड पाने के लिए स्वयं भी न्यायाधिकारियों के पास आ जाते थे। समाज अपराधियों का बहिष्कार कर देता था। केवल समाज में प्रतिष्ठित नागरिक ही साक्षी रूप में सम्मानित हो सकते थे।

न्याय की सफलता यही थी कि राजा न्याय के द्वारा असत्य और हिंसा का समूल विनाश कर दे। मिथ्यावादियों के लिए पद-पद पर दंड के रूप में प्रतिबन्ध लगे हुए थे। न्याय-पद्धति में इस प्रकार के रोड़े नहीं थे कि वादी-प्रतिवादी को अनावश्यक प्रतीक्षा करनी पड़े। न्याय के लिए व्यय नहीं के बराबर था। वस्तु-स्थिति की खोज करने के लिए भरसक प्रयत्न किया जाता था। लोगों का विश्वास था कि देवता भी मानव-विवादों के उत्पन्न होने पर सत्य की खोज में सहायक होते हैं। इसी विश्वास के आधार पर शपथ तथा दिव्य परीक्षाओं का प्रचलन हुआ था। घूसखोरी नहीं थी। न्यायालय का वातावरण डरावना नहीं था।

प्रदेश का शासन

शासन की सुविधा के लिए राज्य अनेक भागों में बाँट दिया जाता था। बड़े राज्यों में कई प्रदेश होते थे। प्रदेश का शासन प्रायः युवराजों के हाथ में सौंपा जाता था। प्रदेश के शासकों को उपराज उपाधि दी जाती थी। अपने राज्य में उपराज के अधिकार प्रायः वे ही होते थे जो पूरे राज्य में राजा या महाराज के होते थे। उपराज के लिए भी मन्त्री और राज-सभा होती थी। उनको सन्धि और विग्रह तक का अधिकार भी कभी-कभी प्राप्त होता था। युद्ध के लिए तथा अपने प्रदेश में शान्ति स्थापित करने के लिए उनके पास सेना होती थी।

प्रदेशों का विभाजन भुक्तियों, देशों अथवा मंडलों में होता था। अशोक के शासन-काल में प्रदेश के ऐसे भागों का शासन रज्जुक नामक पदाधिकारी करते थे। इनको अपने प्रदेश में शान्ति की व्यवस्था करने के लिए न्याय का अधिकार मिला था। अपनी छोटी सेना के द्वारा आवश्यकता पड़ने पर ये स्थानीय विद्रोहों को दबा सकते थे।

भुक्तियों का विभाजन विषयों (आहरणी, राष्ट्र) में हुआ था। विषय में १००० से लेकर २००० तक गाँव होते थे। विषयों के शासक युत, प्रदेष्टा अथवा विषयपति होते थे। इनके पास भी सेना होती थी। विषय के सभी राजकर्मचारी इन्हीं के अधीन काम करते थे। शासन में विषयपति की सहायता करने के लिए कभी-कभी प्रजा के प्रतिष्ठित लोगों की परिषद् होती थी।

विषयों के विभाजन ग्रामों के समूह के रूप में होते थे। ऐसे समूह ८००, ४००, २०० और १० गाँवों के होते थे। समूहों की रचना अन्य कई विधियों से भी सुविधानुसार कर ली जाती थी। इनमें से प्रत्येक भाग का अधिकारी एक राजपुरुष होता था।

नगरों की शासन-व्यवस्था के लिए विषयपति के समकक्ष पदाधिकारी नियुक्त होते थे। शासन की सुविधा के लिए नगर कई भागों में बाँटे जाते थे। नगर का शासन करने के लिए प्रतिष्ठित नागरिकों की समितियाँ बनाई जाती थीं।

ग्राम का शासन

शासन का मूल ग्राम है। प्राचीन भारत में नगरों की संख्या गिनी-गिनाई थी। उनका महत्त्व भारतीय जीवन में अधिक नहीं था। उस युग में ग्रामों की प्रधानता थी। वैदिक काल से गाँव का शासन उसी गाँव के प्रधान (मुखिया) के हाथ में मुख्य रूप से रहा है। समय-समय पर तथा विभिन्न प्रान्तों में उसकी उपाधियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं। वैदिक काल में ग्रामीण तथा आगे चल कर ग्रामिक; ग्रामेयक, मुनुन्द, ग्रामकूट, पट्टकील, गावन्द, महत्तर आदि सभी गाँव के मुखिया के नाम हैं। मुखिया गाँव का राजा माना गया है। वह गाँव के लिए प्रायः सभी ऐसे काम करता था, जो राजा सारे राज्य के लिए करता था। वह गाँव में सुख-शान्ति की व्यवस्था-करता था, सभी प्रकार की विपत्तियों से उसकी रक्षा करता था और सभी प्रकार के ग्रामीण झगड़ों और अभियोगों का निपटारा करता था। गाँव के सभी वीर युवकों की एक सेना बनाकर वह गाँव पर आक्रमण करने वाले अत्याचारियों से युद्ध करता था।

प्रत्येक गाँव में शासन का काम सुचारु रूप से चलाने का काम मुखिया की अध्यक्षता में ग्राम-सभा करती थी। ग्राम-सभा के प्रायः कई रूप थे। आवश्यकतानुसार इसके सदस्यों की संख्या कम या अधिक हो सकती थी। कभी-कभी तो गाँव के सभी वयस्क लोग सभा-भवन में आ बैठते थे। धीरे-धीरे ग्राम-सभाओं की रूप-रेखा अधिक नियमित हो गई और केवल गिने चुने प्रतिष्ठित लोग उनके सदस्य हो सकते थे। ग्राम-सभाओं की बैठक और कार्यवाही आदि भी सुव्यवस्थित रूप से होने लगी।

ग्राम-सभा कुछ कुशल और सच्चरित्र लोगों की कार्यकारिणी-समिति चुन लेती थी। यह समिति गाँव की आवश्यक समस्याओं पर विचार करके उनके समाधान ग्राम-सभा के सामने रखती थी।

गाँवों में पंचायतें ग्राम-सभा के द्वारा नियुक्त होती थीं। पंचायतों का अधिकार गाँव की ऊसर भूमि तथा अन्य सार्वजनिक वस्तुओं पर होता था। वह गाँव के झगड़ों का निपटारा भी करती थी। राजा भी पंचायतों के निर्णय का सम्मान करते था। पंचायतें भाँति-भाँति की योजनाओं के द्वारा गाँवों को अधिक से अधिक समृद्धि-शाली बनाने का यत्न करती थीं। अकाल और महामारी आदि व्यक्तिगत अथवा सामूहिक विपत्तियों का निवारण करने के लिए भरसक प्रयत्न करना पंचायत का प्रमुख कर्तव्य था।

केन्द्रीय शासकों का गाँव के शासन से केवल गौण रूप से सम्बन्ध था। राजा समय-समय पर कुछ आवश्यक आदेश गाँव के मुखिया और पंचायतों के लिए भेजते रहते थे।

गण तन्त्र

गणराज्यों का शासन प्रजातन्त्रात्मक था। ऐसे राज्य कम से कम गौतम बुद्ध के काल से चौथी शती ई० तक इस देश में प्रतिष्ठित थे। गणराज्यों का प्रचलन विशेषतः उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम भारत में था। उपर्युक्त समय में पंजाब और सिन्धु की घाटी में वृक, दामणि, पार्श्व और कम्बोज राज्य थे। पाणिनि ने त्रिगर्त-षष्ठ नामक गणराज्यों के संघ का उल्लेख किया है। २०० ई० पू० से लेकर ४०० ई० तक आजकल के आगरा-जयपुर-भूभाग में अर्जुनायन-गणराज्य था। यौवेय-गण-राज्य बहुत विस्तृत था। यह पंजाब में लुधियाना से दिल्ली तक और उत्तरप्रदेश में सहारनपुर से भावलपुर तक फैला हुआ था। यौवेय-गण ई० पू० चौथी शती से लेकर कम से कम ३५० ई० तक प्रतिष्ठित रहा। यौवेय-वीरों की गाथाओं से तत्का-लीन साहित्य भरा पड़ा है। मध्य पंजाब में मद्रों का गण-राज्य था। इन्होंने सिकन्दर का सामना वीरता-पूर्वक किया। इनका गण-राज्य चौथी शती ई० तक रहा। मद्रों की भाँति मालव और क्षुद्रक गण-राज्यों ने सिकन्दर को रोकने की चेष्टा की थी। मालवों की सेना में एक लाख वीर थे। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् मालव-क्षुद्रक गण-राज्यों का एक संघ बन गया। मालवों के सर्वप्रथम राज्य की स्थापना चेनाब और रावी नदियों के मध्यस्थ प्रदेश में हुई थी। इस प्रदेश के दक्षिण में क्षुद्रक-गणराज्य था। धीरे-धीरे मालव दक्षिण की ओर बढ़ते गये और कुछ समय तक अजमेर-चित्तौड़-टोंक प्रदेश में रहकर फिर आधुनिक मालवा में आ बसे थे।

सिकन्दर के समय में अगेसिनाइ और सिवियों के गण-राज्य उत्तरी प्रदेश में थे। १०० ई० पू० में सिवि चित्तौर के समीप मध्यमिका में प्रतिष्ठित हो गये। क्षुद्रकों के राज्य के दक्षिण में अम्बष्ठों का गण था। द्वारिका के अन्धक-वृष्णियों का गण-राज्य महाभारत-काल में सबसे अधिक उन्नतिशील था। यह गण सुदूर प्राचीन काल से चला आ रहा था। इस प्रदेश में गणराज्य कम से कम तीसरी शती तक स्थापित रहा। कृष्ण इसी अन्धकवृष्णि गण-संघ के प्रधान थे।

उत्तर-प्रदेश के पूर्वी और बिहार के उत्तरी प्रदेशों में कई गण-राज्य रह चुके हैं। इनमें से भग्ग, बुली, कोलिय और मोरिय राज्य छोटे थे, पर शाक्य, मल्ल, लिच्छवि और विदेह गण-राज्यों का विस्तार पर्याप्त था। शाक्य राज्य गोरख-पुर के उत्तर में नैपाल के सन्निकट था। मल्लों का राज्य पटना तक विस्तृत था। लिच्छवि राज्य की राजधानी वैशाली नगरी थी। विदेह-राज्य आधुनिक मिथिला में था। ये सभी राज्य गौतम बुद्ध के जीवन-काल में वर्तमान थे।

छोटे-छोटे गणतन्त्रों के सभासदों की समिति होती थी। समिति का प्रधान केन्द्र राजधानी होता था। सदस्यों को राजा और उनके पुत्रों द्वारा उप-राज की उपाधि दी गई थी। शासन-समिति की ओर से राज्य में स्थान-स्थान पर कर्मचारी नियुक्त किये गये थे। वे कर्मचारी आवश्यकता पड़ने पर प्रजा के आवश्यक समाचारों को राजाओं तक पहुँचाते थे। नगरों और गाँवों का प्रबन्ध पंचायतों के द्वारा किया जाता था।

बड़े गण-राज्यों का शासन प्रधान रूप से राजधानी में प्रतिष्ठित केन्द्रीय समिति के द्वारा होता था। बड़े गण-राज्य शासन की सुविधाओं के लिए प्रदेशों में विभक्त किए जाते थे। इन प्रदेशों तथा बड़े नगरों का शासन स्थानीय समिति के द्वारा होता था।

केन्द्रीय समिति में सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी होती थी। राज्य के प्रायः सभी प्रतिष्ठित नागरिक उसके सदस्य होते थे। लिच्छवि गण-राज्य की समिति में ७७०७ तथा यौधेय गण-राज्य की समिति में ५००० सदस्य थे। शासन के सर्वा-धिकार समिति को प्राप्त थे। युद्ध के लिए सेनापति का चुनाव समिति करती थी। प्रायः प्रत्येक युद्ध के लिए अलग-अलग सेनापति चुने जाते थे। सन्धि-विग्रह का निर्णय समिति के द्वारा होता था। शासन के अतिरिक्त राष्ट्र के अभ्युदय और प्रगति सम्बन्धी सभी प्रकार की समस्याओं पर समितियों में विचार होता था।

प्रत्येक गण का एक अध्यक्ष होता था। वह अपने गण के मन्त्रि-मण्डल का प्रधान होता था। मन्त्रि-मण्डल के मन्त्रियों की संख्या आवश्यकतानुसार कम या अधिक

हो सकती थी। लिच्छवि-गण-राज्य में नव मन्त्री थे और लिच्छवि-विदेह राज्य-संघ में १८ मन्त्री थे। मन्त्रियों का चुनाव समिति करती थी। परराष्ट्र, कोष, न्याय, दंड, कर, व्यापार तथा उद्योग आदि प्रत्येक विभाग के लिए एक मन्त्री होता था। मन्त्रियों की अध्यक्षता में उनके विभाग के कर्मचारी काम करते थे।

भारतीय इतिहास में गण-राज्यों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनकी गौरव-गाथा अभी तक स्वल्प मात्रा में प्राप्त हो सकी है, पर इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जिस शासन-पद्धति का प्रचलन गण-राज्यों में हुआ था, उसके द्वारा देश की सर्वांगीण उन्नति तथा व्यक्तिगत विकास सम्भव हुए। सिकन्दर जैसे विजेता का सामना, जिस वीरता और अदम्य उत्साह के साथ गण-राज्यों ने किया, उसके आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गण-राज्यों की नस-नस में देश-प्रेम, जाति-प्रेम और स्वातन्त्र्य की वह धारा बहती थी, जो इस देश के अभ्युदय के लिए परमावश्यक थी। नृपतन्त्रात्मक राज्य का सबसे बड़ा दोष था कि यदि राजा चरित्रवान् और उत्साही नहीं होता था तो सारा राष्ट्र दुर्बल और पतनोन्मुख हो जाता था। गणराज्य इस दोष से सर्वथा मुक्त थे। गणराज्यों का पारस्परिक मेल द्वारा संघ की स्थापना कर लेना और देश को आपत्तियों से सुरक्षित रखने का सामूहिक प्रयत्न करना प्रमुख विशेषता रही है।

राजकीय आय

प्राचीन काल के राजाओं ने अपनी आय के लिए कृषि, पशु-पालन आदि कामों को अपनाया था। आय के इन साधनों का सर्वांगीण स्वरूप अर्थशास्त्र में मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि राजा की गायों, घोड़ों तथा अन्य पशुओं की अभिवृद्धि के लिए अध्यक्ष नियुक्त होते थे। संभव है, राजकीय आय का उपर्युक्त साधन राजत्व के आदिम काल से चलता आ रहा हो।

ऋग्वैदिक काल में 'बलि' रूप में प्रजा से राजा की आय होती थी। तत्कालीन साहित्य में प्रजा की एक उपाधि 'बलिहृत्' मिलती है। समग्र वैदिक युग में तथा पर-वर्ती सूत्र, स्मृति, रामायण पुराण-काल में प्रजा से राजा के बलि पाने का प्रचलन मिलता है। ऋग्वैदिक काल में बलि संभवतः सर्वसाधारण से ली जाती थी और लोग इसे स्वेच्छा से राजा के सम्मानार्थ देते थे। इसके अतिरिक्त आधुनिक आय-कर की भाँति समृद्धिशाली लोगों से राजा को विशेष धन मिलता था। कर को दृष्टिपथ में रखते हुए इस वेद में कहा गया है——धनी लोगों को राजा वैसे ही खाता है, जैसे अग्नि वन को।[1]

---

१. ऋग्वेद १.६५.४

वैदिक राजकीय 'रत्नी-मण्डल' में 'संग्रहीता' और 'भागधुक्' नामक पदाधिकारी होते थे। भागधुक् नाम से प्रकट होता है कि वह प्रजा की उत्पादित की हुई वस्तुओं में से राजा का भाग संग्रह करता होगा। अथर्ववेद में एक स्थान पर राजा के द्वारा गाँव के अश्वों और गौओं में से भाग लेने की कामना की गई है। संग्रहीता संभवतः सभी प्रकार की राजकीय आय को संगृहीत करने वाला पदाधिकारी था।

अथर्ववेद में राजा को सिंह का प्रतीक मानकर उसे सभी विशों का अद् कहा गया है। इस प्रकरण में विश् का अर्थ प्रजा या राष्ट्र कुछ भी लें, तात्पर्य यही निकलता है कि प्रजा से मनमाना धन संग्रह करने की रीति कहीं-कहीं अवश्य थी। अन्यत्र भी राजा को 'विशामत्ता' उपाधि दी गई है। वैदिक राजाओं को परराष्ट्रों की विजय करने पर शत्रु-राजा का सर्वस्व अपहरण कर लेने के अवसर प्राप्त हुआ करते थे। इस प्रकार पशु-समूह और दास-दासी आदि प्रायः मिल जाते थे। इनके अतिरिक्त पराजित राजाओं से 'खण्डनी' के नाम पर धन लिया जाता था।

महाभारत के अनुसार विश्वसनीय और राजभक्त कर्मचारी आय-व्यय-लेखन के लए नियुक्त होते थे। इनकी उपाधि गणक-लेखक थी। वे प्रतिदिन पूर्वाह्न में अपना काम पूरा कर डालते थे। राजा के लिए कृषि-कर्म, गोपालन तथा शिल्प आदि व्यवसायों का आयोजन होता था। शुल्कोपजीवी नामक कर्मचारी बनियों से शुल्क लेते थे। आकर (खान), लवण (नमक), शुल्क, तर (नदी पार करना) आदि के आय-व्यय-शोधन के लिए अमात्य नियुक्त होते थे। उपर्युक्त व्यवसाय राजा के निजी होते थे।

व्यापारियों पर कर सोच-विचार कर नियत किया जाता था। उनके विक्रय, क्रय, मार्ग की दूरी, जीवन-व्यय, यात्रा के आवश्यक साधन, योग-क्षेम आदि का ध्यान रखते हुए कर की मात्रा नियत की जाती थी। शिल्प की वस्तुओं पर उत्पत्ति-सम्बन्धी व्यय ज्ञान करके कर लगाया जाता था। सदैव ध्यान रखा जाता था कि शिल्पी आदि व्यावसायिकों से इतना कर तो नहीं लिया जाता कि उनको अपने कामों का पर्याप्त फल नहीं मिलता।

महाभारत में कर लगाने के सिद्धान्त का पर्यालोचन मिलता है, जिसके अनुसार कर के सम्बन्ध में राजा को अतिलोभ का संवरण करना चाहिए था। अधिक कर लेने वाले राजा के प्रति प्रजा का द्वेष-भाव जागरित होता है। ऐसे राजा का नाम अति-खादी था। तत्कालीन धारणा के अनुसार प्रजा के द्वेष से राजा का अभ्युदय नहीं होता, वह अप्रिय बन जाता है, उसे फल नहीं मिलता। जिस प्रकार अधिक दुहने से गोवत्स दुर्बल होकर कोई काम करने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार अधिक कर लेने पर

राष्ट्र महान् कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। जिस प्रकार कोमलता से भौंरे पुष्प-रस को ग्रहण करते हैं, गोवत्स दूध पीते समय अपनी माँ का स्तन नहीं काटते, जोंक मृदुता से आवश्यकता भर रक्त पी लेती हैं, व्याघ्री अपने शावकों को दांत से पकड़ कर ले जाते समय न तो काटती हैं और न पीड़ा देती हैं, उसी प्रकार कोमलता-पूर्वक राजा को प्रजा से कर लेना चाहिए। कर आजकल की ही भांति आरम्भ में स्वल्प पर शनैःशनै कालान्तर में वर्धनशील होता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार सहसा अधिक कर लगाने से वह असह्य भार प्रतीत होता है। महाभारत के विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रजा के अध्यवसाय से जो फल मिलता है, उसकी अपने भोग के लिए यत्नपूर्वक प्राप्ति करना राजा अपना कर्तव्य समझता था। उसके कर-पाश में छोटे-बड़े सभी आबद्ध होते थे। कर लेने के लिए उचित स्थान, काल और विधि का निर्णय होता था। ब्राह्मण कर से मुक्त होते थे।

महाभारत के अनुसार राजा की आय के साधन उपज का छठा भाग बलि-रूप में तथा अपराधियों से प्राप्त हुआ धन दण्डरूप में थे। राजा इस धनागम को शास्त्रानुसार अपना वेतन मानता था।

राजकीय आय के संरक्षण के लिए कोश और कोष्ठागार नामक दो संस्थाएँ होती थीं। कोश में स्वर्ण-मुद्रायें तथा रत्नादि रखे जाते थे और कोष्ठागार में अन्न, वस्त्रादि का संग्रह किया जाता था। राजाओं का कर्तव्य था कि कोश और कोष्ठागार को सदव धनधान्य से भरपूर रखें। तत्कालीन राजनीति के अनुसार कोश और कोष्ठागार को भरने के लिए न तो साधुतापूर्ण व्यवहार की आवश्यकता है और न नृशंस बनने की। मध्यम मार्ग से कोश-संग्रह करना चाहिए। सम्भवतः कर-संग्रह करने में आवश्यकता पड़ने पर कड़ाई का व्यवहार होता था। प्रजा का धन या तो सेना के लिए है या धार्मिक कृत्यों के लिए है। जो धार्मिक-कृत्य नहीं करते, उनका धन राजा ले सकता था।

महाभारत-काल में कोश की राज-संस्थापिका शक्ति की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। 'दुर्बल के पास कोश नहीं हो सकता, कोश के बिना बल नहीं हो सकता और बिना बल के राज्य सम्भव नहीं है।' लोग कोशरहित राजा की अवज्ञा करते हैं। राजलक्ष्मी से राजा सत्कार पाता है। वह राजा की सभी बुराइयों को छिपा देती है।

सम्राटों को दिग्विजय करते समय तथा राजसूय यज्ञ के अवसर पर अतुलित धन उपहार-रूप में मिलता था। इसका नाम प्रीत्यर्थ बलि था। पराजित राजाओं का सर्वस्व अपहरण किया जा सकता था। युद्धादि आपत्तिमयी परिस्थितियों में राजा प्रजा से यथेष्ट धन बलात् संग्रह कर सकता था। यज्ञ के लिए राजा सभी प्रकार के उपायों से धन ले सकता था।

जातकों के अनुसार राजकीय आय का प्रमुख साधन भूमि-कर था। संभवतः राजकम्मिकों ने भूमि की माप कर डाली थी और कर नियत कर दिया था। उत्पन्न हुई वस्तुओं में से जो कुछ मिलता था, उसका नाम रञ्जो भाग (राजभाग) था। कर-संग्रह करने में कभी-कभी कठोरता का व्यवहार करना पड़ता था। बलिपटिग्गाहक (बलिप्रतिग्राहक), निग्गाहक (निग्राहक), बलिसाधक आदि कर ग्रहण करने वाले राजकर्मचारी थे, जो ग्रासभोजकों की सहायता से अपना काम करते थे। कहीं-कहीं इन राजकर्मचारियों का आतङ्क गाँवों पर उसी प्रकार होता था, जैसे अंगरेजी राज में पुलिस का। लोग सूर्योदय के समय घर छोड़कर निकल भागते थे और फिर सूर्यास्त होने पर लौटते थे। उत्तराधिकारी-रहित लोगों की सम्पत्ति राजा की हो जाती थी। सेना ऐसे लोगों की सम्पत्ति इकट्ठा करके राजकोश में पहुँचाती थी। संन्यास लेने वाले कुटुम्ब की सम्पत्ति राजा ले लेता था। वाद प्रस्तुत करने वाले आवेदक राजा को उपहार देते थे। राजा के उत्तराधिकारी के जन्म के समय प्रजा से उसे भेंट मिलती थी।

मौर्यकाल में गाँवों से भाग और बलि रूप में राजकीय आय होती थी। भाग भूमि की उपज का प्रायः १/६ होता था और कभी-कभी बढ़कर उपज का १/४ या घट कर १/८ तक होता था। बलि एक अन्य प्रकार का कर होता था, जो संभवतः आजकल की लगान की भाँति था। भूमि-कर संग्रह करने वाले राजकर्मचारियों की अध्यक्षता में सिंचाई की व्यवस्था होती थी। राजा को अन्य प्रकार की आय उपहार-रूप में अथवा व्यापारियों और पशु-पालकों से होती थी। पशु-पालकों से पशु प्राप्त होते थे। नगरों से आय का प्रधान साधन जन्म और मरण सम्बन्धी कर थे। नगर के बड़े बाजारों से विक्रय-शुल्क पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता था।

ग्रीक लेखकों के अनुसार वस्तुओं के विक्रय-मूल्य का दशमांश राजा को शुल्क-रूप में देना पड़ता था। जो विक्रेता इस कर से बचने की चेष्टा करते थे, उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। विक्रेताओं को राज्य की ओर से शासन-पत्र लेना पड़ता था। प्रत्येक प्रकार की वस्तु बेचने के लिए अलग-अलग शुल्क देना पड़ता था। राजा के केश-स्नान के दिन लोग सर्वोत्तम वस्तुएँ उपहार-रूप में भेंट करते थे। राजा की प्रदर्शनी के लिए हंस, बत्तख, मुर्गी, कबूतर, चीता, तेंदुआ, वानर आदि प्रजा से उपहार रूप में प्राप्त होते थे। मेगस्थनीज के अनुसार कृषि, पशु आदि की उन्नति-सम्बन्धी योजनाएँ प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति तथा प्रजा का कल्याण करने वाले लोग सभी प्रकार के करों से मुक्त थे।

शक-युगीन राजकीय कोश के पदाधिकारियों के नाम गंजवर, कोष्ठागारिक तथा भाण्डागारिक मिलते हैं। राजकीय कोश की प्रधान आय बलि, शुल्क और भाग

से हो जाती थी। इस प्रकार राजकोश में स्वर्ण, रजत, वज्र, वैदूर्य आदि संचित होते थे। कुछ राज्यों में प्रजा को इनके अतिरिक्त कर, विष्टि और प्रणय देना पड़ता था। इनमें से विष्टि श्रम के रूप में तथा प्रणय प्रेमोपहार था।

गुप्त-युग में प्रमाता नामक राजकर्मचारी खेतों की माप करते थे और सीमाप्रदाता उनकी सीमाएँ नियत करते थे। भूमिकर सम्बन्धी वादों का निर्णय न्यायकरणिक किया करते थे। उपरिक नामक पदाधिकारी 'उपरिकर' संग्रह करता था और ध्रुवाधिकरण समग्र राष्ट्र का भूमिकर सम्बन्धी सर्वोच्च पदाधिकारी था। उत्खेतयिता भी भूमिकर से सम्बद्ध पदाधिकारी होता था। अक्षपटलिक, महाक्षपटलिक और करणिक नामक पदाधिकारी भूमिकर सम्बन्धी लेखों का निर्माण और संग्रह करते थे। शौल्किक नामक पदाधिकारी शुल्क तथा गौल्मिक वन से होने वाली आय के अध्यक्ष होते थे। राजकीय आय सम्बन्धी सर्वोच्च पदाधिकारी माण्डागाराधिकृति होते थे। न्यायव्यवस्था तथा सामन्तों के उपहार आदि से राजा की अच्छी आय पूर्ववत् होती रही। तत्कालीन वाकाटक राजाओं की आय के कुछ साधन घास के मैदान, चर्म, कोयला, खान, मद्य आदि थे।

वैदेशिक नीति

भारतीय राजाओं की वैदेशिक नीति की दो परिधियाँ रही हैं—आन्तरिक तथा बाह्य। आन्तरिक परिधि के अन्तर्गत भारत की सीमा के भीतर के राज्य तथा बाह्य परिधि के भीतर भारत की सीमा के बाहर के राज्य आते हैं। सुदूर प्राचीन काल से इन दोनों परिधियों का समन्वय वैदेशिक नीति में रहा है।

वैदेशिक नीति का सर्वप्रथम परिचय तत्कालीन व्यापारिक सुविधाओं के रूप में मिलता है, जो भारत में अथवा भारत के बाहर के विदेशों में व्यापारियों को सर्वत्र मिला करती थीं। आज से लगभग ५,००० वर्ष पहले भारत का सम्बन्ध सुमेर, असीरिया, काल्डिया, मिस्र, ईरान, अफगानिस्तान, पामीर-प्रदेश, पूर्वी-तुर्किस्तान, तिब्बत, बर्मा आदि प्रदेशों से था। प्रायः उसी युग में सिन्धु-प्रदेश का सम्बन्ध भारत के अन्य भागों—काठियावाड़, राजस्थान, दक्षिण भारत, कश्मीर आदि देशों से था। व्यापार के माध्यम पर आधारित वैदेशिक नीति की रूप-रेखा का इससे अधिक स्पष्ट रूप अभी नहीं मिलता है।

भारतीय राजाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा का एक माध्यम दिग्विजय रही है। वैदिक काल से लेकर प्रायः सदा ही यदि कोई भारतीय राजा चक्रवर्ती या सम्राट् बनना चाहता था तो वह अपनी सेनाओं के साथ प्रायः समग्र भारत में परिभ्रमण करते हुए अहंमन्य राजाओं से युद्ध करता था अथवा विनीत

राजाओं से कर-ग्रहण करके उन्हें छोड़ देता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दिग्विजय के द्वारा जिन राजाओं को अधीनता स्वीकार कराई जाती थी, वे केवल स्वल्प काल के लिए ही किसी राजा का बनावटी सम्मान करते थे और अवसर पाकर स्वयं सशक्त होने पर पहले के सम्राट् बने हुए महाराज पर अथवा पहले के सम्राट् के पुत्र के महाराज होने पर, न केवल अधीनता का सम्बन्ध तोड़ देते थे, अपितु कभी-कभी तो स्वयं बदला लेने के लिए आक्रमण कर देते थे। इस प्रकार भारतीय राजाओं में प्रायः सदा ही पारस्परिक युद्ध का दूषित वातावरण रहा है। अपने राज्य के पार्श्ववर्ती चारों ओर के राजाओं को शत्रुवत् समझना, उनके शत्रुओं को मित्र समझना, शत्रु और मित्र राज्यों को भी सन्देह की दृष्टि से देखते हुए अपने सम्बन्ध में उनकी नीति जानने के लिए गुप्तचरों को नियुक्त करना, शत्रु बने हुए राजाओं को साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपायों से अपने लिए कम हानिकर बनाना आदि आयोजनों का आकलन कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विस्तारपूर्वक किया है। उस समय मित्र राष्ट्रों का मण्डल बनाने का प्रचलन था।

वैदेशिक नीति में दूत-व्यवस्था का विशेष महत्त्व था। कौटिल्य के अनुसार योग्यता की दृष्टि से तीन प्रकार के दूत होते थे—निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासनहर। परराष्ट्र में गौरवास्पद बनकर अपने राजा का सन्देश लेकर दूत रहता था और वहाँ राजा से उत्तर-प्रत्युत्तर आदि कहने-सुनने का अधिकारी होता था। वह परराष्ट्र के सभी प्रमुख अधिकारियों से मेल-जोल बढ़ाता था और वहाँ के युद्ध-स्थान, युद्ध-प्रतिग्रह तथा अपसार-भूमि की तुलना अपने राज्य की क्रमशः इन्हीं वस्तुओं से करता था। वह दुर्ग और राष्ट्र की लम्बाई-चौड़ाई, बहुमूल्य वस्तुओं के रखने के स्थान तथा आक्रमण करने योग्य स्थानों की परख कर लेता था।

परराष्ट्र के राजा की आज्ञा लेकर ही वह उसकी राजधानी में प्रवेश करता था और अपने राजा का सन्देश सुना देता था, चाहे उसे सुनाने में प्राणों पर ही क्यों न आ बीते। यदि सन्देश सुन कर राजा असन्तुष्ट हो तो उसे चाहिए कि अपने दौत्य-पथ की विकट-पद्धति का परिचय देकर स्वयं अवध्य बन जाए।

यदि परराष्ट्र में दूत का अतिशय आदर होता तो वह फूल कर कुप्पा नहीं होता था। शत्रु की महती शक्ति से वह भीत नहीं होता था। स्त्रियों का संसर्ग या मदिरापान नहीं करता था। अकेले सोता था, क्योंकि सोए हुए या प्रमत्त व्यक्ति के भावों का ज्ञान दूसरों को हो सकता है।

परराष्ट्र में स्वराष्ट्र के गुप्तचर पहले से ही काम करते रहते थे। वे दूत की यथाशक्ति सहायता करते थे, जिससे वह शत्रु राजा के विरोधियों का पूरा परिचय पा सके और समझ सके कि आक्रमण के समय किन स्थितियों का अवलम्बन किया जा

सकता है। वह अन्य साधनों के द्वारा भी युद्ध के समय काम में आने वाली बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेता था। यदि परराष्ट्र का मन्त्री उसे रोक लेता तो वह उन सारी आवश्यक परिस्थितियों को जान लेने की चेष्टा करता था, जिनके कारण वह रोका जा रहा था। आवश्यकता पड़ने पर वह बिना आज्ञा लिए ही चल देता था। प्रेषण (समाचार कह देना), सन्धि की प्रतिष्ठा का परिपालन, प्रताप (रण-सम्बन्धी काल और स्थान की सूचना देना), मित्र-संग्रह, उपजाप (शत्रु-पक्ष में फूट डालना), सुहृद्-भेद (मित्रों को फोड़ना), गूढ़-दण्डातिसरण (मूढ़ सेना को अपने पक्ष में लाना), बन्धु-रत्नापहरण (राजा के बन्धुओं और रत्नों को चुरा लाना), चरज्ञान (गुप्तचरों का परिचय), पराक्रम, समाधिमोक्ष (सन्धि तोड़ना)--ये दूत के काम थे।

कौटिल्य ने राजाओं को दुर्बल बनाने के लिए अथवा अपनी ओर करने के लिए अनेक योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। यथा, धार्मिक राजा की जाति, कुल, श्रुत और आचार की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न कर लेना चाहिए, अथवा उससे निवेदन करना चाहिए कि आप के पूर्वजों का हमारे साथ कितना अच्छा सम्बन्ध था। साम के द्वारा उत्साहहीन, युद्ध में थके हुए, उपाय-रहित, क्षय, व्यय और प्रवास के कारण सन्तप्त राजा को, जो वास्तव में मैत्री चाहता हो और कल्याणमयी बुद्धि वाला हो, अपनी ओर मिला लेना चाहिए। लोभी या क्षीण राजा को दान देकर अपनी ओर मिलाना चाहिए। यदि दो राजा एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते हों तो अवसर पर उन दोनों में भेद डाल देना चाहिए। डरपोक राजाओं को डाँट-फटकार कर अपनी ओर कर लेना चाहिए। एक संघ या मण्डल के राजाओं को आपस में लड़ा देने की नीति भी कौटिल्य ने बतलाई है। शत्रु राजा को अपने गुप्तचरों के द्वारा शस्त्र, अग्नि या विष-प्रयोग से मरवा देना भी अर्थशास्त्र के अनुसार ठीक है। परराष्ट्र से व्यवहार करने में साम, दाम, भेद और दण्ड--इन चार उपायों को कौटिल्य ने क्रमशः एक, दो, तीन और चार गुण वाला माना है। इनका उपयोग आवश्यकतानुसार क्रमशः ही करने की सीख दी गई है।

ऐतिहासिक-युगीन परराष्ट्र-नीति का स्पष्ट परिचय मौर्यकाल से आरम्भ होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य और सेल्यूकस का युद्ध हुआ और युद्ध के अन्त में सन्धि हुई। इस सन्धि के परिणामस्वरूप उन दो राजाओं में मैत्रीभाव उत्पन्न हुआ, उसकी आधारशिला थी वैवाहिक। सेल्यूकस ने अपनी कन्या और राज्य का भाग चन्द्रगुप्त को दे डाला। चन्द्रगुप्त ने ५०० हाथी सेल्यूकस को दिए। इस प्रकार एक बड़ी शत्रुता का अन्त हुआ। सेल्यूकस के द्वारा भेजा हुआ दूत मेगस्थनीज राजसभा में प्रतिष्ठित हुआ। मौर्यों ने विदेशियों की देख-रेख करने के काम में विशेष उदारता का परिचय दिया है। राजा के द्वारा विदेशियों के लिए नियुक्त पदाधिकारियों को देखना पड़ता था कि किसी विदेशी को किसी प्रकार का कष्ट तो कोई नहीं पहुँचा

रहा है। यदि कोई विदेशी रोगी होता तो उसकी चिकित्सा करने के लिए राजा की ओर से वैद्य भेजा जाता था। सब प्रकार से उसकी रक्षा की जाती थी। यदि कोई विदेशी मर जाता तो उसकी अन्त्येष्टि कर दी जाती थी तथा उसकी सम्पत्ति उसके सम्बन्धियों को दे दी जाती थी। विदेशियों से सम्बद्ध वादों का न्याय करने में न्यायाधीश बहुत सावधान होते थे कि उनके प्रति कोई व्यक्ति किसी प्रकार का अन्याय तो नहीं कर रहा है। सीरिया के राजा ने बिन्दुसार की राजसभा के लिए डीमाकस नामक राजदूत भेजा था। प्लीनी के लेखानुसार मिस्र के राजा फिलाडेल्फस टालेमी द्वितीय (२८५ ई० पू० से २४७ ई० पू०) ने डायोनीसियस नामक दूत भेजा था। सीरिया के राजा अन्तिओकस का बिन्दुसार के साथ मैत्रीपूर्ण पत्र-व्यवहार होता था। बिन्दुसार को ग्रीक दार्शनिकों का अतिशय चाव था। एम्बोलस नामक ग्रीक दार्शनिक बिन्दुसार के लिए भेजा गया था।

भारत की वैदेशिक नीति में विशेष महत्वपूर्ण परिवर्तन का समारम्भ अशोक के विश्वसख व्यक्तित्व से आरम्भ होता है। उसने केवल अपनी ही अभिनव विजय पर रोक नहीं लगाई, अपितु अपने पुत्र-पौत्रों को आदेश दिया कि वे नई विजय के चक्कर में न पड़ें। अशोक ने अपनी साम्राज्य-सीमा के पार्श्ववर्ती राजाओं को अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार शत्रु न माना, अपितु उनके साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार की पद्धति अपनाई। ऐसी परिस्थिति में चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी आदि दक्षिण भारतीय प्रदेश तथा भारत के बाहर सीरिया के ग्रीक राजा अन्तिओकस, मिस्र के टालेमी द्वितीय फिलाडेल्फस, काइरीन (उत्तर अफ्रीका) के राजा मगज, मेसीडोनिया के राजा अन्तिगोनस गोनतस और इपिरस के राजा सिकन्दर से उसने सद्भावनाओं का सम्बन्ध प्रतिष्ठित किया। मैत्रीपूर्ण व्यवहार केवल तटस्थता की नीति नहीं थी, अपितु इसके द्वारा विदेशी राजाओं को अशोक ने शान्तिमय प्रगति-पथ का सन्देश दिया और उनके राज्यों में सार्वजनिक अभ्युदय सम्बन्धी योजनाओं को प्रवर्तित किया। यही अशोक की धर्म-विजय थी, जो पूर्ववर्ती राजाओं की दिग्विजय के समकक्ष पड़ती थी। अनेक विदेशी राज्यों में औषधालय और चिकित्सालय अशोक के संरक्षण में खोले गए। अनेक देशों में अशोक का सन्देश लेकर राजदूत पहुँचे।

परवर्ती युग में भी ग्रीक राजाओं के द्वारा दूत भेजने का प्रचलन मिलता है। तक्षशिला के ग्रीक राजा एण्टिअलकाइड का दूत हेलियोडोरस मालवा की राजधानी विदिशा में शुंगवंश के राजा भागभद्र की राजसभा में नियुक्त था। उसका निवास सम्भवतः बहुत समय के लिए हुआ होगा, क्योंकि इस बीच उसकी वैष्णव धर्म में अभिरुचि जागरित हुई और उसने विदिशा में गरुडध्वज की स्थापना

की, जो अब तक विराजमान है। परवर्ती शक-युगीन राजाओं के दूत नियुक्त करने का उल्लेख रुद्रदामन् के शिलालेख में मिलता है।

गुप्तयुग में वैवाहिक सम्बन्धों के द्वारा अनेक बलवान् राजाओं को मित्र बना लेने की नीति का विशेष प्रचलन मिलता है। लिच्छवि राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध के द्वारा गुप्त राजाओं की शक्ति पहले ही बढ़ चुकी थी। गुप्त राजाओं ने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए जिन-जिन राजाओं का सहयोग अपेक्षित समझा, उनसे यथासम्भव वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। समुद्रगुप्त को शक, कुशन तथा अन्य विदेशी राजाओं से कन्योपायन मिला। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने नागवंश की राजकुमारी से विवाह किया। इस विवाह से जो कन्या उत्पन्न हुई, उसका विदर्भ के वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से उसने विवाह कर दिया। तत्कालीन भारत में गुजरात और सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों पर आक्रमण करने वाले गुप्तवंशी राजाओं के लिए वाकाटक राजाओं का सहयोग अपेक्षित था।

गुप्तयुगीन राजाओं से शासन-काल में महासन्धि-विग्रहिक तथा सान्धि-विग्रहिक नामक सचिव का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इनका कार्य-क्षेत्र विदेशी राजाओं से युद्ध या सन्धि सम्बन्धी था और ये युद्ध के समय विजेता के साथ भी जाते थे। विदेशों से राजदूतों का आना पूर्ववत् रहा। समुद्रगुप्त की राजसभा में सिंहलराज के दूत आये थे।

सातवीं शती में चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी की राजसभा में ईरान से राज-दूत आये थे। ह्वेनसाँग ने भारत और चीन को एक दूसरे के निकट सम्पर्क में ला दिया। उसी के प्रभाव से हर्षवर्धन और चीन के महाराज तांग ने एक दूसरे के पास राजदूत भेजे।

आठवीं शती से आरम्भ होने वाले पालवंशी राजाओं को तिब्बत में बौद्ध-धर्म के सुधारने का श्रेय है। तिब्बत और पाल-वंश के राजाओं का मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहा।

भारत के कुछ राजाओं ने दूसरी शती ई० के लगभग से भारत के बाहर विशेष रूप से पूर्वी द्वीपसमूहों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना की है। दूसरी शती से पाँचवीं शती तक मलय, कम्बोडिया, अन्नम, सुमात्रा, जावा, बालि तथा बोर्नियो प्रदेशों में ऐसे उपनिवेश प्रतिष्ठित थे। इण्डोचाइना में चम्पा और कम्बुज नामक दो शक्तिशाली राज्य थे। चम्पा में आधुनिक अन्नम भी सम्मिलित था। चम्पा के ग्यारहवीं शती से तेरहवीं शती तक जय परमेश्वरदेव, ईश्वर मूर्ति, रुद्रवर्मा, हरिवर्मा, महाराजाधिराज श्रीजय, इन्द्रवर्मा जयसिंह वर्मा आदि प्रमुख राजा हुए। उन्होंने चीनी राजाओं के साथ दौत्य-सम्बन्ध रखा। कम्बुज का राज्य पहली या दूसरी

शती में प्रतिष्ठित हुआ था। भारत के असंख्य विद्वान् ब्राह्मण और धर्म के आचार्य इस प्रदेश में जा बसे थे। यहाँ के राजाओं का चीन और भारत के साथ दूत-सम्बन्ध था। जयवर्मा, यशोवर्मा, सूर्यवर्मा आदि कम्बुज राज्य के प्रसिद्ध शासक हुए। पन्द्रहवीं शती में उपर्युक्त दोनों राज्यों का अन्त हो गया।

मलय प्रदेश में आठवीं शती में शैलेन्द्र वर्मा का राज्य प्रतिष्ठित हुआ। इसमें मलय के अतिरिक्त सुमात्रा, जावा, बालि और बोर्नियो भी सम्मिलित थे। भारत और चीन दोनों देशों के राजाओं का शैलेन्द्रवंशी राजाओं के साथ सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध था। शैलेन्द्रवंशी राजा बालपुत्रदेव ने बंगाल के राजा देवपाल के पास दूत भेजा था और उसके माध्यम से प्रार्थना की थी कि मैंने नालन्दा में जो विहार बनवाया है, उसके लिए आप पाँच गाँव दे दें। शैलेन्द्रवंश का अभ्युदय ग्यारहवीं शती तक रहा। ग्यारहवीं शती में भारत के चोलवंशी राजा राजेन्द्र प्रथम ने शैलेन्द्र साम्राज्य का अधिकांश भाग जीत लिया, किन्तु लगभग एक शती के पश्चात् शैलेन्द्रों ने पुनः अपना साम्राज्य पूर्ववत् बना लिया। शैलेन्द्रों ने लंका पर आक्रमण किया, जिसमें उनकी विनाशात्मक क्षति हुई। शैलेन्द्र-वंश के दुर्बल होने पर जावा के भारतीय उपनिवेश को आगे बढ़ने का अवसर मिला। तेरहवीं शती के अन्तिम भाग में महाराज विजय ने तिक्तविल्व को राजधानी बनाकर वहाँ एक नये राजवंश की प्रतिष्ठा की।

भारत के कुछ राजाओं ने पश्चिमी एशिया की भी ओर प्रगति की थी। इनमें से गजसिंह का नाम सुप्रसिद्ध है। वह यदुवंश का राजा था। उसने अकेले ही शाह सिकन्दर रूमी तथा शाह ममरेज को हराया था। उसी के नाम पर परवर्ती युग में गजनी नामक नगर विख्यात हुआ।

ऐसा निश्चित प्रतीत होता है कि भारतीय राजाओं ने प्रायः विदेशों से सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने की चेष्टा की है। निःसन्देह अपने देश के पड़ोसी राजाओं से प्रायः भारतीय राजाओं का शत्रुता का भाव ही रहा है, पर कभी-कभी अपनी सुरक्षा के लिए अनेक राजाओं ने मिलजुलकर संघ या मण्डल बनाये, जिनके द्वारा पारस्परिक भय का अन्त कम-से-कम कुछ समय के लिए हो ही जाता था। वैवाहिक सम्बन्ध के द्वारा परराष्ट्रों को मिला लेने की विधि भी प्रचलित थी, यद्यपि इसका उपयोग अपवाद-रूप से ही होता रहा।

द्वादश अध्याय

शिल्पकला

शिल्पकला का सर्वप्रथम रूप हमें प्रकृति में दृष्टिगोचर होता है। आकाश में रंगीन बादल पशु-पक्षियों की आकृति का प्राकृतिक विन्यास करते हुए मन मोह लेते हैं। पत्रों तथा पुष्पों के रङ्गों में, चलित-कुसुमों के पत्र-पुटों में और मौक्तिक शुक्तियों के रेखाविन्यासों में प्रकृति की चित्रकला नहीं तो और क्या है? पंचभूतों से निर्मित यह संसार स्वयं एक मूर्तिमान् रूप है। नदियों के प्रवाह में पाषाण-खण्ड कभी-कभी आकार धारण कर लेते हैं। क्षुद्र जन्तुओं, पक्षियों तथा कीड़ों के गृह कलापूर्ण होते हैं। सौध-भित्ति पर ज्योत्स्ना-निर्मित वृक्षकों की छाया फोटोग्राफी का पूर्वरूप है।

चित्र

मनुष्य द्वारा निर्मित चित्र दो प्रकार के होते हैं--वनवासियों द्वारा रचित और नागरिकों द्वारा निर्मित। वनवासियों के चित्र प्रागतिहासिक कहे जाते हैं। प्रकृति की मनोरम गोद में बैठे वनवासी अपने समक्ष रमणीय प्रकृति के वैभव को देखकर मन में प्रफुल्लित होकर बिना किसी अन्य प्रेरणा के चित्र के निर्माण में संलग्न हो जाते थे। प्राचीन काल में असंख्य स्थानों पर वनवासियों ने चित्र बनाए, किन्तु कालक्रम से वे प्रायः नष्ट हो गए। पर्वतीय गुफाओं में प्रकृति द्वारा ही सुरक्षित केवल थोड़े से चित्र आजकल प्राप्त होते हैं।

वन्यचित्र

पर्वत-श्रेणियों में वनवासियों द्वारा चित्रित कुछ गुफाएँ प्राप्त हुई हैं। इस प्रकार के चित्रों के पाँच केन्द्र हैं--१. मिर्जापुर जिले में सोनद्रोणी-स्थान, २. मानिकपुर तथा बाँदा जिला, ३. रायगढ़ जिला, सिंघनपुर का पर्वत और काबरा पर्वत, ४. महादेव पर्वत, होशङ्गाबाद और पचमढ़ी, ५. भोपाल की पर्वतमाला

मिर्जापुर जिले में वनैले हाथियों और पक्षियों के शिकार तथा नृत्य-संबंधी चित्र हैं। कहीं-कहीं पर हरिण आदि वन्य पशुओं का चित्रण मनोहर प्रतीत होता है। मलदरिया गुफा में शिकारियों के आक्रमण से घायल तथा परिश्रान्त सूअर और जल में तैरते हुए पक्षियों के चित्र दर्शनीय हैं। विजयगढ़ की गुफा में एक शिकारी और सिंह का चित्रण है। ये चित्र चतुर्थ शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक के हैं। बांदा जिले की सरहत की गुफा में ऐसे तीन अश्वों का चित्रण है, जिन्हें तीन अश्वारोही चला रहें हैं। मालवा गुफा में बैलगाड़ी पर बैठा हुआ एक पुरुष चित्रित किया गया

है। बैलगाड़ी के पीछे दो पुरुष हैं, जिनमें से एक के हाथ में धनुर्बाण तथा दूसरे के हाथ में दण्ड है। कुरियाकुण्ड गुफा में हरिणों के शिकार के चित्र अंकित है।

सिंघनपुर तथा काबरा पर्वत की गुफाओं में मगर, हरिण और गिरगिट आदि के शिकार-संबन्धी चित्र हैं। मनुष्यों की आकृतियाँ डण्डे के समान मोटी रेखाओं के द्वारा बनाई गई हैं। ये चित्र ईसवी शताब्दी से पूर्व के हैं।

चित्रों से अलंकृत लगभग पचास गुफाएँ पचमढ़ी के समीप हैं। इन गुफाओं में शिकार और मधुसंचय के दृश्य, सामूहिक युद्ध, पशुचारण, घास-फूस से ढँके हुए घर और पर्णकुटी में निवास करने वाले मनुष्य चित्र के माध्यम से प्रदर्शित किए गए हैं। हाथी, व्याघ्र, भालू, सूअर, हरिण और मगर भी उन चित्रों में दिखाये गए हैं। कहीं पर बैल, बकरे, कुत्ते आदि पालतू पशु भी चित्रित किए गए हैं। वहीं पर 'अपर डोरोथी' नामक गुफा में बांसुरी बजाते हुए बन्दर का चित्रण विशेष रमणीय है। इन गुफाओं में सबसे अधिक प्राचीन चित्र ईसा से ५०० वर्ष पूर्व के हैं।

भोपाल के निकट ३० मील की परिधि में विन्ध्याचल में बीसों वन्य गुफाओं में चित्र बने हैं। वेतवा नदी के उद्गम के चारों ओर इनका फैलाव है। लगभग १०० गुफायें सचित्र और इतनी ही चित्ररहित हैं। भोपाल से ३० मील दूर होशंगाबाद-सड़क के समीप ४५० चित्रालंकृत गुफायें हैं। ये ८००० से १०,००० वर्ष पुरानी हैं। तबसे लेकर १५ वीं शती ईसवी तक यहाँ चित्र बनते रहे। बिहार के शाहाबाद जिले में कर्मनासा के तट पर तथा वाराणसी के निकट कई सचित्र गुफायें मिलीं हैं, जिनमें मानवाकृति और मृगया के दृश्य हैं। सूर्य, पुष्प और कीटादि भी वहाँ चित्रित हैं।

चित्रण के साधनों में गेरू का प्रयोग अधिकता के साथ किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कतिपय चित्रों में काले रंग के लिए कोयले का प्रयोग किया गया था।

नागर चित्र

नगरों से संबंधित चित्रों का प्रथम प्रत्यक्ष परिचय हमें सिन्धु-सभ्यता-कालीन चित्रों से प्राप्त होता है। सिन्धु-सभ्यता की चित्रशैली पूर्ववर्ती कलाकारों की सतत साधना के परिणाम-स्वरूप विकसित अवस्था में प्राप्त हुई हैं। उस युग की चित्रकला की लोकप्रियता का कारण यह है कि साधारणतः प्रयुक्त होने वाले वस्त्र, पात्र आदि में चित्रों का अंकन किया जाता था।

सिन्धु-सभ्यता-काल में ज्यामिति से संबंधित चित्र तथा रेखाचित्र और पत्र, पुष्प, तारा, पशु-पक्षी आदि के चित्रों का निर्माण किया गया। उनमें पत्रों तथा पुष्पों के मध्य में मयूर आदि पक्षी और मछली, कछुए आदि-जल-जन्तुओं का भी निवेश होता था। प्रायः सभी चलने-फिरने वाले ही प्राणी चित्रित किए गए हैं।

सिन्धु-सभ्यता-काल में चित्र-निर्माण के लिए कूँची का उपयोग होता था। चित्रों में सफेद, लाल, काले, पीले, हरे आदि अनेक रङ्गों का प्रयोग किया गया है।

सिन्धु-सभ्यता के पश्चात् वैदिक युग में भारतीय चित्रकला से विकास का ज्ञान प्राप्त करने का साधन तत्कालीन साहित्य ही है। वैदिक अथवा महाभारत आदि प्राचीन युगों के चित्र आज अप्राप्य हैं।[1] निस्सन्देह वैदिक सभ्यता में चित्रों का प्रचलन था। इसका प्रमाण इन उल्लेखों में मिलता है कि राजसूय-यज्ञ में राजा के ताप्यं नामक वस्त्रों में यज्ञ के विविध रूपों का चित्रण होता था। गायों के कानों पर वीणा, हँसिया, स्तंभ आदि आकृतियों की रचना स्वधिति नामक छुरी द्वारा की जाती थी।

परवर्ती काल के चित्रनिर्माण सम्बन्धी उल्लेख बौद्ध साहित्य में प्राप्त होते है। उम्मग जातक के अनुसार किसी सुरंग में इन्द्र के वैभव, सुमेरु, समुद्र, महाद्वीप, हिमालय, सूर्य, चन्द्र, दिक्पाल तथा तीनों लोकों के चित्र बने थे। बरतनों पर अनेक प्रकार के चित्र बनाए जाते थे। मालाएँ भी चित्रों से अलंकृत होती थीं। चादरों पर पुष्पों और पशुओं के चित्र होते थे। घर की दीवालों पर नर-नारियों के चित्र अङ्कित किए जाते थे।

नाट्यगृहों में चित्रों की रचना की जाती थी। राजभवनों में राजाओं और रानियों के चित्र कलाकारों द्वारा निर्माण किए जाते थे। चित्राचार्य राजकीय वस्त्रों का अलंकरण करते थे।

सिन्धु-सभ्यता के पश्चात् भारतीय चित्र-कला की ऐतिहासिक परम्परा का प्रथम रूप अजन्ता के गुफा-चित्रों में प्राप्त होता है। अजन्ता की नवम तथा दशम गुफा में ई० पू० द्वितीय तथा प्रथम शताब्दी के चित्र हैं। यहीं पर 'छदन्त जातक' की कथा चित्रित की गई है। चित्रकला का द्वितीय रूप हमें अजन्ता की शेष गुफाओं में प्राप्त होता है। चित्र गुप्तकालीन हैं। गुप्तकालीन चित्रकला के अवशेष मध्यप्रदेश की बाघ-गुफाओं, दक्षिण-भारत की बादामी गुफाओं, तंजौर जिले की सित्तनवासल गुफाओं और काञ्चीनगर के शिव-मन्दिर में प्राप्त होते हैं।

---

1. From the references in the early literature of India dealt with in the preceding chapter, it has been already inferred that painting was a developed form of artistic expression previous to the rise of Buddhism, and the character of the most ancient frescoes at Ajanta serves to strengthen this supposition.—**Percy Brown** : *Indian Painting p.* 82. **डेकन-कालेज, पूना के संग्रहालय में मृण्मय पात्रखण्डों पर हरिण और श्वान के चित्र रँगे मिलते हैं। ये १००० से १३०० ई० पू० के हैं।**

अजन्ता के चित्र

अजन्ता की चित्रावली में मानो समस्त संसार ही समाविष्ट है। उनमें समग्र प्राकृतिक तथा मानवीय वस्तुओं तथा समस्त परिस्थितियों की कल्पना साकार की गई है। मनुष्य-जीवन के चतुर्वर्ग का इतिहास चित्रों में संगृहीत है। मोक्ष से सम्बन्धित चित्रों का वहाँ प्रमुख स्थान है।

अजन्ता की चित्रशैली रस और भाव से परिपूर्ण प्रतीत होती है। जैसे—, सोलहवीं गुफा में मरणासन्न राजकुमारी का चित्र करुण-रस की सृष्टि करने में अद्वितीय है। गौतमबुद्ध का समस्त जीवन वहाँ पर चित्रित किया गया है। सत्रहवीं गुफा में यशोधरा द्वारा राहुल का समर्पण चित्रित है। यही उस युग की अद्वितीय कथा थी, क्योंकि कोई भी माता अपने पुत्र के बुद्ध की शरण में पहुँच जाने को सर्वोच्च भाग्योदय समझती थी।

दूसरी, सोलहवीं तथा सत्रहवीं गुफा में गौतम बुद्ध की पद्मपाणि और बोधिसत्त्व क्रम से लेकर परिनिर्वाण-पर्यन्त की कथा विस्तृत रूप में चित्रित की गई है। सत्रहवीं गुफा में सौन्दरनन्द महाकाव्य की कथा चित्रित है।

कुछ चित्र मानवता के समक्ष उदारता का आदर्श प्रतिष्ठित करने के लिए बनाए गए हैं। जैसे—पहली गुफा में स्वर्ण की तराजू पर किसी राजर्षि का मांस कबूतर के बराबर तौला जा रहा है। बोधिसत्त्व की कथा का चित्रण राष्ट्रिय चरित्र के विकास के लिए किया गया है।[1]

अजन्ता की चित्र-शैली सफल प्रतीत होती है। उसके कलाकार मानव-जीवन तथा भारतीय प्रकृति के कुशल अध्येता थे। रस की सृष्टि के लिए तथा विविध भावों का प्रदर्शन करने के लिए उन्होंने आङ्गिक विन्यास तथा विलासों का निपुणता के साथ अभिव्यंजन किया है। वहाँ पर नाट्यशास्त्र में वर्णित मुद्राएँ प्रत्यक्ष दिखाई गई हैं। गुफाओं में केवल धरातल को छोड़कर प्रायः सर्वत्र चित्र-रचना

1. The aim of the Buddhist artist was to visualise the ideals of his creed, to illustrate by pictorial parables all the beautiful sentiments of the Buddhist religion. These were designed to appeal to the higher feelings of the spectator, so that sustained by their supreme charm, the littleness of his own personality vanishes, and he becomes exalted and absorbed. The Buddhist frescoes no doubt attained this object, and by their sheer artistry elevated the individual into the actual realms of the higher beings, thus bringing him to the feet of the Master himself.

—**Percy Brown** : *Indian Painting*. p. 8.

विद्यमान है। दीवाल, स्तम्भ और छत के अधोभागों पर चित्रों की रचना की गई है। छत के अधोभाग वाले चित्रों की सौन्दर्यपूर्ण सजावट अद्भुत है।

अजन्ता के चित्रों की रचना में वृक्षों तथा धातुओं के रसों का प्रयोग किया गया है। चित्राचार्य चित्र-निर्माण से पूर्व भित्ति को समतल बनाकर उस पर वज्रलेप के पालिश द्वारा योग्य पृष्ठभूमि का निर्माण करते थे। चित्र की पूर्वाकृतियाँ काली रेखाओं से बनाई जाती थीं। रंगों का चुनाव भावों के अनुरूप होता था। चित्राचार्यों की तूलिका सर्वत्र सुसंयत दिखाई पड़ती है।

बाघ के चित्र

बाघ के चित्र गुप्तयुग में निर्माण किए गए थे। यद्यपि अजन्ता की गुफाओं के समक्ष बाघ के गुफाभवन अधिक उत्कृष्ट प्रतीत नहीं होते, तो भी बाघ की चित्रशैली पूर्णरूप से परिपक्व प्रतीत होती है। चित्रों में क्यारियों के मध्य लताओं तथा पत्रों के चित्रण का आधिक्य है। लतापत्रों के मध्य कहीं-कहीं पर पशु-पक्षियों तथा पुरुषों के विचरण का चित्रण किया गया है। प्रायः स्थानीय दृश्य तथा आदिवासियों के रूप चित्रों में प्रदर्शित किए गए हैं। बाघ के चित्रों में सर्वोत्तम दृश्य 'हल्लीसक नृत्य' है। इस चित्र में रासलीला के समान अनेक स्त्रियों का समूह किसी पुरुष के नेतृत्व में संगीतमय नाट्य का प्रदर्शन करता है। कहीं-कहीं पर गौतम बुद्ध तथा बोधिसत्त्व के चरित्र-सम्बन्धी चित्र हैं। अन्य स्थानों पर राजकीय यात्रा के प्रसंग में हाथियों तथा अश्वों का सजीव चित्रण किया गया है। निकट ही पाँच अन्य गुफायें गुप्तकालीन मिली हैं, जिनका निर्माण पूरा न हो सका था। उसे जनपद में परमार-युग की कतिपय गुफायें मिली हैं।

बादामी गुफा के चित्र

बादामी की वैष्णव गुफा में शिव और पार्वती के विवाह का चित्र अङ्कित किया गया है। आकृतियों में सुकुमारता तथा रमणीयता विद्यमान है।

सित्तनवासल गुफा के चित्र

इस प्रदेश में जैन-संस्कृति से सम्बन्धित गुफाएँ हैं। वहाँ के नृत्य-चित्र विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। चित्रों में नर्तकियों की हाव-भाव तथा नृत्य सम्बन्धी विविध मुद्राओं का प्रदर्शन किया गया है। एक गुफा में छत के अधोभाग में सरोवर का दृश्य अंकित है, जिसमें सघन कमलों के मध्य हंस, सारस आदि पक्षी तथा मगर, मत्स्य आदि जल-जन्तुओं का चित्रण किया गया है। एक गुफा में सम्भ्रान्त परिवार का चित्रण है।

गुप्तकाल में अनेक राजभवनों, चित्रगृहों और मन्दिरों में चित्रकारों द्वारा असंख्य विषयों से सम्बन्धित चित्र बनाए गए। उनका उल्लेख फाह्यान, ह्वेनसांग आदि के यात्रा-वर्णनों में प्राप्त होता है।

एलोरा के कैलाश मन्दिर में भित्तिचित्र हैं। यहाँ गरुड पर आसीन विष्णु तथा लक्ष्मी का चित्रण सर्वोत्कृष्ट है। यहाँ की चित्रशैली अजन्ता की परवर्ती चित्रशैली के अनुरूप है। इन चित्रों का रचना-काल आठवीं तथा नवीं शताब्दी है।

तञ्जौर के बृहदीश्वर मन्दिर में चोल-राजाओं के द्वारा निर्माण कराये गए ग्यारहवीं शताब्दी के चित्र प्राप्त होते हैं। बारहवीं शताब्दी के दर्शनीय चित्र झाँसी जनपद के मदनपुर के मन्दिर के छत के अधोभाग में हैं।

दसवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी पर्यन्त बङ्गाल राज्य में पाल-राजाओं के आश्रय में लघु आकार वाली चित्रकला का विकास हुआ। ग्यारहवीं से सोलहवीं शताब्दी पर्यन्त पश्चिमीय चित्रकला गुजरात राज्य में विकसित हुई। उन लघु चित्रों का प्रदर्शन हस्तलिखित पुस्तकों के पृष्ठों पर हुआ है। बौद्ध ग्रन्थ 'प्रज्ञापारमिता' की प्रतियों में देवताओं के तत्कालीन सर्वोत्कृष्ट चित्र विद्यमान हैं। आइन-अकबरी के अनुसार सोलहवीं शती में राजाश्रय में चित्रकला का उत्तम विकास हो रहा था।

गुर्जर-शैली के चित्र ताड़पत्र अथवा साधारण पत्रों पर बने हैं। चित्रों की पृष्ठभूमि पहले लाल रंग की बनाई जाती थी। परवर्ती युग में नीले अथवा सुनहले रंग की पृष्ठभूमि का प्रचलन हो गया था। कोणयुक्त मुख, शुक जैसी नाक और प्रस्फुट नेत्र इन चित्रों की विशेषताएँ हैं। चित्रों में आभूषणों का आधिक्य है। चित्र तीन प्रकार के हैं——जैन साहित्य-विषयक, वैष्णव साहित्य-विषयक और लौकिक चित्र। लौकिक चित्रों में वसन्त के विलास का चित्रण सर्वोत्कृष्ट हुआ है। वसन्त को लेकर ७९ छोटे छोटे चित्र कुण्डलित चित्रपट पर बनाए गए हैं। इस प्रकरण में चित्रों के माध्यम से वसन्त के सौन्दर्य तथा प्रकृति के विलास का प्रदर्शन किया गया है।

लोकोपयोगिता

वन्य तथा नागर चित्रों से मनुष्यों के आवास प्रायः सदैव अलंकृत रहते थे। वन्य चित्रों द्वारा दर्शकों को पराक्रम सम्बन्धी प्रोत्साहन प्राप्त होता था। रसिकों के हृदय में चित्र-दर्शन द्वारा सदा रसानुभूति होती थी।

सिन्धु-सभ्यता-काल में वस्त्रों तथा पात्रों पर चित्रों का निर्माण होता था। श्मशान में शव के साथ रखे जाने वाले पात्रों पर तमाल तथा शिरीष आदि वृक्षों के चित्र बनाए जाते थे। सिन्धु सभ्यता की लिपि चित्रमयी थी। लिपिचित्रों में वृक्ष, पत्र, पुष्प, उड़ते हुए पक्षी, तैरती हुई मछलियाँ तथा पशु विद्यमान हैं।

बौद्ध साहित्य से ऐसा प्रतीत होता है कि नागरिकों के व्यावहारिक जीवन में चित्रों की उपयोगिता बढ़ी हुई थी। राजाओं के मनोरंजन के लिए चित्रशालायें होती थीं। राजाओं के रथ भली प्रकार चित्रित किए जाते थे। चित्र-रचना का

प्रयोजन मनोरंजन था। जनसाधारण भी घर की दीवालों को चित्रित करते थे।

महाभारत के अनुसार पताकाएँ रङ्गीन होती थीं। उन पर हाथी, घोड़े, रथ आदि के चित्र बनाए जाते थे। सभा में आसनों की व्यवस्था पक्षियों के रेखाचित्र बनाकर, उनके अनुसार की जाती थी। द्रौपदी के स्वयंवर में शिशुमार की आकृति का अनुसरण करते हुए साधारण लोग आसनों पर बैठे थे।

अजन्ता के चित्रों द्वारा धर्मप्रचार का आयोजन किया गया था, ऐसा हम पहले ही बता चुके हैं। विदेशों में धर्मप्रचार के लिए चित्रों का प्रयोग अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है। राजाओं के रेशमी वस्त्रों पर हंसों के चित्र होते थे। राजभवनों की भित्तियों पर राजाओं के कुटुम्बी-जनों के चित्र होते थे। जैन अथवा बौद्ध भिक्षु अपनी शालाओं को चित्रों से सुसज्जित करते थे।

सातवीं शताब्दी में पुत्र-जन्म के समय धनिकों के घर में षष्ठी देवी का चित्र बनाया जाता था। हल्दी के घोल से भित्ति पर अनेक चित्र बनाए जाते थे। केवल वस्त्रों पर ही नहीं, शरीर के अनेक अङ्गों पर भी चित्रों का निर्माण करने का प्रचलन था। जैसे गाल पर केशर के घोल से पत्र-लता और स्तनों पर कालागुरु के घोल से पत्र और पुष्पों की रचना स्त्रियों द्वारा की जाती थी। राजभवनों के भित्तिचित्रों के द्वारा विश्व के रूप का परिचय देने की कल्पना की गई थी। विवाह के अवसर पर मिट्टी के पात्रों पर पत्र, लता आदि बनाए जाते थे। विवाह में स्वयंवर के लिए नायक तथा नायिका के चित्रों का निर्माण होता था। कल्हण के अनुसार वस्त्रों पर चित्र बनाने का प्रचलन कश्मीर में था।[1]

चक्रवर्ती सम्राटों के अभिषेक के समय सिंहासन पर जो व्याघ्रचर्म बिछाया जाता था, उस पर समस्त द्वीपों से युक्त पृथ्वी का चित्रण होता था।

चित्रशैली

विविध उपयोगों की दृष्टि से उनके अनुरूप कलाकारों ने चित्रकला की अनेक शैलियों का विकास किया है। चित्र के छः अंग बताए गए हैं—(१) रूपभेद, (२) प्रमाण, (३) भाव, (४) लावण्ययोजन, (५) सादृश्य और (६) वर्णिकाभंग।

प्रदर्शनीय वस्तु का सर्वाङ्गीण अध्ययन रूपभेद है। वस्तु के आकार-प्रकार का ज्ञान प्रमाण है। चित्र द्वारा अभिव्यक्त किए जाने वाले रस और भाव, भाव हैं। चित्र में कलात्मक सौन्दर्य का प्रवेश लावण्ययोजन है। सामान्य गुणों से युक्त होना सादृश्य है। रङ्गों का भरना वर्णिका-भङ्ग है।

चित्रलक्षण को लेकर अनेक विषयों के चित्रण के लिए आवश्यक माप तथा रूपों की विशेषता आदि के परिचायक सिद्धांतों की विवेचना की गई है।

१. राजतरंगिणी ७·१५७५

विदेशों में प्रसार

बौद्ध धर्म के साथ भारतीय चित्रकला का विदेशों में प्रसार हुआ। लङ्का, स्याम, बर्मा, नेपाल, खोतान, तिब्बत, जापान, चीन आदि देशों की चित्रकला भारतीय शैली से प्रभावित है। चित्र के माध्यम से धर्म के शिक्षण की पद्धति प्रचलित थी। उसके लिए कुण्डलीकृत अनेक चित्रों का प्रयोग होता था। ३७ ई० में काश्यप नाम का विद्वान् चीन के राजा मिङ्गती के अनुरोध पर धार्मिक चित्रों के साथ चीन गया था। तब से लेकर सप्तम शताब्दी पर्यन्त असंख्य भारतीय चित्र चीन भेजे गए। चीन देश के भित्तिचित्रों की शैली भारत के अनुरूप प्रतीत होती है। भारतीय चित्र-कलाकार धर्म-प्रचार के लिए चीन गए थे। जापान के होंरिउजी मन्दिर के चित्र अजन्ता चित्र-शैली पर आधारित प्रतीत होते हैं।

पूर्वी तुर्किस्तान के खोतान प्रदेश में ईसा के प्रारम्भिक युग में भारतीय चित्रकला का प्रसार हुआ। वहाँ पर, रेशमी वस्त्रों तथा भित्तियों पर अष्टम शताब्दी में बनाए गए चित्र अजन्ता के चित्रों के समान मालूम होते हैं। दन्दन-उकिल नामक स्थान के चित्र ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो वे किसी अजन्ता के चित्रकार के द्वारा बनाए गये हों।

मूर्तिकला

भारतीय मूर्तियों का प्रथम परिचय सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त होता है। सिन्धु-सभ्यता-काल में अनेक शैलियों वाली मूर्तियों की रचना की गई। तब से लेकर प्रायः दो सहस्र वर्षों में जिन मूर्तियों का निर्माण हुआ, उनका उल्लेख मात्र साहित्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है। उनके अवशेष अप्राप्त हैं। मौर्यकाल से मूर्तियों के पुनः दर्शन होने लगते हैं।

सिन्धु-सभ्यता की मूर्तियाँ

सिन्धु-सभ्यता-काल में प्रायः चार प्रकार की मूर्तियों का निर्माण होता था—शिलाखण्डों के तक्षण से, धातुओं को गला कर, ठोक-पीट कर और हाथ से मिट्टी के द्वारा।

सिन्धु-सभ्यता की ध्यानावस्थित योगी की मूर्ति प्रसिद्ध है। वह प्रस्तरमूर्ति, कला की दृष्टि से अद्वितीय मानी गई है। इस मूर्ति में योगी के अङ्गों की बनावट और वस्त्रों आदि की सजावट यथार्थ रूप में व्यक्त हुई है। मूर्ति में धातु का जड़ाव भी है। मूर्ति के वस्त्रों पर बनाए गए त्रिपत्र लाल रंग से भर दिए गए हैं।

लाल पत्थर से बनी हुई एक दूसरी मानव-मूर्ति, कला की दृष्टि से सर्वोत्तम है। इसका केवल धड़-भाग अवशिष्ट है। इस मूर्ति की आकृति स्वाभाविक है। इसमें अङ्गों की सुन्दरता कुशलतापूर्वक प्रदर्शित की गई है। नर्तकी की काँसे की मूर्ति में नृत्य-मुद्रा दिखाई गई है। उसमें नृत्य के हाव-भाव वर्तमान हैं। नर्तकियों की मिट्टी तथा पाषाण की भी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

सिन्धु-सभ्यता-कालीन मूर्तिकला की शैली यथार्थ-शैली के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में मूर्तियों के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति लोगों का प्रधान उद्देश्य नहीं थी। कला का भावों की ओर उन्मुख होना वैदिक कवियों की प्रमुख प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। वैदिक-युग के कवियों ने प्रायः यथार्थता को छोड़कर व्यञ्जना का आश्रय लिया है।

वैदिक मूर्तियां

भारतीय कला की व्यञ्जकता का आदिस्रोत वैदिक संस्कृति में प्रवाहित दिखाई पड़ता है। भारतीय कलाओं में कल्पना की जो प्रधानता प्रतीत होती है, उसका आविर्भाव ऋषियों की अलौकिक प्रतिभा से हुआ। जैसे--अग्नि का सहस्राक्ष होना, पुरुष का सहस्रशीर्ष तथा उषा का स्त्री रूप होना। उपनिषदों में यथार्थता की की उपेक्षा करके और व्यञ्जना का आश्रय लेकर दार्शनिकों ने समस्त विश्व को ब्रह्म कहा है। इसी नीति से विष्णु का चार भुजाओं वाला होना तथा शिव का तीन नेत्रों वाला होना सिद्ध होता है।

ऋग्वेद में रुद्र के निष्क के विश्वरूप होने का उल्लेख है। उस पर नाना रूप निर्मित थे।[1]

वैदिक काल की मूर्तियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं। उनका साहित्य में प्राप्त वर्णन-मात्र ही तत्कालीन कला की प्रगति को सूचित करता है। उस युग में सुवर्ण तथा मिट्टी की मानव-मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार भारती, इडा और सरस्वती देवियाँ पूज्य मानी गई हैं। पूजा के निमित्त उनकी सुवर्ण की सुन्दर प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार हाथी की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं।[2]

स्त्री-कलाकारों के द्वारा सुवर्ण से नवीन तथा सुन्दर रूप का निर्माण किया जाता था।

ऐतिहासिक मूर्तियाँ

ऐतिहासिक मूर्तियों का प्रारम्भ मौर्य-काल से होता है। अशोक-स्तम्भों के

---

१. अर्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्। ऋ० ३-३३-६

२. ऐ० ब्रा० ६:५:१

शिखरों पर स्थित पशुग्रों की मूर्तियों में मौर्य-युग की सर्वोच्च कला के दर्शन होते हैं। उनमें भी सारनाथ की पशुमूर्तियाँ सर्वोत्तम हैं। इस स्तम्भ के शिखर पर धर्मचक्र बना हुग्रा है। यह धर्मचक्र, चारों दिशाग्रों के ग्रवलोकन में संलग्न चार सिंहों के ऊपर ग्राधारित है। धर्मचक्र की सर्वोच्च प्रतिष्ठा इस बात को ध्वनित करती है कि धर्म लौकिक शक्ति ग्रौर ऐश्वर्य का नियन्त्रण करने वाला है। सिंहों के नीचे पार्श्वभाग में चारों ग्रोर क्रमशः सिंह, हाथी, बैल ग्रौर ग्रश्व की पराक्रम-सूचक मूर्तियाँ हैं। प्रत्येक मूर्ति के साथ एक धर्मचक्र भी बनाया गया है।

उपर्युक्त ग्रशोककालीन मूर्तिकला की सर्वोत्कृष्टता प्रसिद्ध ही है। मूर्तियों में ग्रोजस्विता के साथ स्वाभाविकता का ग्रपूर्व संयोग दर्शनीय है। ऐसे स्तम्भ दिल्ली, प्रयाग, रामपुरवा, लौरियानन्दन गढ़ ग्रौर साँची में विद्यमान हैं। स्तम्भों पर मानवता को सन्देश देने वाले उत्कीर्ण लेख हैं।

मौर्यकालीन मानव-मूर्तियों का परिचय यक्ष की प्रतिमाग्रों से प्राप्त होता है। इस युग की यक्ष कीं प्रधान मूर्तियाँ मथुरा जिले में परखम तथा पटना से प्राप्त हुई हैं। एक यक्षिणी की मूर्ति दीदारगंज में मिली है। यक्षों की समस्त मूर्तियाँ ग्रत्यन्त विशाल हैं। उन मूर्तियों में भावों की ग्रभिव्यक्ति का प्रायः ग्रभाव है। परवर्ती युग में निर्मित बुद्ध ग्रौर बोधिसत्त्व की मूर्तियाँ यक्ष-शैली का ग्रनुकरण करके बनाई गई हैं।

इसके पश्चात् ईसा से २०० वर्ष पूर्व भरहुत ग्रौर साँची के स्तूपों से संबंधित प्राकार, वेदिका ग्रौर तोरणों में ग्रसंख्य लघु मूर्तियों का निर्माण हुग्रा। वहाँ तत्कालीन सामाजिक जीवन के दृश्य ग्रङ्कित हैं; जैसे—मनोरञ्जन, सामाजिक उत्सव युद्ध तथा हास्य ग्रादि के दृश्य ग्रौर जातक कथाएँ। दृश्यों को सुसज्जित करने के लिए पशु, पक्षी वृक्ष, लता ग्रादि का तक्षण ग्रलङ्कार के लिए हैं। भरहुत में वट वृक्ष के नीचे किसी ऋषि के ग्रध्यापन का दृश्य उत्कीर्ण है। ऋषि सस्वर वेदपाठ करा रहा है, जो उसकी ग्रंगुलियों के संकेत से ज्ञात होता है। ब्रह्मचारियों की जटा, मुख-मुद्रा और वेशभूषा सभी यथार्थरूप में उत्कीर्ण हैं। इस दृश्य के नीचे लिखा है कि —'दीर्घतपस्वी ऋषि शिष्यों को उपदेश दे रहे हैं।' साँची की मानव-मूर्तियों में ग्रङ्गसंबंधी विशेष सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। ग्रन्यत्र श्रीलक्ष्मी, गजलक्ष्मी ग्रौर मातृ-देवी की मूर्तियाँ बनाई गई हैं।

साँची, भरहुत, बोधगया ग्रादि स्थानों की प्राचीन मूर्तियों के मध्य बुद्धचरित्र के प्रसंग में भी बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण नहीं किया गया। जैसे बुद्ध के जन्म सम्बन्धी दृश्य में बुद्ध की माता तो वहाँ है, किन्तु बुद्ध नहीं हैं। गृह-त्याग सम्बन्धी दृश्य में ग्रश्व वृक्ष के नीचे खड़ा है, देवता ग्रश्व के चरणों को पकड़े हुए हैं, किन्तु वहाँ

भी बुद्ध नहीं है। धर्मचक्र-प्रवर्तन संबंधी दृश्य में गौतम की अभिव्यक्ति रिक्त आसन तथा धर्मचक्र से की गई है। इन दृश्यों में गौतम के अभाव में भी वहाँ का वातावरण उनके व्यक्तित्व से परिव्याप्त दिखाई पड़ता है।

सातवाहन मूर्तिकला

कृष्णा नदी के तटवर्ती प्रदेशों में अमरावती, जगय्यपेत, नागार्जुनिकोण्ड आदि स्थानों में स्तूपों की रचना ई० पू० प्रथम शताब्दी के लगभग हुई। उन स्थानों में पाषाण-पट्टों पर जो मूर्तियाँ अंकित हैं, वे सभी अमरावती कलाकेन्द्र के अन्तर्गत मानी जाती हैं। अमरावती में साँची, भरहुत आदि स्थानों की अपेक्षा अधिक मनोरम भावों को अभिव्यक्त करने वाली तथा सौष्ठवपूर्ण मूर्तिकला के दर्शन होते हैं। लता और वृक्षों की, विशेषतः कमलों की बनावट मनोरंजक है। कहीं-कहीं पर बुद्ध की मूर्ति के साक्षात् दर्शन होते हैं, किन्तु प्रायः बुद्ध की अभिव्यक्ति प्रतीकों के द्वारा की गई है। नागार्जुनिकोण्ड में गौतम के गृह-परित्याग का दृश्य उस युग की एक अनुपम रचना है। सातवाहन-कला का प्रभाव गुप्तकालीन कला के ऊपर दृष्टिगोचर होता है।

ई० पू० प्रथम शताब्दी की मुद्राएँ अहिच्छत्रा में प्राप्त हुई हैं। उन मुद्राओं में विष्णु, सूर्य, इन्द्र, पृथ्वी, फल्गुनी और प्रजापति की आकृतियाँ हैं। इस युग में विष्णु की मूर्तियों का विशेष महत्व था। तत्कालीन कलात्मक प्रवृत्तियों का स्मारक, गरुडध्वज-स्तम्भ आज भी विदिशा में प्रतिष्ठित है।

आन्ध्रवंशी राजा मूर्तिकला के अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील रहते थे। उनके शासन-काल में कार्ले, कन्हेरी, भाजा आदि स्थानों में गुफाएँ बनाई गईं। उन गुफाओं में सजावट के लिए अनेक प्रकार की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गईं। जैसे वहाँ चैत्यगृहों के द्वारों पर स्त्री-पुरुषों की विशाल मूर्तियाँ हैं। कार्ले चैत्य की भीतरी दीवालों पर हाथियों की पूर्ण आकार वाली मूर्तियाँ हैं। हाथियों के ऊपर नृत्य करते हुए दम्पतियों के कलात्मक चित्र विद्यमान हैं। चैत्यों के स्तम्भों पर घुटनों के बल झुके हुए हाथी, अश्व, व्याघ्र, चीता आदि की मूर्तियाँ बनी हैं। कहीं-कहीं पर तपस्वियों की भी मूर्तियों बनाई गई हैं।

गुफाओं में आठ भुजाओं वाले स्तम्भों के ऊपर हाथी, बैल तथा अश्व की मूर्तियाँ कन्हेरी-गुफाओं में दो सिंह-स्तम्भ, भाजा-गुफाओं में देवयात्रा और वेडसा-गुफाओं में स्तम्भों के ऊपर हाथी, अश्व आदि की मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं।

कुशनयुगीन मूर्तिकला

ईसवी शती के प्रारम्भ से ही ब्राह्मण, जैन, बौद्ध आदि संस्कृतियों के उन्नायक देवता तथा मनुष्यों की मूर्तियाँ अधिकता से प्राप्त होती हैं। मूर्तियों की सजावट

के लिए अनेक प्रकार के सुन्दर दृश्य बनाए गए है। इस कला का सर्वप्रथम विकास पश्चिमोत्तर भारत में गान्धार केन्द्र और तक्षशिला केन्द्र में तथा उत्तर भारत में मथुरा केन्द्र में हुआ ।

गान्धार कला-केन्द्र

उस युग में गान्धार-राज्य की संस्कृति विदेशी अथवा यूनानी थी। तब से लेकर ६०० ईसवी पर्यन्त अफगानिस्तान और भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त में गान्धार-कला का प्रसार हुआ। मूर्तियों में शारीरिक सौन्दर्य-निष्ठा गान्धार-कला की विशेषता है। उनमें आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत न्यून ही है। गान्धार में वस्तुओं का यथार्थ तथा नयनाभिराम स्वरूप उपस्थित करना मूर्तिकारों का प्रधान लक्ष्य था, किन्तु भारतीय मूर्तियों का निर्माण कलाकारों की प्रतिभा का अभिनव विकास प्रदर्शित करने के लिए होता है। मूर्ति में यथार्थता की अपेक्षा भावों तथा रसों की अभिव्यक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण मानी गई है। भारतीय मूर्तिशैली व्यञ्जनात्मक है।

गान्धार कलाकेन्द्र में सबसे पहले ग्रीक मूर्तिकारों ने गौतम बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण किया। पाषाण-फलकों पर गौतम बुद्ध और बोधिसत्त्व के चरित्र उत्कीर्ण किए गए। बुद्ध की मूर्ति में दाढ़ी-मूंछ तथा विदेशी वेश-भूषा प्रदर्शित की गई।

भारतीय मूर्तिशैली का विकास उत्तर भारत में मथुरा केन्द्र से हुआ। मथुरा में गौतम और बोधिसत्त्व की मूर्ति का निर्माण हुआ। वे मूर्तियाँ गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व के अनुरूप भव्य तथा, ध्यानस्थित अनेक मुद्राओं को अभिव्यक्ति करती, हैं। मूर्तियों का निर्माण प्रायः पूजा के निमित्त होता था। अतः उन मूर्तियों से तत्कालीन समाज की भक्ति-भावना अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार भक्ति के प्रवाह में स्नात मूर्तिकला और भी अधिक शुद्ध हो गई। बुद्ध की मूर्तियों में पगड़ी, लम्बे कान, ऊर्णा, चक्र आदि महापुरुषों के लक्षण विद्यमान हैं।

मथुरा केन्द्र का प्रभाव समग्र उत्तर भारत में दिखाई पड़ता है। मथुरा में निमित मूर्तियाँ आदर्श मानी गईं और सुदूर स्थानों में भी उनकी प्रतिष्ठा हुई। मथुरा में बनाई गई मूर्तियाँ आज भी सारनाथ, कौशाम्बी, श्रावस्ती और साँची में पाई जाती हैं। इन मूर्तियों के अनुकरण पर और भी बहुत-सी मूर्तियाँ उपर्युक्त स्थानों पर बनीं। सारनाथ वाली मथुरा की मूर्ति लाल पाषाण की बनी है। इस मूर्ति में बुद्ध की वेशभूषा का रेखाओं के द्वारा अङ्कन प्राप्त होता है। बुद्ध के मस्तक के पीछे प्रभामण्डल को द्योतित करने वाला पाषाणफलक विद्यमान है।

मथुरा कला-केन्द्र की मूर्तियों की अङ्गरचना सपाट है। सारनाथ कला-केन्द्र की तत्कालीन मूर्तियों में गोलाई, कोमलता और कमनीयता दिखाई गई है। मूर्ति के

हाथों और पैरों का परिमाण वास्तविक है। मूर्ति में वस्त्रों की बनावट इस विधि से की गई है कि वे पहने हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार अङ्गों की सुन्दरता प्रत्यक्ष झलकती है। गौतम की मूर्ति तीन वस्त्रों से आवृत्त है।

बोधिसत्त्व की वेशभूषा गृहस्थों जैसी दिखाई पड़ती है। कहीं-कहीं पर जातक-कथाएँ उत्कीर्ण हैं। क्षान्तिवाद नामक जातक की बनावट विशेष मनोहर है। गौतमबुद्ध की जीवनचर्या के आठ प्रमुख वृत्तान्त सारनाथ-कला की विशेषता है।[1]

सप्तम शताब्दी तक सारनाथ कलाकेन्द्र विकास की ओर उन्मुख रहा। इसके बाद वहाँ की कलाशैली में शिथिलता आ गई।

गुप्तकालीन मूर्तिकला

कुशनकालीन मूर्तियों में प्रभावोत्पादन के लिए विशालता और स्थूलता होती थी। गुप्तकाल में सौन्दर्य की सृष्टि के लिए मूर्तियों में कृशता, सूक्ष्मता और मधुरता विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। मूर्तियाँ रमणीय तथा सरस प्रतीत होती हैं। तीर्थंकर, बुद्ध, बोधिसत्त्व, शिव और विष्णु इस युग के आराध्य देव थे। उनकी महिमा के अनुरूप मूर्तिकला का विकास हुआ।

चतुर्थ शताब्दी में, उत्तर भारत में मथुरा कलाकेन्द्र के अनुरूप मूर्तियाँ कसिया, बोधगया,[2] सारनाथ आदि स्थानों पर बनीं। इस युग की सबसे प्रथम मूर्ति, बोधिसत्त्व की प्रतिमा, बोधगया में प्राप्त हुई है। त्रिनेत्र शिव की कुछ अन्य मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों की अगंरचना सुसंयत और सौन्दर्यपूर्ण है।

सारनाथ कलाकेन्द्र की मूर्तियाँ बुद्ध, बोधिसत्त्व और कार्तिकेय आदि पौराणिक देवताओं की हैं। इन मूर्तियों में मनोभाव तथा आध्यात्मिक वृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए नेत्र, हाथ, पैर और सिर की अनेक मुद्राएँ प्रदर्शित की गई हैं। इस प्रकार अन्तः तथा बाह्य, दोनों की एकता को प्रकट करने का प्रयास सफल हुआ है। सारनाथ की धर्मचक्र-प्रवर्तन वाली गौतम की मूर्ति इस विशेषता का प्रतिनिधित्व करती है। इस मूर्ति में गौतम ध्यानावस्थित आसन में बैठे हुए हैं। उनके हाथ अभय तथा शान्ति की अभिव्यक्ति करते हुए नाभि से ऊपर स्थित हैं। उनके पैर पद्मासन की मुद्रा में

१. आठ वृत्तान्त हैं १—जन्म, २—काम-प्रलोभन, ३—धर्मचक्र-प्रवर्तन, ४—महापरिनिर्वाण, ५—स्वर्गावतरण, ६—परिलेय्यक में गौतम बुद्ध को बानर द्वारा उपवास के अनन्तर भोजन देना, ७—नाडागिरि हाथी को वशीभूत करना, ८—एक ही समय में अनेक स्थानों पर धर्मोपदेश।

२. बोधगया कलाकेन्द्र से मूर्तियाँ हाथी की पीठ पर रखकर कश्मीर पहुंचाई गई थीं। राजतरंगिणी ४.२५९।

हैं। उनके समीप उनके प्रथम पाँच शिष्य स्थित हैं, जिनके समक्ष धर्मचक्र-प्रवर्तन किया गया था। सारनाथ कला-केन्द्र का प्रभाव सारनाथ संग्रहालय की लोकेश्वर शिव की मूर्ति, नागोद जिले के खोह नामक स्थान की एकमुख वाली लिङ्गमूर्ति, बेसनगर की मकर पर बैठी हुई गङ्गा की मूर्ति, भूमरा की महिषमर्दिनी दुर्गा और शिव की मूर्ति तथा देवगढ़ की शेषशायी विष्णु की मूर्ति में दिखाई पड़ता है।

झाँसी जिले में बेतवा नदी के तट पर दशावतार मन्दिर के द्वार के ऊपर लता-पत्र आदि की सजावट और उसके समीप स्थित स्तम्भों में द्वारपाल, प्रमथ-दम्पति और मंगल-कलश आदि की बनावट अत्यन्त मनोरम है। स्तम्भों पर गंगा और यमुना का तक्षण उसी समय से विशेष रूप से प्रचलित हुआ। मन्दिर की दीवालों पर बाहर की ओर नर और नारायण की तपस्या, शेषनाग के ऊपर विष्णु का शयन तथा गजेन्द्रोद्धार के मनोरम दृश्य अंकित हैं। यहीं देवकी द्वारा वसुदेव के शिशु-समर्पण का दृश्य प्रस्तुत किया गया है। वहाँ की समस्त मूर्तियों में आध्यात्मिकता, अंगों की सुन्दरता और भावों की अभिव्यक्ति लोकोत्तर हैं।

पंचम शती में विदिशा के निकट उदयगिरि की पाँचवीं गुफा में वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार का मूर्त दृश्य है। उस युग की कलाकृतियों में यह अनुपम है। इस दृश्य में वराह का शरीर मानव के समान और सिर शूकर के समान है। वराह का बायाँ पैर शेषनाग के मण्डल के ऊपर स्थित है। वराह के शरीर की बनावट द्वारा उसकी स्फूर्ति, कर्मण्यता और बलशालिता प्रगट होती हैं। वराह, अपनी दक्षिण दाढ़ से नारी-आकार वाली पृथ्वी को ऊपर उठा रहे हैं। गुफा के भित्तितल पर समुद्र की अभिव्यक्ति लहरों से युक्त तरंगित रेखाओं द्वारा की गई है। वराह की बाईं ओर अप्सराएँ और दाहिनी ओर ब्रह्मा, शिव आदि देवताओं की चार श्रेणियाँ हैं। असुर और ऋषि दर्शक के रूप में उपस्थित हैं। दूसरी ओर गंगा और यमुना के अवतरण का दृश्य उत्कीर्ण है। नदी में वराह के अभिषेक के निमित्त दो हाथों में कलश उपस्थित हैं। वरुणदेव भी हाथ में कलश लेकर जानुपर्यन्त जल में खड़े हैं। इस मूर्ति के दर्शन से लोक-कल्याण की भावना उत्पन्न होती है। सभी ओर समरसता और सहानुभूति की अभिव्यक्ति होती है।

प्राच्य मूर्तिकला

पूर्व देश, बंगाल आदि की मूर्तियों के द्वारा आध्यात्मिक भावना की अभिव्यक्ति सफलतापूर्वक की गई है। वहाँ पर मूर्तियों का स्वरूप सरस रूप में प्रदर्शित किया गया है। मूर्तियों की विशालता विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करती हैं।[1] नालन्दा

---

१. ऐसी मूर्तियाँ नालन्दा और सुल्तानगंज में प्राप्त होती हैं। ह्वेनसांग ने लिखा है कि नालन्दा में बुद्ध की २५३ हाथ ऊँची मूर्ति थी। सुल्तानगंज में प्राप्त मूर्ति ५ हाथ ऊँची है।

और सुल्तानगंज की मूर्तियाँ मथुरा कलाकेन्द्र के परिधान से युक्त प्रदर्शित की गई हैं। दहपर्वतिया नामक ग्राम में प्राप्त गंगा और यमुना की मूर्तियों का परिधान सारनाथ कला-केन्द्र के समान है। नालन्दा में एक मन्दिर की दीवाल के शिलापट्टों पर कालिदास के नाटकों और काव्यों के दृश्य उत्कीर्ण हैं। इनमें से प्रसिद्ध हैं (१) राजा का चित्राङ्कन (२) भरत की सिंहदन्त-गणना (३) यक्ष-पत्नी का मयूर नचाना। यह कला छठीं शती की है।

दाक्षिणात्य की मूर्तिकला

गुप्तकाल में छठी शती में एहोल नामक स्थान के शिलापट्टों पर अनन्तविष्णु-प्रमुख देवताओं की मूर्तियों में अङ्गों की सुन्दरता, सन्तुलन और प्रशान्ति स्पष्ट रूप से झलकती हैं। यद्यपि उनमें आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति का प्रायः अभाव है तो भी अङ्गों में सुकुमारता अवश्य है। तत्कालीन कन्हेरी, अजन्ता आदि की मूर्तियों में रस-भाव आदि की अभिव्यक्ति नहीं प्रतीत होती। मूर्तियों से बलशालिता की अभिव्यक्ति होती है।

दक्षिण भारत में छठीं शती में बादामी, पारेल आदि स्थानों पर पूर्ववर्ती कार्ले, भाजा आदि स्थानों की मूर्तिकला का विकास दिखाई पड़ता है। पारेल में शिलापट्टों पर विशाल मूर्तियाँ अंकित की गई हैं। मूर्तियाँ ध्यानमुद्रा में बैठी हुई हैं। उन मूर्तियों से ओजस्विता और समाधि की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से होती है। बादामी गुफाओं की मूर्तियाँ पारेल के समान सुन्दर शारीरिक बनावट, शक्ति और गरिमा व्यक्त करती हैं। उस युग की कार्यपरायणता मूर्तियों में व्यक्त होती है।

गुप्तकालीन मूर्तिकला का विकास सप्तम शती तक हुआ। इसके पश्चात् गुप्तकालीन प्रतिमा की अवनति प्रारंभ होती है। उत्तर भारत में, सारनाथ और नालन्दा में मूर्तियों का निर्माण पहले के समान चलता रहा। इन नवीन मूर्तियों में जीवन की क्रियात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होती। इनमें कलात्मक स्पन्दन का प्रायः अभाव है। गुप्तकालीन कला की ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति का आभास साधारणतः समस्त मूर्तियों में दिखाई पड़ता है, तो भी कहीं-कहीं पर कुछ ऐसी विशिष्ट मूर्तियों का निर्माण हुआ, जिनसे गुप्तकालीन मूर्तिकला की श्रेष्ठता अवश्य प्रतीत होती है; जैसे पहाड़पुर की कृष्णलीला सम्बन्धी मूर्तियाँ। इन मूर्तियों में राधा और कृष्ण का प्रेमालाप तथा धेनुकवध दर्शनीय हैं। मालवप्रदेश के साँची स्थान की अवलोकितेश्वर की मूर्ति अत्यन्त सुन्दर है। दक्षिण भारत में अवनतिकालीन मूर्तिकला के केन्द्र एलौरा (वेरूल), पट्टडकल, औरंगाबाद और धारापुरी (एलिफँण्टा) आदि स्थानों में थे।

एलोरा की कतिपय पूर्ण मानवाकार मूर्तियाँ मनोहर हैं। यहाँ का वह दृश्य अपूर्व प्रतीत होता है, जिसमें पार्वती और महेश्वर से सुशोभित कैलास को रावण हिला रहा है।

पूर्वोक्त काल की पल्लव कला-केन्द्र की मूर्तियाँ पट्टडकल, महाबलिपुर, कांचीपुर आदि स्थानों में विद्यमान हैं। इस केन्द्र की विशेषता शारीरिक कृशता और सुकुमारता है। मूर्तियों से भावों की अभिव्यक्ति होती है। पट्टडकल के विरूपाक्ष मन्दिर में अनुपम दार्शनिकता की अभिव्यक्ति होती है। विरूपाक्ष की मूर्ति मानवता के लिए, विश्व के एकता-रूप दिव्य संदेश को प्रस्तुत करती हुई प्रतीत होती है। शिव-मन्दिर के समक्ष ब्रह्मा की मूर्ति है। उसी के समीप शिव के वाहन नन्दी की मूर्ति है।

भारतीय मूर्तियों में ओजस्विता, विशालता और अध्यवसायिता की अभिव्यक्ति का सर्वोच्च विकास एलिफैण्टा की मूर्तियों में दिखाई पड़ता है। वहाँ की कुछ मूर्तियों में तप से उत्पन्न शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। शिव की त्रिमूर्ति, ताण्डवनृत्य और पार्वतीविवाह की मूर्तियाँ विशेष मनोरम तथा प्रभावशाली हैं। वहाँ की मूर्तिकला सफल रही है।

सप्तम शती में पल्लव-कलाकेन्द्र के अन्तर्गत महाबलिपुर की मूर्तिकला समस्त भारतीय मूर्तिकला के सर्वोच्च गुणों का प्रतिनिधित्व करती है। कला की समस्त पूर्ववर्ती अनुभूतियों और प्रेरणाओं का समाहार दिखाई पड़ता है। वहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य के मध्य गंगावतरण का दृश्य अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। स्वर्ग तथा मानव-लोक की असंख्य, लौकिक और अलौकिक सुन्दर वस्तुओं का संग्रह मूर्ति के माध्यम से किया गया है। गंगातट के दृश्य विशेष रूप से रमणीय तथा प्राकृतिक सौन्दर्य-सम्पन्न हैं। पशुओं की मूर्तियाँ सजीव हैं। गंगावतरण का यह दृश्य ६५×२८ वर्ग हाथ विस्तृत शिलापट्ट पर अंकित किया गया है। तपस्वी भगीरथ का शरीर तप से अत्यन्त कृश है। भगीरथ के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए देवता और पशु भी तपस्या में संलग्न दिखायें गए हैं। यह दृश्य मानव-हृदय को तपस्या के लिए सहसा प्रोत्साहित करता है। चारों ओर उदारता का वातवरण प्रस्तुत है।

महाबलिपुर में समुद्र के निकट पर्वत को काटकर सात मन्दिरों का निर्माण किया गया है। वहाँ महिष-मण्डल में शेषशायी विष्णु की मूर्ति है। निकट ही महिषासुर से युद्ध करती हुई दुर्गा की मूर्ति है। कृष्ण-गुफा में कृष्ण का गोवर्धन-धारण और गोदोहन प्रदर्शित किया गया है। अष्टम शती के काञ्चीपुर के कैलास मन्दिर की मूर्तियाँ महाबलिपुर के अनुरूप हैं।

परवर्ती कला

परवर्ती युग में नवम शती से लेकर भारतीय मूर्तिकला का कोई विशेष विकास दिखाई नहीं पड़ता, यद्यपि प्रायः सदैव, सर्वत्र मूर्तियों का निर्माण होता रहा। मूर्ति-निर्माण के छः प्रधान केन्द्र थे—(१) उत्कल राज्य में पुरी, भुवनेश्वर और कोणार्क, (२) बंगाल और विहार, (३) बुन्देलखण्ड में खजुराहो, (४) मालवा, (५) गुजरात और राजस्थान तथा (६) तामिल राज्य।

उत्कल में भुवनेश्वर में लिंगराज मन्दिर दशम शती में बना। मन्दिर की दीवालों पर बाहर की ओर पशु, पक्षी और मनुष्यों की भव्य मूर्तियाँ बनी हैं। कहीं-कहीं पर पूर्ण आकार वाली हाथी, अश्व, हरिण और सिंह की मूर्तियाँ सजीव जैसी दिखाई पड़ती हैं। मूर्तियों के चारों ओर लता-पत्र आदि से सजावट की गई है। गौरी-विमान में पार्वती की मूर्ति अनेक आभूषणों से अलंकृत दिखाई गई है। अन्य स्थानों पर रामायण, महाभारत आदि की कथाओं के दृश्य अंकित हैं। पांडवों का स्वर्गारोहण अत्यन्त मनोरम प्रतीत होता है। जगन्नाथ के मन्दिर में जगन्नाथ, कृष्ण, सुभद्रा और बलराम की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। वहीं पर राम और कृष्ण का चरित्र, जैसे—कालियनाग का दमन, गोवर्धन-धारण, गोपालन तथा राम और रावण का युद्ध मूर्तियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। दीवालों के आलयों में वामन, वराह, नृसिंह आदि अवतारों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। कोणार्क-मन्दिर के गर्भगृह के नीचे हाथियों की छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं। इस मन्दिर में प्रधान रूप से अर्क अर्थात् सूर्य की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। मन्दिर की स्थापना चौबीस चक्र वाले रथ के ऊपर की गई है। चक्र में सब ओर मूर्तियाँ और लता-पत्र आदि की सजावट विद्यमान है।

उपर्युक्त सभी मन्दिरों में शृङ्गार रस को प्रकट करने वाली मूर्तियों की अधिकता है। मूर्तियों में प्रायः अश्लीलता है।

बुन्देल खण्ड में खजुराहों में हिन्दुओं तथा जैनों के मन्दिर हैं। कण्डरिया महादेव के मन्दिर में मूर्तियों का कला-सौन्दर्य श्रेष्ठ है। मन्दिर के गर्भगृह, अन्तराल, महामंडप, मंडप और अर्धमंडपों में प्रायः सर्वत्र भीतर तथा बाहर मूर्तियों का निर्माण अत्यन्त सुन्दर है। मन्दिर में कोई भी स्थान ऐसा नहीं, जहाँ मूर्तियों की रचना न हो। मन्दिर में प्रवेश करने की सीढ़ियों के दोनों ओर भित्तियों पर कामशास्त्र-सम्बन्धी मूर्तियों की रचना सर्वत्र काम के प्रभाव को प्रदर्शित करती है। इन काम-स्थानों से ऊपर जाकर देव-दर्शन अथवा दिव्य-जीवन प्रत्यक्ष होता है। प्रवेश द्वार के तोरण पर देवताओं, गन्धर्वों और किन्नरों का चित्रण है। गर्भगृह के प्रवेशद्वार पर ध्यानस्थित

मुनि और योगियों की मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। समीपस्थित स्तम्भों पर गंगा और यमुना के दर्शन होते हैं। स्तम्भों के आलयों में देवों और उनके अवतारों की मूर्तियाँ हैं। कहीं-कहीं अप्सराओं और किन्नरों के नृत्य प्रदर्शित किए गए हैं। लक्ष्मण-मन्दिर के एक ओर आचार्य के अध्यापन का दृश्य है। आचार्य के चारों ओर ब्रह्मचारियों का समुदाय जिज्ञासु-मुद्रा में बैठा है। वहाँ विष्णु की त्रिमुख और चतुर्भुज मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। इस मन्दिर के द्वार पर समुद्र-मन्थन का दृश्य उत्कीर्ण है। मतङ्गेश्वर मन्दिर के समक्ष वराह की दंष्ट्रा पर पृथ्वी का दर्शन होता है।

एक ही मूर्ति द्वारा दो प्रकार की भावनाओं का प्रदर्शन, खजुराहो की मूर्तिकला की विशेषता है। एक ओर मल्लयुद्ध और दूसरी ओर स्त्री-पुरुषों के आलिंगन के अपूर्व दृश्य कालान्तर में होने वाली दो भावनाओं के प्रदर्शक हैं।

राजस्थान में ग्यारहवीं शती में विमलशाह द्वारा और तेरहवीं में तेजपाल द्वारा निर्मित आबू पर्वत पर मन्दिरों में तत्कालीन मूर्तिकला का भव्य आदर्श प्रस्तुत किया गया है। मन्दिरों में मुख्य रूप से आदिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा है। प्रवेशद्वार के समीप दस गजेन्द्रों की संगमर्मर की मूर्तियाँ हैं। छत के नीचे भी सुन्दर मानव मूर्तियों का निर्माण किया गया है। स्तम्भों की सज्जा स्त्री-पुरुषों की मूर्तियों द्वारा की गई है। मंडप के चारों ओर ५२ कमरों में जैन देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। तीर्थंकरों की मूर्तियों से शान्ति तथा विराग की अभिव्यक्ति होती है।

गुजरात प्रान्त के सोमनाथ मन्दिर में शिव आदि देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। विधर्मियों के द्वारा वहाँ की मूर्तियों को प्रायः ध्वस्त किया गया है। प्राचीन युग के कुछ अवशेष अभी भी प्राप्त होते हैं, जिनमें रामायण की कथा के दृश्य मनोहर हैं।

दक्षिण भारत में तामिल में असंख्य मन्दिरों का निर्माण किया गया। वहाँ मैसूर प्रान्त में हलबीद (दोर समुद्र) के मन्दिर बारहवीं शती के हैं। इस मन्दिर में क्रमशः एक दूसरे के ऊपर शिलापट्टों पर २,००० हाथी, सिंह, घुड़सवार, पत्र, पुष्प, लता आदि का तक्षण है। ऊपर की ओर ४६० हाथ विस्तार वाले शिलापट्ट पर राम की लंका-विजय का दृश्य मूर्त है। सबसे ऊँचे स्थान पर स्वर्ग, पशु-पक्षी तथा मानव-जीवन से सम्बन्धित दृश्य हैं। ये सभी दृश्य पत्थर पर खुदे हुए महाकाव्य के समान प्रतीत होते हैं।

दक्षिण भारत में चिदम्बर का नटराज मन्दिर मूर्तिकला का प्रथम आदर्श है। वहाँ नृत्य-सम्बन्धी मूर्तियों का आधिक्य है। उनका दर्शन करते समय रसिक

स्वयं ही शिव की नृत्यलीला में विलीन हो जाते हैं। नटराज के मन्दिर के चारों मुख्य द्वारों पर तथा वहाँ से लेकर गर्भगृह तक की दीवालों पर नाट्यशास्त्रानुकूल नृत्य के भावों का प्रदर्शन है। जैसे नाट्यशास्त्र संबंधी ताण्डव-लक्षण-प्रकरण के १०८ करणों का प्रदर्शन मुख्य द्वार पर किया गया है। नाट्यशास्त्र के कुछ प्रासंगिक श्लोक वहाँ उत्कीर्ण हैं। मुख्य द्वारों का निर्माण चोल तथा पल्लववंशीय राजाओं ने किया था।

मिट्टी की मूर्तियाँ

सिन्धु-सभ्यता-कालीन मिट्टी की मूर्तियाँ, अन्य प्रकार की मूर्तियों की अपेक्षा अधिक हैं। इसका कारण मिट्टी की सुलभता और रूप-निर्माण करने की क्षमता ही प्रतीत होती है। मूर्तिकला के अभ्यास के लिए प्रारम्भ में मिट्टी की मूर्तियों की रचना की गई होगी।

सिन्धु-सभ्यता की मिट्टी की मूर्तियों में खिलौनों की अधिकता है। उनमें मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी और फलों की मूर्तियाँ हैं। नर्तकियों की भी कुछ मूर्तियाँ हैं। मूर्तियों में वस्त्र तथा आभूषणों का प्रदर्शन है। साधारणतः खिलौनों की रँगाई, अग्नि में पकाने से पूर्व ही कर ली जाती थी। पकाने के पश्चात् उन पर रंग का लेपन किया जाता था।

परवर्ती २००० वर्ष तक मूर्तिकला के विकास की दिशा का अभी भी पूर्ण निश्चय नहीं हो पाया है। इसके पश्चात् सबसे प्रथम मौर्ययुग की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।[1] उनमें कुछ स्त्रियों की मूर्तियाँ, सिन्धु-परम्परा का अनुकरण करती हुई प्रतीत होती हैं। ई० पू० द्वितीय शती से लेकर मिट्टी की मूर्तियों के निर्माण की परम्परा लगातार प्रचलित दिखाई पड़ती है। इसके पश्चात् मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, पटना आदि स्थान पर साँची-परम्परा की बहुत-सी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन स्थानों में प्रधानतः लोकव्यवहार, मनोरञ्जन, शृंगार आदि में संलग्न स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। प्रयाग के समीप कौशाम्बी की शृंगारमय दम्पति की मूर्ति भाव-परायण तथा मनोरम है। श्रीदेवी की मूर्ति अपनी सुन्दरता और आभूषण आदि से विशेष प्रभावोत्पादक है। इस समय की पटना में प्राप्त हास्य-क्रीडा करते हुए बालकों की अनेक मूर्तियाँ हैं।

कुशन-युग की मूतियाँ अहिच्छत्रा में प्राप्त हुई हैं, किन्तु वे कला की दृष्टि से उच्चकोटि की नहीं हैं।

१. महाभारत में मिट्टी के बने हुए घोड़े का उल्लेख है। आरण्यक पर्व २७८.१३।

गुप्तकालीन मिट्टी की मूर्तियों की कला उन्नत है। मिट्टी की ईंटों से मूर्तियाँ बनी हैं और उन ईंटों से भवनों का निर्माण किया गया है। इस प्रकार के मन्दिर कानपुर के भीतरग्राम और रायपुर के सिरपुर-ग्राम में हैं। ईंटों की परिधि में बने हुए पत्र-पुष्प आदि की सज्जा मनोरम है।

लोकोपयोगिता

मूर्तियों का सबसे प्रथम उपयोग सिन्धु-सभ्यता में पूजादि धार्मिक कार्यों में दिखाई पड़ता है। वहाँ की धार्मिक मूर्तियों में सर्वोच्च कला का विकास है। मूर्तियों का अन्य उपयोग प्रदर्शन, मनोरञ्जन और बाल-क्रीडा के लिए था। नर्तकियों और सुन्दरियों की मूर्तियों में कला की अभिव्यक्ति विशेष-रूप से हुई। यही स्थिति भारत में प्रायः सदा रही है।

वैदिक युग में मारण, मोहन, वशीकरण आदि के निमित्त कृत्या आदि देवियों और नायक-नायिका आदि की मूर्तियों का प्रयोग होता था। अग्निहोत्र-यज्ञ के समय प्रवास में मरे हुए अग्निहोत्रियों की मानवाकार मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। यज्ञ की वेदी का निर्माण करते समय प्रजापति की पुरुष-रूप में स्वर्ण-प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाती थी।

महाभारत के अनुसार स्वर्ण के हाथी दान में दिए जाते थे। अश्वमेघ-यज्ञ में अग्निचयन के लिए गरुड की आकृति बनाई जाती थी। कात्यायन-श्रौतसूत्र के अनुसार सुवर्ण अथवा मिट्टी की मनुष्य, अश्व, बैल, मेष, बकरे आदि की मूर्तियाँ अग्नि-चयन सम्बन्धी वेदी में प्रयुक्त होती थीं। आपस्तंब-श्रौतसूत्र के अनुसार यज्ञ की प्रक्रिया में यव द्वारा मेषों की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं।

मूर्तियों की उपर्युक्त धार्मिक उपयोगिता से यह प्रकट होता है कि प्राचीन काल में मूर्तिकला मनुष्य-जीवन के उच्चतम आदर्शों से सम्बन्धित थी।

पौराणिक युग में पुण्य के लिए देवताओं और पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ दान में दी जाती थीं। उदाहरणार्थ, मार्गशीर्ष मास में तृतीया को शिव अथवा धर्मराज की मूर्तियाँ अथवा सुवर्ण या रजत से निर्मित फलों की मूर्तियाँ ब्राह्मणों के लिए पुण्य के निमित्त दान में दी जाती थीं। शातातपस्मृति के अनुसार शर्करा, तिल, घी आदि से निर्मित गाएँ ब्राह्मणों को दी जाती थीं। मृत्युकाल में राजा लोग सुवर्ण-निर्मित मानव-मूर्तियों का दान करते थे।

महाभारत के अनुसार मूर्ति का उपयोग शस्त्रों के अभ्यास के लिए भी किया जाता था। धनुर्विद्या के सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए वृक्ष के ऊपर गिद्ध की मूर्ति रखकर उसके सिर को लक्ष्य बनाया जाता था। बाणों से बेधने के लिए लोहे से बने शूकर

रखे जाते थे। स्वयंवरों में वीरों की धनुर्विद्या की परीक्षा के लिए मछली आदि की मूर्तियों के नेत्र को लक्ष्य-बनाया जाता था। धृतराष्ट्र के हाथों से बचाने के लिए भीम की आयस-मूर्ति बनाई गई थी।[1]

महाभारत के समय युद्ध में वीरों की ध्वजाओं पर अनेक पशु-पक्षी अथवा वृक्षों की मूर्तियाँ होती थीं।। धनुष की पीठ पर सिंह, हाथी, सूर्य, शलभ आदि की प्रतिमाए बनाई जाती थीं। ग्रीक विद्वानों के लेखों से प्रमाणित होता है कि युद्धस्थल पर सेना के समक्ष दिवङ्गत वीरों की मूर्तियाँ, उनके प्रोत्साहन के लिए रखी जाती थीं। युद्ध में वीरों की पराक्रम-कथाएं ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण होती थीं।

जातक की कुछ कथाओं से ज्ञात होता है कि विवाह-योग्य वर-वधू प्राप्त करने के लिए समृद्ध जन मूर्तियों का उपयोग करते थे। वधू की सुन्दर मूर्ति बनाकर उसका प्रदर्शन देश-विदेश में किया जाता था।

पुरु की सेना जब सिकन्दर से लड़ रही थी तो उसके व्यूह के आगे कृष्ण या इन्द्र की मूर्ति प्रतिष्ठित थी।

महाराज अशोक ने राष्ट्र के चारित्रिक विकास के लिए मूर्तिकला का उपयोग किया था। उन्होंने स्तम्भों के शीर्ष भाग पर सिंहों की और उसके भी ऊपर धर्मचक्र की स्थापना करके धर्म की सर्वोच्चता प्रमाणित की थी। परवर्ती युग के अनेक राजाओं ने अशोक का आदर्श स्वीकार किया। बुद्ध की मूर्ति को देववत् मानकर अनातोल फ्रान्स ने प्रणत होकर उसकी स्तुति की थी।

राजभवनों के स्तम्भों में सज्जा के लिए स्त्रियों की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। उन स्त्रियों का स्तन-मण्डल तथा ऊर्ध्व भाग उत्तरीय से आच्छादित रहता था। राजा मन्दिरों में अपने पूर्वजों की मूर्ति की भी प्रतिष्ठा स्मारक-रूप में किया करते थे।

बाण के अनुसार राजकीय जलाशयों में सुवर्ण-निर्मित कमलिनी, मयूर और हाथी की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होती थीं। वहाँ कृत्रिम वृक्षों का निर्माण किया जाता था। राजकुमारियों के विवाह के समय माङ्गलिक सज्जा के लिए कछुआ, मगर, नारियल, केला, तमाल आदि की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। कृत्रिम कमलिनी के बीच यन्त्रों से चक्रवाक के जोड़े घूमते रहते थे।

प्रायः सदैव मूर्ति के माध्यम से देवताओं, वीरों और महर्षियों के चरित्र की कथायें समाज के समक्ष प्रस्तुत की जाती थीं। उदाहरणार्थ, मन्दिर की विशाल शिलाओं पर रामायण, महाभारत, पुराण आदि की कथाएँ उत्कीर्ण हैं। ये कथाएँ

१. स्त्रीपर्व १२.२७

दर्शकों में विशेष प्रभाव उत्पन्न करती हैं। चिदम्बर मन्दिर की मूर्तियों के माध्यम से नृत्यकला की शिक्षा का आयोजन किया गया था।

आहार्य अभिनय के लिए बहुविध पशु-पक्षी और मानवों की मूर्तियों और पुत्तलक का उपयोग होता था।[1]

सिन्धु-सभ्यता-काल से ही मुद्रा-निर्माण के लिए मूर्तिकला का उपयोग दिखाई पड़ता है।

जहाँगीर ने अपने मित्र हिन्दू राजाओं की मूर्तियाँ संगमर्मर या स्वर्ण की बनवा कर उन्हें उपहार दिया और उपवन में स्थापित किया।

विदेशों में प्रसार

भारतीय धर्मों के साथ मूर्तिकला का प्रसार विदेशों में हुआ। मध्येशिया, चीन, जापान, इण्डोनेशिया, पूर्वी द्वीपसमूह, कम्बोडिया, बर्मा, लङ्का आदि देशों में प्रायः वैदिक और बौद्धधर्म के अनुयायी प्राचीन काल से ही, भारत में निर्मित मूर्तियों की प्रतिष्ठा करते थे अथवा वे अपने ही देश में भारतीय मूर्तिशैली के अनुकरण पर मूर्तिकेन्द्रों का संचालन करते थे। प्रथम शताब्दी में निर्मित लक्ष्मी की हाथीदाँत की मूर्ति पम्पिआई नगर में प्राप्त हुई है, जिससे प्रमाणित होता है कि सुदूर प्राचीन काल में भारतीय मूर्तियाँ विदेशों में जाती थीं। विदेशी यात्री भारतीय मूर्तियों का संग्रह चावपूर्वक करते थे। वे अपने देशों को लौटते समय भारतीय मूर्तियों को ले जाते थे। स्टाकहोल्म में १,४०० वर्ष पुरानी गौतम बुद्ध की मूर्ति मिली है।

वास्तु-कला

वास्तव में मानव-संस्कृति के प्रारम्भ में ही अपनी रक्षा के लिए गृहों के निर्माण का प्रचलन हो गया था। साधारण पशु-पक्षी भी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण सुन्दर घरों का निर्माण करते हुए देखे जाते हैं। मनुष्य प्राचीन काल में प्राकृतिक साधनों द्वारा सहज विधि से सुन्दर गृहों का निर्माण करते थे। स्वभावतः मनुष्यों के घर देश, काल तथा साधनों की विविधता के कारण अनेक प्रकार के होते थे। पर्वत-वासी लोग सिंह का अनुसरण करके गुफाओं को

---

१. बहुबाहुमुखास्तथा च विकृताननाः
पशुश्वापदवक्त्राश्च खरोष्ट्राश्च गजाननाः।
एते चान्ये च बहवो नानारूपा भवन्ति ये
आचार्येण तु ते कार्या मृत्काष्ठजतुचर्मभिः॥ ना० शा: २६. ३,४

गृह मानते थे । वनवासी सरलता से काष्ठ, पत्र आदि के योग से पर्णकुटी का निर्माण किया करते थे । समतल स्थानों में मिट्टी के घरों का निर्माण सरलता-पूर्वक हो जाता था । ऐसे अनेक प्रकार के गृहों की निर्माण-शैली धीरे-धीरे कलापूर्ण होती गयी ।[1] आज भी वनवासियों की पर्वतीय गुफाओं में प्रस्तर-युग के चित्र प्राप्त होते हैं । प्राचीनतम काष्ठ और मिट्टी के गृह अब चित्र रूप में ही मिलते हैं ।

गृह-विन्यास

पाँच हजार वर्ष पूर्व सिन्धु-प्रदेश में मनुष्यों के घरों की सुव्यवस्थित रूपरेखा थी । नगरों के ध्वसावशेषों से तत्कालीन वास्तु-विन्यास की उच्चता प्रकट होती है । नगर का निर्माण सुनिश्चित योजना के अनुसार किया जाता था । विस्तृत राजमार्गों की संख्या, उनकी दिशाएँ, प्रत्येक भाग में भवनों की संख्या, उनकी परिधि का क्षेत्र-फल आदि सभी, नगर की स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से निर्णीत होते थे । नदी के प्रवाह से नगरों की रक्षा के लिए मिट्टी तथा ईंटों से पुल और बाँध बनाए गए थे । नगर के पूर्व तथा पश्चिम भागों में दुर्गों की रचना की गई थी ।

सिन्धु-सभ्यता-काल में नगरों की सुरक्षा के निमित्त चारों ओर सुदृढ़ प्राचीर बनाई जाती थी । हड़प्पा-नगर में ऐसी दीवाल की मोटाई नीचे की ओर २६ हाथ और ऊपर की ओर २३ हाथ है । दीवाल की लम्बाई ८०० हाथ है ।

सिन्धु-सभ्यता के गृहों में आँगन होते थे । आँगन के चारों ओर कमरे होते थे । घर तथा नगरों के गन्दे जल को बहाने के लिए नालियाँ बनाई जाती थीं । सड़कों के किनारे कचराखाना बनाया जाता था । प्रत्येक घर में कुआँ, शौचालय, स्नानगृह, हाथ-पैर धोने का कमरा, भण्डार और पूजा-गृह होते थे ।

सिन्धु-सभ्यता के गृह प्रायः दोतले होते थे । सीढ़ियों के सहारे ऊपर के तलों में चढ़ा जाता था । घर की दीवाल ११"×५¼"×२¼" परिमाण वाली पकी ईंटों से बनाई जाती थी ।

गृह

सिन्धु-सभ्यता-कालीन गृह-निर्माण की परम्परा प्रत्यक्ष-रूप से अज्ञात है। साहित्यिक आधार पर, वैदिक युग में १०० द्वारों और अनेक तल वाले गृह, १००० स्तम्भों वाले सभामण्डप तथा लोहे और पत्थर के भवनों की प्रकल्पना प्रसिद्ध है । ऐसे आवास प्रायः समृद्धिशाली राजाओं के होते थे । साधारण लोगों के गृह काष्ठ

---

१. महाभारत काल में सभापर्व १.११ के अनुसार दिव्य, आसुर और मानुष अभिप्राय की वास्तुशैलियाँ थीं ।

के स्तम्भों और पत्तों के आच्छादन से बनाए जाते थे। कहीं-कहीं पर घर की दीवालें मिट्टी से बनती थीं।[1]

वैदिक गृह साधारणत: विस्तृत और सुखदायक होते थे। घरों में बहुत से कमरे, जैसे--अग्निशाला, यज्ञशाला, स्त्रियों के कमरे और बैठक होते थे। पशुओं के लिए गोशालाएँ बनाई जाती थीं।

रामायण, महाभारत, पुराण आदि तथा बौद्ध और जैन साहित्य के अनुसार समग्र भारत में प्राचीन काल में गृह-निर्माण-कला की पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। उदाहरणार्थ--रामायण के अनुसार, अयोध्या और लङ्का गृह-निर्माण-कला की दृष्टि से उल्लेखनीय थे। महाभारत के अनुसार मयासुर के द्वारा निर्मित सभा-भवन वास्तुकला की चरम सीमा का द्योतक था।

मौर्यकालीन वास्तुकला का परिचय मेगस्थनीज आदि यूनानी लेखकों के प्रत्यक्ष वर्णन से प्राप्त होता है। उनके अनुसार मौर्यों की राजधानी, पाटलिपुत्र एक योजनपर्यन्त विस्तृत थी। मौर्ययुगीन अशोक का प्रासाद वास्तुकला का सर्वोच्च आदर्श माना गया है। यह प्रासाद निश्चय ही गुप्तयुग तक दृश्यमान था। फाह्यान ने उसे देखकर लिखा है--यह प्रासाद मनुष्यों द्वारा नहीं, अपि तु देवताओं द्वारा निर्मित प्रतीत होता है। इस भवन के अवशेष आधुनिक युग में खोदने पर मिले हैं। उनके सम्बन्ध में डा० स्पूनर ने लिखा है--यह प्रासाद सब प्रकार से सुरक्षित प्रतीत होता है। इसमें प्रयुक्त काष्ठ तथा स्तम्भ आज भी वैसे ही चिकने तथा पूर्ण हैं, जैसे अशोक के समय में रहे होंगे। इस युग में हम लोग इस प्रासाद से अधिक सुन्दर भवन-निर्माण करने में असमर्थ हैं। यह अपने युग का आदर्श होगा।

ग्राम

प्राचीन युग के नागरिकों के भवनों का वर्णन अनेक काव्यों में प्राप्त होता है। मानसार आदि वास्तु-शास्त्रों में गृह-निर्माण-कला सम्बन्धी विज्ञान के प्रमाण मिलते हैं। निश्चय ही इन प्रमाणों से वास्तुकला की प्रगति का परिचय हमें प्राप्त होता है। तदनुसार पहले ग्राम के योग्य भूमि का अन्वेषण होना चाहिए। वही भूमि ग्राम-निर्माण के योग्य मानी गयी है, जहाँ पृथ्वी में कुएँ का जल धरातल से अधिक नीचे न हो, जहाँ छाया वाले और फूल-फल से संपन्न वृक्ष उत्पन्न हो सकें और जो भूमि देखने में मनोहर हो। उस भूमि को खोदकर दिशाओं के चिह्न बना दिए

---

1. The chief importance of the Vedic period lies in the development of architecture as a science and the invention of types that survive in later Hindu and Buddhist architecture.

—**Rowland** : *Architecture*, *P.* 25

जाते थे । पुनः राजमार्गों का निर्धारण होता था । ग्राम में वायु-संचरण के निमित्त चौड़े राजमार्ग समतल बनाए जाते थे । ग्राम की प्रदक्षिणा के लिए मंगलवीथि का निर्माण होता था। प्रधान राजमार्ग २५ हाथ चौड़ा होता था । ग्रामों की रचना २४ प्रकार की मानी गई है, जैसे दण्डक-वर्ग का ग्राम संन्यासी के दण्ड के अनुरूप होता था । वहाँ अधिक से अधिक पाँच समानान्तर राजमार्ग पूर्व से पश्चिम की ओर बनाए जाते थे । उत्तर से दक्षिण की ओर छोटी-छोटी तीन सड़कें बनायी जाती थीं। उत्तर-पूर्व तथा दक्षिण-पश्चिम दिशा में दो जलाशय खोदे जाते थे । पद्माकर-वर्ग के ग्राम का कमल-पत्र के समान विन्यास होता था। स्वस्तिक-वर्ग के ग्राम का विन्यास स्वस्तिक के आकार का होता था । पाठशालाएँ और धार्मिक संस्थाएँ ग्राम के कोने पर बनाई जाती थीं ।

नगर

ग्राम-समूह के समान नगरों की रचना होती थी। नगर में व्यापारमार्ग, मन्दिर, धर्मशाला, पाठशाला आदि यथास्थान बनाए जाते थे। मानसार में ६ प्रकार के नाटचगृह और मञ्चों का वर्णन है।

प्राचीन काल में वास्तुकला का सर्वोच्च विकास निःसन्देह, मनुष्य के आवासों में नहीं, अपितु पितरों अथवा देवताओं के निमित निर्मित्त मन्दिर, गुफा, स्तूप, चैत्य, विहार आदि में हुआ है ।

स्तूप

पूर्वजों के स्मारक के रूप में स्तूपों की रचना वैदिक युग में प्रचलित थी । बौद्ध धर्म के अनुसार स्तूप किसी महात्मा के निर्वाण अथवा बोधि के स्मारक हैं । स्तूपों के दर्शन से बुद्ध के मार्ग का अनुसरण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । साधारणतः स्तूप गौतम बुद्ध के वास्तविक अथवा कृत्रिम अस्थि आदि अवशेषों को भूमि में रखकर उनके ऊपर तथा बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण स्थानों पर बने हुए दिखाई पड़ते हैं। परवर्ती काल में बौद्ध-मत के अनुयायियों के स्मारक के रूप में भी स्तूपों का निर्माण हुआ । सबसे प्राचीन स्तूप ४५० ई० पू० का नेपाल की सीमा पर उत्तर प्रदेश में बस्ती जिले के पिपरावा में है। किंवदन्ती के अनुसार अशोक ने ८४,००० स्तूप बनवाए थे । अशोक के द्वारा निर्मित साँची-स्तूप के तोरण, वेदिका आदि की रचना प्रथम शती ई० पू० में हुई थी । स्तूप की चौड़ाई ८१ हाथ और ऊँचाई ५१ हाथ है। चारों दिशाओं के महाद्वारों की सज्जा अत्यन्त मनोहर है । द्वारों का परस्पर सम्बन्ध पत्थर की वेदियों द्वारा किया गया है । वेदी से स्तूप के मूलभाग तक प्रदक्षिणा-पथ बनाया गया है । स्तूप के कुछ ऊपर एक दूसरा प्रदक्षिणा-पथ है । नीचे से सीढ़ियों द्वारा ऊपरी प्रदक्षिणा-पथ पर चढ़ा जाता है। अण्डाकार स्तूप के शिखर

पर एक ग्रायताकार हर्मिका है। तोरण ग्रौर वेदियों में प्राय: सर्वत्र पशु-पक्षी, देवता, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य ग्रादि की मूर्तियाँ हैं, जो उनके द्वारा की जाने वाली बुद्ध की पूजा का परिचय देती हैं।

द्वितीय शती ई० पू० में सतना के समीप भरहुत में शुङ्गयुग में स्तूपों की रचना की गई। इस समय उस स्तूप की कुछ वेदियाँ ग्रौर एक महाद्वार कलकत्ते के पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित हैं। उनमें भी जातक कथाग्रों का ग्रङ्कन प्रभावोत्पादक विधि से किया गया है।

गन्तूर जिले के ग्रमरावती स्थान पर द्वितीय शती ई० पू० से भी पहले स्तूपों की रचना की गई थी। स्तूप की वेदियों ग्रादि की रचना तृतीय शती में ग्रांध्रवंशीय राजाग्रों ने की। इस युग में ग्रन्य स्तूप जगय्यपेट ग्रौर नागार्जुनकोण्ड में बनाए गए।

सप्तम शती में सारनाथ का स्तूप बना। यह ग्रनेक बार नवीकरण की प्रक्रिया से उच्चतर होता गया।

चैत्य

चैत्य बौद्धों के पूजा करने के स्थान थे। महाभारत के ग्रनुसार हिन्दुग्रों के चैत्य-वृक्ष पूज्य थे।[1] चैत्य, प्राय: पर्वतों की कृत्रिम गुफाग्रों में स्तूप के चारों ग्रोर बने दिखाई पड़ते हैं। चैत्यों का भीतरी भाग ग्रायताकार ग्रौर मध्य भाग विस्तृत होता है। मध्यभाग में दोनों ग्रोर स्तम्भ होते हैं। स्तम्भों की जहाँ समाप्ति होतीं है, वहाँ से स्तूप का प्रदक्षिणा-पथ ग्रारम्भ होता है।

बहुत-से चैत्य नासिक, भाजा, वेडसा, पीतलाखोरा, कोण्डाणा ग्रौर कार्ले में प्राप्त हुए हैं। कार्ले का चैत्य सर्वश्रेष्ठ है। इसकी रचना प्रथम शती में की गई थी। इसकी गुफा का विस्तार ८२ × ३० × ३० हस्त प्रमाण है। मध्यभाग के दोनों ग्रोर १५ स्तम्भ हैं। स्तम्भों के ऊपर घुटने झुकाये हुए ग्रनेक हाथी स्थित हैं। हाथियों के ऊपर दो-दो स्त्री-पुरुष बैठे हैं। ग्रजन्ता की गुफाग्रों में से चार चैत्य हैं।

विहार

चैत्य के निकट बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए विहार बनाये जाते थे। सबसे प्राचीन विहार ईसा से पूर्व भाजा की गुफाग्रों में बनाया गया था। वहाँ पर विहार के सामने एक चबूतरा है। चबूतरे के पश्चिम की ग्रोर तीन कमरे हैं। कमरों

१. एको वृक्षो हि यो ग्रामे भवेत्पर्णफलान्वित: ।
चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरर्चनीय: सुपूजित: ।। महा० ग्रादिपर्व १३८·२५
सभापर्व १६६·१३ में इसका समर्थन है।

का विभाजन स्तम्भों से किया गया है। स्तम्भों का ऊपरी भाग कमल के पुष्प के समान है। चबूतरे के पीछे एक विशाल कक्ष वाला सभा मण्डप है।

उड़ीसा प्रान्त में जैनों तथा बौद्धों के बहुत से विहार प्राप्त होते हैं। वहाँ खण्डगिरि की अनन्त गुफा' उदयगिरि की रानीगुफा, गणेशगुफा और जयविजय-विहार प्रसिद्ध हैं। उदयगिरि की हाथीगुफा में महाराज खारवेल का ई० पू० द्वितीय शती का एक शिलालेख है। वहाँ कुछ गुफाएँ दो तल वाली हैं।

अजन्ता की सोलहवीं और सत्रहवीं गुफाएँ विहार के सर्वोत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करती हैं। वहाँ स्तम्भों का निर्माण सुन्दरता के साथ किया गया है। वहाँ के विहारों के चित्रों का प्रकल्पन भारत में अद्वितीय है।

गुफा के विहारों की रचना विशेष रमणीय प्रतीत होती है। गुफाओं में अनेक प्राकृतिक तथा कृत्रिम वस्तुओं की बनावट और प्राचीन गृह-निर्माण-कला यथास्थान दिखाई पड़ती हैं। गुफा में कुछ भी बाहर से नहीं जोड़ा गया, तो भी सब ओर सर्वाङ्गपूर्णता, अनुरूपता और समीचीनता दिखाई पड़ती है।

गुफा-विहारों के अतिरिक्त, ईंटों के विहारों का प्रचलन प्राचीन काल में गौतम बुद्ध के जीवन-काल से प्रारम्भ हो गया था। ह्वेनसांग के अनुसार सप्तम शती में भारत में ५,००० विहार थे। उनमें नालन्दा का विहार सर्वश्रेष्ठ था। नालन्दा के विहार का विस्तार १०५०×५२५ हस्त प्रमाण क्षेत्र में था। इस विहार का पुस्तकालय नवतला था। किसी-किसी विहार की दीवाल १३५ हाथ लम्बी और चार हाथ चौड़ी है। दीवाल का निर्माण ईंटों से होता था। ईंटों की जुड़ाई सावधानी के साथ की जाती थी। कहीं-कहीं दो ईंटों का जोड़ दिखाई नहीं पड़ता।

मन्दिर

सिन्धु-सभ्यता-काल में हड़प्पा आदि नगरों में अनेक मन्दिर थे। तब से लेकर भारत के अनेक भागों में प्रायः सदैव मन्दिरों की रचना होती रही है किन्तु उन मन्दिरों के ध्वंसावशेष आजकल उपलब्ध नहीं हैं। साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रामायण-महाभारत-युग में मन्दिरों के निर्माण का प्रचलन था। मन्दिर का प्रथम अवशेष चित्तौड़गढ़ के समीप प्राप्त होता है। उस मन्दिर का निर्माण चतुर्थ शती ई० पू० में हुआ था। उसमें वासुदेव और सङ्कर्षण की प्रतिष्ठा की गई थी। बरेली नगर के समीप रामनगर में शिवमन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं। उसका निर्माण ईसवी शती के प्रारम्भिक युग में हुआ था। द्वितीय शती के बाद भारशिव वंशीय राजाओं द्वारा नागर-शैली पर निर्मित मन्दिरों के अवशेष प्राप्त होते हैं। तब से लेकर मन्दिरों के द्वारों पर गङ्गा और यमुना का तक्षण प्रारम्भ हुआ।

सबसे प्राचीन पूर्ण आकार वाला साँची का विष्णुमन्दिर गुप्तकालीन है। उसका रचना-काल चतुर्थ शती है। उसका आकार गुफा-विहार के समान प्रतीत होता है। छोटे से इस मन्दिर में चार स्तम्भ हैं। उनके सिरे पर पृष्ठ भाग मिलाये हुए सिंहों की मूर्तियाँ हैं। गुप्तकालीन मन्दिर तिगवा[1], भूमरा[2], नचनाकूथर[3], देवगढ़[4], खोह[5], दह्पर्वतिया[6] आदि स्थानों में उपलब्ध होते हैं।

गुप्तकालीन मन्दिरों की छतें समतल होती थीं। भीतर तथा बाहर भित्तियों पर मूर्तियों का तक्षण भी कहीं-कहीं पर होता था। उनके द्वारों पर अनेक प्रकार की मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। गर्भगृह के सामने स्तम्भों पर अवलम्बित एक छोटा मण्डप होता था। देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में उपर्युक्त सभी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। यह मन्दिर गुप्तकालीन वास्तुकला का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत करता है।

गुप्तकाल के पश्चात् मन्दिर-निर्माण-कला की दो शैलियों का विकास हुआ—पहली उत्तर भारतीय नागर शैली और दूसरी दक्षिण भारतीय द्राविड शैली। उत्तर-भारतीय शैली के अनुसार निर्मित मन्दिरों का शिखर शङ्ख के आकार का होता था। यह शैली ग्यारहवीं शती में निर्मित खजुराहो और भुवनेश्वर के मन्दिरों में पूर्ण रूप से विकसित दिखाई पड़ती है। दक्षिण-भारतीय शैली पर बने हुए मन्दिरों के शिखर अनेक तल वाले प्रासाद के समान होते थे। उसका विस्तार ऊपर क्रमशः कम होता जाता है। यह शैली तंजोर, गंगैकोण्ड आदि स्थानों पर निर्मित मन्दिरों की विशेषता का द्योतक है। एक नवीन शैली कश्मीर के मार्तण्ड-मन्दिर और राजस्थान के आबू पर्वत वाले दिलावरा के मन्दिरों में दिखाई पड़ती है। इन मन्दिरों के शिखर अण्डाकार हैं।

द्राविड-शैली का क्रमिक विकास पल्लव तथा चोलवंशीय राजाओं ने किया। तंजोर नगर में चोल-सम्राट् द्वारा निर्मित मन्दिर का शिखर १२५ हाथ ऊँचा है। इस मन्दिर की सज्जा के लिए नीचे से लेकर शिखर पर्यन्त असंख्य मूर्तियों का निर्माण किया गया है। परवर्ती युग में मन्दिरों के द्वार गोपुर नाम से प्रसिद्ध हुए। ये मन्दिरों

१. जबलपुर के समीप तिगवा ग्राम में विष्णु का मन्दिर है।

२. नागोद के समीप भूमरा ग्राम में शिव का मन्दिर है।

३. अजयगढ़ के समीप नचनाकूथर ग्राम में पार्वती का मन्दिर है।

४. झाँसी जिले के देवगढ़ गाँव के समीप विष्णु का दशावतार मन्दिर है।

५. नागोद के समीप खोह ग्राम में शिवमन्दिर है।

६. असम-प्रदेश के दारंग जनपद के दह्पर्वतिया ग्राम में शिव का मन्दिर है।

के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग होते थे। मन्दिरों के निकट स्तम्भों पर मंडप की रचना की जाती थी। मदुरा, श्रीरङ्गरामेश्वर आदि स्थानों पर ऐसे बहुत से मन्दिर हैं; जिनके मंडपों में हजारों स्तम्भ पंक्तिबद्ध दिखाई पड़ते हैं। एलौरा का कैलास मन्दिर परवर्ती द्राविड़-शैली का सर्वोत्कृष्ट आदर्श है। यह गुफा-मन्दिर पर्वत के भीतर बनाया गया है। बारहवीं शती में होयसल-वंशीय राजाओं ने मन्दिर-निर्माण की एक नवीन शैली को विकसित किया। उसके अनुसार मन्दिर ताराओं के आकार के होते हैं। इस शैली का सर्वोच्च आदर्श दोर-समुद्र का मन्दिर है।

कश्मीर के कतिपय मन्दिरों के निर्माण में अद्भुत कौशल का प्रयोग हुआ है। इनमें चौकोर पत्थर एक के ऊपर दूसरे विना गारा के इस प्रकार रखे गये हैं कि उनके बीच कागज भी नहीं घुस सकता। अन्यत्र भी इस प्रकार विना गारा लगाये पत्थर के चौकोर खण्डों की जुड़ाई अनेक मन्दिरों में देखी जा सकती है। ग्यारसपुर के कतिपय मन्दिरों की दीवालें विना गारा के उपयोग किये निर्मित हैं। धातुओं के मन्दिर भी बनते थे। १५ वीं शती में अवदुर्रज्जाक ने कालीकट-मंगलौर मार्ग पर कांस्य का एक अद्भुत मन्दिर देखा था।

———

त्रयोदश अध्याय

विज्ञान

मनुष्य संसार का उपभोग पशुओं की अपेक्षा कुछ भिन्न प्रकार से करते हैं। यह विशेषता प्राय: विज्ञान और शिल्पकला के द्वारा सम्भव हुई है। नि:संदेह, मानव-संस्कृति के प्रारम्भ से ही सदैव विज्ञान की प्रगति के साथ मनुष्य के भोग-विलास आदि की परिधि अत्यन्त विस्तृत होती गई है।

उपभोग की परिधि के भीतर आने वाली वस्तुओं की भोग-संबंधी योग्यता और अयोग्यता को जानने के लिए ही सबसे प्रथम आयुर्वेद-विज्ञान का प्रारम्भ हुआ होगा। उपयोगी वस्तुओं को अधिकता से प्राप्त करने के लिए कृषि और पशुपालन का विकास किया गया। भवनों के निर्माण और उनकी सज्जा आदि से सम्बद्ध साधारणत: गणित का और विशेष रूप से ज्यामिति का प्रयोग उपयोगी हुआ। प्राकृतिक सर्जना में भी प्राय: अवयवों का गठन यथाप्रमाण दिखाई पड़ता है। मानव-कृतियों में सरलता के साथ उनका नियोजन करने के लिए गणित की आवश्यकता प्रतीत हुई। आयुर्वेद और कृषि-विज्ञान की उत्तम प्रगति के लिए वनस्पति-शास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायन-शास्त्र और भूगर्भ-विद्या के विकास की आवश्यकता हुई। प्राचीन काल में दिन, मास, ऋतु, ग्रह, नक्षत्र आदि की प्रवृत्ति जानने के लिए ज्योतिष का अध्ययन प्रारम्भ हुआ।

गणित

गणित-विज्ञान की प्रगति का प्रथम परिचय सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त होता है।[1] उस समय भवनों के निर्माण, राजमार्गों की रचना, वाणिज्य-व्यवहार और नाप-तौल आदि के निमित्त गणित का उपयोग अवश्य होता होगा। वहाँ चित्रों के निर्माण में ज्यामिति का उपयोग सविशेष था।

वैदिक युग में वेदियों की रचना के लिए ज्यामिति का उपयोग होता था। ई० पू० अष्टम शताब्दी में बौधायन ने शुल्बसूत्रों के द्वारा त्रिभुज, आयत, वर्ग आदि से संबंधित रेखागणित के सिद्धांतों को प्रदर्शित किया। शुल्बसूत्र के अनुसार पक्षी, कछुवा, रथ, चक्र, वृत्त, समत्रिबाहु-त्रिभुज आदि के समान आकार वाली वेदियों का निर्माण होता था। उस समय अनेक वर्गों के तुल्य, दो वर्गों के अन्तर के तुल्य तथा चतुर्भुज और त्रिभुज के तुल्य वर्ग का निर्माण रेखागणित की सहायता से किया गया था

१. उस समय सम्भवत: दशमलव का ज्ञान लोगों को था।

शून्य का आविर्भाव

गुप्त-युग में दशमलव-विधि से संख्याओं को व्यक्त करने की रीति बढ़ी यह पद्धति संसार में सर्वत्र अपनाई गई है। इस पद्धति में शून्य के प्रयोग के द्वारा दशगुण करना और एक से लेकर नौ पर्यन्त अङ्कों के स्थानों का मूल्य प्रदर्शित करना सम्भव हुआ। गणित के प्रयोग में दशमलव विधि की सरलता सुविदित है। इस पद्धति के बिना गणित की इतनी अधिक प्रगति न हो पाती। पहले अरब देशवासियों ने नवम शताब्दी में दशमलव विधि को भारत से सीखा। वहाँ से बारहवीं शताब्दी में इसका प्रचार योरप-महाद्वीप में हुआ। आर्यभट ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

एक, दस, सौ, हजार, अयुत, प्रयुत, अर्बुद और वृन्द—ये अंक स्थानानुसार-दसगुने हो जाते हैं।

आर्यभट का प्रादुर्भाव ४९९ ई० में हुआ था। ऐसी स्थिति में दशमलव-संकेत-विधि का विशेष विकास तृतीय अथवा चतुर्थ शताब्दी में माना जाना चाहिए। आर्यभट ने संख्याओं के वर्गमूल, घनमूल आदि के ज्ञान के लिए दशमलव-विधि का उपयोग किया है।

गुप्त-युग के गणित-संबंधी ज्ञान का परिचय हमें उस हस्तलिखित ग्रन्थ से प्राप्त होता है, जो वक्षलि ग्राम में एक किसान को भूमि खोदते समय प्राप्त हुआ था। इस ग्रन्थ में साधारण प्रकार के मिश्र, वर्गमूल, समान्तर श्रेढी और गुणोत्तर श्रेढी का विवेचन तथा उच्च प्रकार की मिश्र श्रेढियों के योग और युगपद घात के समीकरण की व्याख्या है।

आर्यभट ने ई० ४९९ में पाटलिपुत्र में आर्यभटीय नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ के ज्यामिति-प्रकरण में अनेक प्रकार के विशेष वृत्तों का मान तथा π का मान (३·१४१६) और प्रतिलेखीय ज्यामिति की व्याख्या है। उस समय त्रिकोणमिति का ज्ञान लोगों को था।

बीजगणित से संबंधित चार अक्षरों के समीकरण की विधि आर्यभटीय के गणित-प्रकरण में दिखाई पड़ती है।

अंकगणित और बीजगणित के संबंध में भारत में अनेक प्रकार की नवीन प्रवृतियों का जन्म हुआ। उनमें से अनेक प्रयोग प्राचीन काल में योरोप ने स्वीकार कर लिए। कुछ प्रयोग उन देशों में, प्रायः सहस्रों वर्ष बाद स्वतंत्र रूप से आविष्कृत हुए। यह बात योरोपीय विद्वानों के उद्‌गारों से भी ज्ञात होती है, यथा—

There is no question of the superiority of the Hindus over their rivals in the perfection to which they brought science. Not

only is Aryabhata superior to Diaphantus (as is shown by his knowledge of the resolution of equations involving several unknown quantities and in a general method of resolving all intermediate problems of at least the first degree) but he and his successors press hard upon the discoveries of algebraists, who lived almost in our own time.

——**Elphinstone** : *History of India. p.* 131

In the Suryasiddhanta is contained a system of Trigonometry, which not only goes far beyond any thing known to the Greeks, but involves theorems, which were not discovered in Europe till two centuries ago.

——**Elphinstone** : *History of India p.* 129.

Suryasiddhanta contains a rational system of Trigonometry, which differs entirely from the first known in Greece or Arabia. In fact it is founded on a geometrical theorem which was not known to the geometricians of Europe before the time of Vieta, about 200 years ago. And it employs the sines of arcs, a thing unknown to the Greeks, who used the chords of double arcs, The invention of sines has been attributed to the Arabs but it is impossible. They may have received this improvement in Trigonometry as well as the numerical characters from India.[1]

सप्तम शताब्दी में ब्रह्मगुप्त ने अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित आदि विषयों का सूक्ष्म विवेचन 'ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त' और 'खण्ड-खाद्यक' ग्रन्थों में किया है।

नवम शताब्दी में महावीराचार्य ने 'गणितसारसंग्रह' ग्रन्थ लिखा। उसमें गणित की व्यावहारिक उपयोगिता प्रायः पाकक्रिया, न्यायपद्धति आदि सभी कार्यक्षेत्रों में प्रदर्शित की गई है। उसमें ज्यामिति-संबंधी श्रेढी-व्यवहार स्पष्टरूप से प्रदर्शित है। ग्यारहवीं शताब्दी में त्रिशती नामक ग्रन्थ में चार अक्षरों के समीकरण का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

---

१. **Prof. Wallace** : *Edinburgh Encyclopaedia—Geometry p.* 191.

२. पाइथागोरस-सिद्धान्त भारत में ८०० ई० पू० में बौधायन के द्वारा अनुशीलित था।

बारहवीं शताब्दी में भास्कराचार्य ने गणित का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सिद्धान्त-शिरोमणि' लिखा। इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक दो भागों के नाम लीलावती और बीजणित हैं। इन दोनों भागों में विशेष रूप से गणित का विवेचन किया गया है। लीलावती में अनेक प्रकार के अंकगणित संबंधी प्रश्नों का सूक्ष्म समाधान और क्षेत्रफल, घनफल आदि का शुद्ध विवेचन सरल विधि से किया गया है। सरल समाधान के लिए दशमलव-विधि का प्रयोग इसमें मिलता है।

भास्कराचार्य ने बीजगणित के प्रयोग में प्रतिभा का परिचय दिया है। उपर्युक्त बात का समर्थन करते हुए एल्फिन्स्टन महोदय ने लिखा है—

"In the Edinburgh Review (Vol. XXI p. 372) is a striking history of a problem (to find x so that ax^2+b shall be a square number), The first step towards a solution is made by Diaphantus It was extended by Fermat, and sent as a defiance to the English Algebraists in the seventeenth century, but was only carried to its full extent by the celebrated mathematician Euler, who arrives exactly at the point before attained by Bhaskaracharya"[1]

"A particular solution given by Bhaskaracharya is exactly the same as that hit on by Lord Brounker in 1657; and that the general solution of the same problem was unsuccessfully attempted by Euler and was only accomplished by De La Grange in 1767 A. D; although it had been as completely given by Brahmagupta."[2]

भास्कराचार्य की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए लेथब्रिज महोदय लिखते हैं—

"Bhaskaracharya is said to have discovered a mathematical process very nearly resembling the differential calculus of Modern European Mathematicians," J. R. A. S.Vol XVII.

भास्कराचार्य की उपर्युक्त प्रतिभा का समर्थन करते हुए डा० प्रफुल्ल चन्द्र राय लिखते हैं कि भास्कराचार्य का यह निष्कर्ष उनके 'डिफरेंशियल कैलकुलस' विधि-संबंधी प्रयोग को व्यक्त करता है।[3]

---

१. *History of India p.* 131.

२. **Colebrook's** : *Hindu Algebra quoted in the Edinburgh Review Vol. XIX p.* 153

३. **Rny** : *History of Hindu Chemistry ll p.* 152-160

ज्योतिष

वैदिक युग में प्रारम्भ से ही वर्ष, एक वर्ष में १२ चान्द्रमास और प्रत्येक तीन वर्ष के पश्चात् एक अधिक मास की कल्पना थी। उस समय दो मास वाली ऋतुओं की गणना होती थी। मधु और माधव वसन्त ऋतु, शुक्ल और शुचि ग्रीष्म ऋतु, नभ और नभस्य वर्षा ऋतु, इष और ऊर्ज शरद ऋतु, सह और सहस्य हेमन्त ऋतु तथा तप और तपस्य शिशिर ऋतु थे।

सूर्य की उत्तरायण और दक्षिणायन गतियाँ ज्ञात थीं। २७ नक्षत्रों का विवेचन वैदिक सूक्तों में दिखाई पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार दिन-रात में ३० मुहूर्त होते हैं। जैसे––

१ मुहूर्त =१५ क्षिप्र
१ क्षिप्र =१५ एतर्हि
१ एतर्हि =१५ इदानी
१ इदानी=१५ प्राण

इस प्रकार उस समय काल की सूक्ष्म गणना होती थी।

'सूर्य न तो उदित होता है और न अस्त' यह ज्ञान, निश्चय ही वैदिक युग में था।[1]

वैदिक युग के पश्चात् वेदांग-ज्योतिष का संकलन किया गया। इसमें ऋग्वेद-ज्योतिष, यजुर्वेद-ज्योतिष और अथर्ववेद-ज्योतिष विद्यमान हैं। महर्षि लगध के द्वारा संकलित ऋग्वेद-ज्योतिष में ३६ कारिकाएँ, यजुर्वेद-ज्योतिष में ४६ कारिकाएँ और अथर्ववेद-ज्योतिष में १६२ कारिकाएँ हैं। अथर्ववेद ज्योतिष से फलित-ज्योतिष की परम्परा प्रारम्भ होती है। ऋग्वेद-ज्योतिष में यज्ञ-योग्य समय के ज्ञान के लिए नक्षत्र, पर्व, अयन आदि का विधान दिखाई पड़ता है। उसमें गणित-ज्योतिष का अभाव है। यजुर्वेद-ज्योतिष प्रायः ऋग्वेद के समान है। अथर्ववेद-ज्योतिष में तिथि, नक्षत्र करण, योग, तारा, चन्द्र आदि के बलाबल का विवेचन भली भाँति किया गया है।

पंचसिद्धान्त

वैदिक ज्योतिष के आधार पर परवर्ती युग में पाँच सिद्धान्तों की रचना हुई–– पितामह, वसिष्ठ, रोमक, पौलिश और सूर्य। ऐसा प्रतीत होता है कि इन सिद्धान्तों में पितामह-सिद्धान्त वेदाङ्ग-ज्योतिष की परम्परा का अनुसरण करके लिखा गया है। इस सिद्धान्त में सूर्य और चन्द्र-सम्बन्धी गणित विद्यमान है। अन्य ग्रहों की गणना इसमें नहीं है।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार एष (सूर्यः) न कदाचनास्तमेति नोदेति। ३.४४

वसिष्ठ सिद्धान्त (ई० ३००) में राशियों तथा लग्नों का विवेचन मिलता है। इसके अनुसार एक वर्ष में ३६५.२५६१ दिन होते हैं। इस ग्रन्थ में सूर्य और चन्द्र-ग्रहण की व्याख्या नहीं है।

पौलिश सिद्धान्त (ई० ३८०) में ग्रहण सम्बन्धी विवेचन है। विदेशी प्रभाव के कारण ज्योतिष की जो प्रगति हुई, उसका परिचय रोमक सिद्धान्त (ई० ४००) में मिलता है। उसमें मेण्टन, हिप्पार्कस आदि ग्रीक विद्वानों की परिगणन-रीति के अनुसार युग और दिन के मान का स्पष्टीकरण है।

सूर्यसिद्धान्त विशेष रूप से लोकप्रिय हुआ। इसमें ग्रहण तथा गोलीय ज्योतिष के विशेष नियम दिखाई पड़ते हैं। परवर्ती युग में सूर्यसिद्धान्त का विशेष आदर हुआ।

आर्यभट

ज्योतिष-विज्ञान का प्रथम ऐतिहासिक आचार्य आर्यभट था। उसने २३ वर्ष की अवस्था में ही 'आर्यभटीय' ग्रन्थ का निर्माण किया। उसने पूर्व तथा पश्चिम के सभी विद्वानों की ज्योतिष-सम्बन्धी पद्धतियों का पर्यालोचन करके अपनी प्रतिभा के बल से एक उच्च ग्रन्थ की रचना की। इस प्रकार उसकी अनुसन्धान-शैली प्रतिष्ठित हुई। उसने ग्रीक विद्वानों के सिद्धान्तों को संशोधित किया।

सर्वप्रथम आर्यभट ने सिद्ध किया है कि हमारी पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती रहती है। आर्यभटीय के गीतिका-प्रकरण में राशि तथा कलांशों का सम्बन्ध, आकाशीय कक्षा का विस्तार, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि की गति, इनकी लम्बाई-चौड़ाई का परिमाण, ग्रहों की क्रान्ति और विक्षेप, उनके पतन, ऊँची-नीची अवस्थिति तथा मन्द-परिधि और शीघ्र-परिधि के परिमाण की व्याख्या है। कालक्रिया-प्रकरण में मास, वर्ष, युग आदि का परस्पर संबंध तथा ग्रहों की मध्यम तथा स्पष्ट गतियों की व्याख्या है। गोल-प्रकरण में ग्रहों से सूर्य का अन्तर, सूर्य के प्रकाश की अपेक्षा ग्रहों के प्रकाश का आधा होना, खगोल आदि विषयों की स्पष्ट व्याख्या है। आर्यभट ने अपने समकालीन तथा पूर्वकालीन सभी ज्योतिष-शास्त्र के विद्वानों की अपेक्षा अधिक शुद्ध परिमाण तथा परिणाम प्रदर्शित किए। इससे उनकी श्रेष्ठता व्यक्त होती है।

वराहमिहिर

आर्यभट के प्रायः समकालीन वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका, बृहत्संहिता, बृहज्जातक और लघुजातक नाम के ग्रन्थ लिखे। पञ्चसिद्धान्तिका में पहले से प्रचलित पाँच सिद्धान्तों का संग्रह किया गया है। बृहत्संहिता में ग्रहों की गति, धूमकेतु, उल्कापात आदि विषयों का विवेचन है। लघुजातक और बृहत्संहिता का अनुवाद अलबेरूनी ने किया था।

ज्योतिष-शास्त्र के संग्रहात्मक ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त में अनेक विषयों का विवेचन मिलता है।

ब्रह्मगुप्त

सप्तम शताब्दी में गणकचक्रचूडामणि ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त नामक ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने पूर्ववर्ती अनेक प्रसिद्ध ज्योतिष-विद्वानों के ग्रह-सम्बन्धी-गणित को संशोधित किया। ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त के २४ अध्यायों में यन्त्राध्याय महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ के गणिताध्याय और कुट्टकाध्याय भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। ब्रह्मगुप्त का खण्डखाद्यक नामक ग्रन्थ आर्यभटीय के अनुकरण पर है। ब्रह्मगुप्त की प्रसिद्धि अरब तथा तुरुष्क देशों तक पहुँची थी।

ग्यारहवीं शती में भास्कर ने पृथ्वी के गोलत्व और आकर्षण के विषय में लिखा--

समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथिवी नितरां तनीयान्।
नरस्य तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा॥
आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समो समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥

अर्थात् बहुत बड़ी पृथ्वी का एक छोटा भाग भी इतना बड़ा है कि वह समतल दिखाई पड़ता है। उसमें आकर्षण-शक्ति है, जिससे वह वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है, अन्यथा वे आकाश में उड़ जातीं।

पृथ्वी की इस आकर्षण-शक्ति को न्यूटन ने भास्कर के छः सौ वर्ष बाद ज्ञात किया।

प्राचीन काल में ज्योतिष-सम्बन्धी विज्ञान का उत्कर्ष अनेक योरपीय विद्वानों ने प्रमाणित किया है। जैसे--

During the eighth and ninth centuries, the Arabs were in astronomy the disciples of Hindus, from whom they borrowed the mansions tn their new order and whose Siddhantas, they frequently worked by and translated in part under the supervision of Indian astronomers themselves whom the Khalifas of Baghdad invited to their courts:[१]

The originality of Hindu astronmy is at once established, but it is also produced by intrinsic evidence and although there

१. Weber : *History of Indian Literature* p.255.

is some remarkable coincidence between the Hindu and other systems, their methods are their own.[1]

He (Aryabhata) was the man, according to Europeans, who first brought to light diurnal revolution of the earth on its axis, and to have known the true theory of the causes of the lunar and solar eclipses and notice the motion of solistial and equinoctial points.

साप्ताहिक वारों का नाम भारतीय ज्योतिर्विदों की खोज है। अहोरात्र के मध्यस्थ होरा से अंग्रेजी का हावर निकला है।

आयुर्वेद

भारतीय विज्ञानों में आयुर्वेद का अप्रतिम महत्त्व रहा है, जिस प्रकार ज्योतिष में अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, भूगोल आदि का अन्तर्भाव हुआ है, उसी प्रकार आयुर्वेद में भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, खनिजविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, प्राणिविज्ञान, मनोविज्ञान आदि का समावेश हुआ है।

सभी प्राणी स्वाभाविक रूप से अपने रोगों का निदान करते हैं। पशु-पक्षी भी अनेक प्रकार के तृण आदि खाकर अपने रोगों को दूर कर लेते हैं। सिन्धु-सभ्यता के युग से शृङ्गचूर्ण, शिलाजीत और गंडा-तावीज आदि के प्रयोग द्वारा रोगों को शान्त करने की विधि प्रचलित रही है।

वैदिक साहित्य के उल्लेखों द्वारा तत्कालीन आयुर्वेद-विज्ञान-सम्बन्धी प्रगति का परिचय प्राप्त होता है। सभी महर्षि चिर जीवन की अभिलाषा करते थे। वैदिक युग में आयुर्वेद की अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। अश्विनीकुमार, वरुण, रुद्र आदि अनेक देवता वैद्य थे। अश्विनीकुमारों की नेत्र-चिकित्सा और टूटी हड्डी का जोड़ना प्रसिद्ध कार्य थे। वरुण का विशाल औषधालय था, जिसमें हजारों वैद्य कार्य करते थे।

अथर्ववेद में अनेक रोगों के लक्षण, निदान और चिकित्सा का सूक्ष्म विवेचन है। विभिन्न रोगों के निवारण के लिए विविध द्रव्यों का उपयोग किया जाता था, जैसे--कुष्ठ के द्वारा तक्मज्वर नष्ट किया जाता था। नितत्नी के प्रयोग से केश बढ़ाये जाते थे। रजनी के प्रयोग से कुष्ठ का निदान होता था। सूर्य-रश्मियों में क्रिमि-नाशक शक्ति का ज्ञान उस समय था। वैद्य जानते थे कि शरीर के अनेक अंग और जंगली औषधियाँ क्रिमियों के आश्रय-स्थान हैं और क्रिमि अनेक प्रकार के होते हैं। वे

१. **Wilson**; *Quoted in Mill's History of India Vol I, p. 107.*

विषैले भी होते हैं। रोहिणी के प्रयोग से टूटी हुई हड्डी को जोड़ दिया जाता था। मच्छरों का नाश करने के लिए किसी वनस्पति का प्रयोग होता था। अपामार्ग, पिप्पली और अरुन्धती औषधियों के उपयोग से अनेक रोगों का निदान और उपचार किया जाता था।

परवर्ती साहित्य के अनुसार भरद्वाज नामक विद्वान् आयुर्वेद के प्रथम आचार्य हुए भरद्वाज की शिष्य-परम्परा में आयुर्वेद का विकास हुआ। उसके पश्चात् आयुर्वेदज्ञों की दूसरी परम्परा पुनर्वसु से प्रारम्भ होती है। पुनर्वसु के छः शिष्य थे––अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि। सभी शिष्यों ने स्वतंत्र रूप से आयुर्वेद का अनुसन्धानपूर्ण विवेचन किया है। चरक ने उन सभी के ज्ञान का पुनः संस्कार करके, उसे संकलनात्मक रूप में उपस्थित किया। चरक-संहिता में अग्निवेश के कार्य की विशेष रूप से प्रशंसा की गई है।

चरक-संहिता में आठ अध्याय हैं। सूत्र-स्थान में औषधि, पथ्य, वैद्य के कर्त्तव्य आदि का वर्णन है। निदान-स्थान में ज्वर, रक्तस्राव, कुष्ठ, क्षय आदि का विवेचन है। विमान-स्थान में रोगों के परीक्षण और उनके योग्य औषधि का वर्णन है। इन्द्रिय-स्थान में इन्द्रियों की विकृति का विवेचन और वाणी-सम्बन्धी विकार तथा शक्तिक्षय आदि का उल्लेख है। चिकित्सा-स्थान में रोगों का निदान, स्वास्थ्य-वृद्धि और दीर्घ जीवन के उपाय, वातरोग और ज्वर आदि का विश्लेषण है। कल्पस्थान में शरीर-शोधन द्वारा रोगों के निवारण का वर्णन है। सिद्धि-स्थान में विषम रोगों की चिकित्सा के लिए औषधि के शरीर में प्रवेश करने की व्याख्या है।

चरक का प्रादुर्भाव संभवतः ईसा के पूर्व हुआ होगा। श्री प्रफुल्लचन्द्र राय के मतानुसार वे बौद्ध युग से भी पूर्ववर्ती हैं।

उपर्युक्त समय में आयुर्वेद की विशेष प्रगति का परिचय तत्कालीन साहित्य के उल्लेखों से प्रमाणित है। जैसे, पशुओं के शारीरिक अंगों के कट जाने पर चर्म से चर्म, मांस से मांस और स्नायु से स्नायु को जोड़ दिया जाता था। पक्षियों की चिकित्सा भी प्रचलित थी। साँप के काटने की चिकित्सा सफलतापूर्वक होती थी। मानसिक चिकित्सा का प्रचलन था। मानसिक चिकित्सा मनोवैज्ञानिक विधि से होती थी। अंधों को नेत्रदान के निमित्त दूसरों के नेत्रों को निकालने का प्रयोग औषधि की सहायता से किया जाता था। कृत्रिम नासिका का उपयोग नककटे लोग करते थे। वमन और घी, गुड़ तथा मधु के भक्षण द्वारा विष के प्रभाव को दूर किया जाता था। शक्कर मिले हुए आम के रस से उदर-सम्बन्धी वायुविकार को शान्त किया जाता था।

औषधियों को मधुर बनाने के लिए उन्हें फूलों के साथ रख देते थे। ऐसी औषधियों के प्रयोग से रोग शान्त हो जाते थे।

कुछ रोग औषधियों के सूँघने से दूर किये जाते थे। पसीना बहाकर वातरोग शान्त किया जाता था। उस समय की चिकित्सा-पद्धति अल्प-व्यय-साध्य थी।

बौद्ध काल का सर्वश्रेष्ठ वैद्य जीवक था। उसने तक्षशिला विश्वविद्यालय में सात वर्ष तक चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया था। उसकी चिकित्सा-सम्बन्धी अद्‌भुत सफलताओं का वर्णन बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है। उसने सिर की पीड़ा दूर करने के लिए रोगी के सिर का शल्य-कर्म करके दो कृमियों को बाहर निकाला था। किसी सेठ के उदर-विकार को दूर करने के लिए उसने उदर का शल्य-कर्म करके आँतों को पुनः यथास्थित कर दिया। वह वैशाली साकेत, काशी, उज्जयिनी आदि प्रदेशों में जाकर महाजनों के रोगों की चिकित्सा किया करता था।

जीवक के सम्बन्ध में कम्स्टन महोदय ने लिखा है कि एक बार उसे एक लकड़हारा मिला, जिसकी आँतें प्रत्यक्ष दिखाई देती थीं। उसने सोचा—भैषज्यराज के विषय में कहते हैं कि उससे शरीर की आंतें प्रत्यक्ष हो जाती हैं। क्या इस लकड़हारे के सिर पर भैषज्यराज ही तो नहीं है? फिर तो जीवक ने एक-एक लकड़ी को उसके सिर से अलग करके भैषज्यराज को ढूँढ़ निकाला।

महाभारत के अनुसार प्राचीन समय में चार प्रकार के वैद्य होते थे—(१) विष-वैद्य, (२) शल्य-वैद्य, (३) रोग-वैद्य, (४) कृत्याहर-वैद्य। उस समय पागलों की चिकित्सा धूप, अञ्जन, नस्यकर्म और औषधियों के द्वारा की जाती थी। मानसिक और शारीरिक रोगों का पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात था।[१]

महाभारत-काल में पशु-चिकित्सा का विकास हुआ। महाराज अशोक ने मनुष्यों की चिकित्सा के साथ पशुओं की चिकित्सा की भी व्वस्था की थी। उन्होंने स्वदेश तथा विदेशों में औषधियों के उत्पन्न करने के लिए सहायता पहुँचाई। ग्रीक लेखकों ने प्राचीन भारतीय चिकित्सा-पद्धति की प्रशंसा की है।

अर्थशास्त्र में आशुमृत व्यक्ति की वैज्ञानिक परीक्षा-विधि का वर्णन है। जैसे—विष द्वारा मरे हुए व्यक्ति के अवशिष्ट भोजन की परीक्षा जल द्वारा की जानी चाहिए। उसे हृदय-स्थान से निकाल कर अग्नि में डालने पर, यदि वह चटचट शब्द करे और लपट का रंग इन्द्रधनुष जैसा हो तो उसे विषयुक्त समझना चाहिए।

भारत में परवर्ती युग में जिस प्रकार शारीरिक चिकित्सा की उन्नति चरक ने की, उसी प्रकार शल्य-चिकित्सा की प्रतिष्ठा सुश्रुत ने की। वैद्यों की आचार-पद्धति को प्रवर्तित करने वाले चरक और सुश्रुत थे। उपनयन के समय गुरु विद्यार्थी को आदेश देता था—सम्पूर्ण प्राणियों का कुशल ही तुम्हारी कामना हो। प्रतिदिन

१. द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपपद्यते ॥ आ० मे० १२. १

रोगियों के आरोग्य के लिए सब प्रकार से प्रयत्न करो। दूसरे के धन की कामना मत करो। आडम्बरयुक्त वेश-भूषा मत धारण करो। शराब मत पियो। पाप से बचो। सदैव आरोग्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का चिन्तन करो। अपनी प्रशंसा मत करो। शत्रु से भी प्राप्त करने योग्य ज्ञान को ग्रहण करो। गुरुओं के साथ शिष्टतापूर्वक व्यवहार करो। इसके बाद शिष्य कहता था——मैं ऐसा ही करूँगा।

सुश्रुत वैद्यों के लिए शास्त्र-ज्ञान और कार्यकुशलता, दोनों को समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानते थे। जैसे——

'जो केवल शास्त्रों का विद्वान् होकर कार्य में अकुशल है वह रोगी को प्राप्त करके उसी प्रकार विमूढ हो जाता है, जिस प्रकार भीरु व्यक्ति युद्ध में पहुँचने पर। जो व्यक्ति कर्म में तो निष्णात है, किन्तु शास्त्र-ज्ञान से शून्य है, वह सत्पुरुषों में प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं करता और राजकीय मृत्युदण्ड को प्राप्त करता है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के अनिपुण व्यक्ति अपना कार्य करने में असमर्थ होते हैं। अपूर्ण ज्ञान धारण करने वाले ऐसे वैद्य एक पंख वाले पक्षी के समान हैं।

शिष्य को कार्य-कुशल बनाने के लिए उसे भली प्रकार से अभ्यास-सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी। आभ्यासिक शिक्षा के लिए पुष्प, फल, मूल, मृत पशु के अंग, पुरुष के अंगों की पुठ्ठे से बनाई हुई मूर्ति आदि का उपयोग होता था। शल्य-कर्म सम्बन्धी वैज्ञानिक नियम बने थे। यथा, शिराएँ मछली की भाँति चंचल हैं। उनका शल्य-कर्म यत्नपूर्वक करना चाहिए। शल्य-चिकित्सा का युद्ध-भूमि में उपयोग होता था। इस प्रकार इसे राजाश्रय प्राप्त हुआ।

उपकल्पनीय सम्भार-प्रकरण में सुश्रुत ने शल्यागार की विशेषताओं का निरूपण किया है। वहाँ पर मनोरञ्जन करने वालों, गाथा, आख्यायिका, इतिहास और पुराण के विद्वानों तथा गीत तथा वाद्य के आचार्यों की उपस्थिति आवश्यक थी। तीतर, बटेर, शशक, हरिण, गाय तथा हरिणियाँ आदि भी वहाँ उपस्थित रहती थीं। ऐसे वातावरण में रोगियों की सेवा-शुश्रूषा अधिक आनन्दपूर्वक होती थी।

गुप्तकालीन आयुर्वेद की प्रगति वाग्भट के अष्टाङ्ग-संग्रह नामक ग्रन्थ से प्राप्त होती है। इस ग्रन्थ में शारीरिक चिकित्सा और शल्य-कर्म को लेकर अनेक नवीन प्रयोग किए गए हैं। उसमें चरक-संहिता और सुश्रुत-संहिता का ज्ञान विशद और स्पष्ट रूप से संकलित दिखाई पड़ता है।

गुप्त-युग का, गुप्तकालीन लिपि में लिखा हुआ, एक आयुर्वेद-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तुर्किस्तान के किसी स्तूप में प्राप्त हुआ है। यह ग्रन्थ १८६० ई० में कर्नल बावर महोदय को मिला था। इस में ७ अध्याय हैं। ग्रन्थ के नवनीतक

प्रकरण में प्राचीन समस्त आयुर्वेद-संहिताओं का सार संगृहीत है। उसमें चूर्ण, रस, काढ़ा, तेल, अमृत पेय, लहसुन आदि के प्रयोगों की व्याख्या है।

गुप्त-युग में वृक्ष-सम्बन्धी आयुर्वेद तथा पशुचिकित्सा की उन्नति हुई। वराहमिहिर की 'बृहत्-संहिता' में वृक्ष-चिकित्सा-सम्बन्धी प्रकरण है। पालकाप्य ने 'हस्त्यायुर्वेद' की रचना की। इस ग्रन्थ में हाथियों के रोगों के परीक्षण तथा चिकित्सा विषयक १६० अध्याय लिखे गए हैं। उसमें शल्यचिकित्सा का प्रकरण है। पौराणिक साहित्य में भी कहीं-कहीं चिकित्सा-सम्बन्धी विवरण प्राप्त होते हैं।

भारतीय चिकित्सा-पद्धति की सर्वोत्कृष्टता को विदेशी विद्वानों ने भी प्रमाणित किया है। मैकडानल के अनुसार :--

In modern days European surgery has borrowed the operation of rhinoplasty or the formation of artificial nose from India, whereas English men became acquainted with the art in the last century.

अलबेरूनी के अनुसार भारतीय रसायन-शास्त्रियों को वृद्ध को युवा बनाने वाली और श्वेत केश को स्थायी रूप से काला करने वाली औषधियों का ज्ञान था।

अन्य विज्ञान

उपर्युक्त वैज्ञानिक विषयों के सर्वाङ्गीण अध्ययन में, निःसंदेह विज्ञान के अनेक अन्य भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है। सबसे पहले आयुर्वेद में ही वनस्पति-विज्ञान, रसायन-शास्त्र, भौतिकविज्ञान, मनोविज्ञान, धातुविज्ञान और प्राणि-शास्त्र का समन्वय हो जाता है। ज्योतिष-शास्त्र में भौतिक विज्ञान अन्तर्हित है। संस्कृति के प्रारम्भ से ही, भोज्य पदार्थों का अनुसन्धान कृषिकार्य, शस्त्रों तथा यन्त्रों का प्रयोग, धातुओं का शोधन तथा प्रयोग, रंगों का निर्माण तथा चित्रण और सौन्दर्य तथा सजावट-सम्बन्धी द्रव्यों का निर्माण विज्ञान के द्वारा संभव हुआ। दार्शनिकों ने भी प्राकृतिक तत्त्वों के गुण और परिभाषाओं की व्याख्या की है।

रसायन-विज्ञान

रसायन-विज्ञान का सर्वत्र ही आरम्भ में व्यावहारिक उपयोग तीन क्षेत्रों में होता था--आयुर्वेद, धातुकर्म और शिल्पकर्म।[1] इस विज्ञान के व्यावहारिक स्वरूप का वर्णन सर्वप्रथम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। इसके प्रारम्भिक आचार्यों में पतञ्जलि सुप्रसिद्ध हैं। ईसवी शती के प्रारम्भिक युग में नागार्जुन का प्रादुर्भाव हुआ

१. सिन्धु-सभ्यता की वस्तुओं को देखने से स्पष्ट है कि तत्कालीन भारत में रसायन की अच्छी प्रगति थी।

था। नागार्जुन का पारद-सम्बन्धी तत्वान्वेषण उस युग की एक सर्वोच्च खोजों में से था।

परवर्ती युग में गुप्तवंशी राजाओं के शासन-काल में रसायन-विज्ञान की विशेष प्रगति हुई। उस युग की रासायनिक खोजों का समादर योरप में लगभग १००० वर्ष पश्चात् हुआ।

अर्थशास्त्र में विष-प्रयोग, प्रलम्भन, बुभुक्षा-निवारण आदि प्रकरणों में अनेक वस्तुओं के सम्मिश्रण से भाँति-भाँति की औषधियों के निर्माण की विधियाँ दी गई हैं। इसके अनुसार पारिभद्रक-प्रतिबला-वञ्जुल-वज्र-कदलीमूलकल्ल के साथ मेंढक की वसा से समायुक्त तेल को पैर पर लेप करके अंगारों पर चलने से भी पैर जलता नहीं। अर्थशास्त्र में धातुओं के शोधन की विविध प्रणालियाँ भी दी गई हैं। सुरा के बनाने में भी रसायन का उपयोग होता था। असंख्य वस्तुओं के मिश्रण से विविध प्रकार की सुराएँ बनाई जाती थीं।

नागार्जुन के रसरत्नाकर में रासायनिक द्रव्यों के शोधन, मारण, रूप-परिवर्तन, द्रव्य-परिवर्तन आदि विषयों का प्रतिपादन मिलता है, साथ ही पारद निकालने की विधि दी गई है। पारद और स्वर्ण के योग से दिव्य देह प्राप्त करने का उपाय भी रसरत्नाकर में प्रस्तुत है। उस प्राचीन युग में रासायनिक प्रक्रियाओं के लिए गर्भ-यन्त्र, कोष्ठिका-यन्त्र, वक्रनाल आदि का उपयोग होता था। बारहवीं शती के रसार्णव और रस-हृदय नामक ग्रन्थों में रसरत्नाकर की वैज्ञानिक परम्पराओं का विकास मिलता है। इसी शती में सोमदेव ने रसेन्द्र-चूडामणि में कुछ नये रासायनिक प्रयोगों का वर्णन किया है और यशोधर ने रसप्रकाश-सुधाकर में कर्पूर-रस, रसक आदि बनाने की विधियाँ लिखी हैं। यशोधर ने हेमक्रिया-प्रकरण में सोना बनाने की विधि दी है। तेजाब बनाने की विधि का परिचय सोलहवीं शती के पश्चात् के ग्रन्थों में मिलता है।

अनेक प्रकार के क्षारों का निर्माण सुदूर प्राचीन काल से होता आ रहा है। चक्रपाणि और वाग्भट ने क्षारों के बनाने की अनेक विधियाँ दी हैं।

भारतीय उद्योगों और शिल्पों की प्रगति में रसायन-शास्त्र की अतिशय उपयोगिता रही है। सोने-चाँदी के बरतनों के बनाने में और उनको रँगने में रसायन का उपयोग होता था। मिट्टी के बरतनों को और वस्त्रों को रँगने का काम सुदूर प्राचीन काल से लोकोपयोगी रहा है।

परवर्ती युग में नागार्जुन के द्वारा प्रवर्तित विज्ञान की परम्परा रसार्णव, रसेन्द्रचूडामणि, रसहृदय, रसराजलक्ष्मी और रसरत्नमुच्चय में विकसित दिखाई पड़ती है।

क्षार बनाने की विधि, सर्वप्रथम अर्थशास्त्र में दिखाई पड़ती है। उसके बाद सुश्रुत संहिता में औषधियों के निर्माण के लिए अनेक प्रकार के क्षारों के निर्माण करने की विधि और उनके प्रभाव का वर्णन किया गया है।

अग्निचूर्ण का सबसे प्रथम उल्लेख स्पष्ट रूप से रामायण में दिखाई पड़ता है। जैसे--

अग्निचूर्णमिवाविद्धं भास्वराम्बुमहोरगम्
सुरारिविषयं घोरं पातालविषमं सदा ।। युद्धकाण्ड ४.११६

शुक्रनीति में अग्निचूर्ण के विशेष उपयोग और उसके निर्माण करने की विधि का वर्णन है।

भौतिक विज्ञान

सुदूर प्राचीन काल में ऋषियों ने प्रतीत किया था कि एक तत्त्व से सारी सृष्टि का विकास हुआ है। उपनिषद्-काल में देव-विद्या और नक्षत्र-विद्या का अध्ययन किया जाता था। ये दोनों विद्याएँ भौतिक विज्ञान की परिधि में समाविष्ट हैं। दर्शन-शास्त्र में पाँच तत्त्वों का वैज्ञानिक अनुशीलन किया जाता था। उन तत्त्वों का प्रथम रूप अणु और परमाणु है, यह निश्चय किया गया। आकाश आदि के गुण स्थिर किए गए। इस सम्बन्ध में विल्सन महोदय ने लिखा है--

The Hindus early adopted the doctrine that there is no vacuum in nature but observing that air was excluded under various circumstances from space, they devised, in order to account for the separation of particles, a subtle element or ether by which all interstices, the most minute and inaccessible, were pervaded which modern philolophy intimates some tendency to adopt, as regards the planetary movements and it was to this subtle element that they ascribed the property of conveying sound, in which they were so far right that in vacuo there can be no sound. Air again is said to be possessed of the faculty of touch, that it is the medium through which the contact of the body is effected—ether keeps them apart, air impels them together. Fire or rather light has the property of figure. Mr. Colebrook renders it all of colour. In either case, theory is true, for neither colour nor form is discernible except through the medium of light. Water has the property of taste, an affirmation which is perfectly true, for nothing is sensible to the palate, until it is dissolved by the natural fluids.

गुप्त-काल में वराहमिहिर ने वर्षा करने वाले मेघों और वायुओं के लक्षणों का निर्धारण किया था । कणाद, वाचस्पति और उमास्वाति ने प्रकाश, उष्णता आदि की उत्पति के विषय में अनुसन्धान प्रस्तुत किये ।

वनस्पति-विज्ञान

ऋग्वेद के अनुसार, वैदिक युग में वैद्यों को औषधियों की विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए अवसर प्राप्त था । यथा––'जैसे राजा लोग समिति में एकत्र होते हैं, वैसे ही जिसके पास औषधियाँ हैं, या जो उन्हें जानता है, उसी बुद्धिमान् भिषक् को चिकित्सक कहा जाता है । वह रोगों का विनाशकर्ता है ।'

परवर्ती युग में सदैव वनस्पतियों की अनेक प्रकार की उपयोगिता का अनुसंधान किया गया है। वन और उपवनों में उनके मूल, पत्र, पुष्प, फल, काष्ठ, छाल, रस आदि का वैज्ञानिक विवेचन करके, मनुष्य के लिए उनके हानि-लाभ का निश्चय किया जाता था । विल्सन महोदय ने प्राचीन भारतीय वनस्पति विज्ञान के विषय में लिखा है :––

They (the Hindus) were very careful obeservers of both of the internal and external properties of plants and furnished, copious lists of the vegetable world, with sensible notices of their uses, and names significant of their peculiarities.

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के सीताध्यक्ष-प्रकरण में वनस्पति-शास्त्र-संबंधी अनेक शोधों का वर्णन है । गुप्तकालीन वराहमिहिर ने बृहत्सहिता में उपवन-विद्या के विषय में वैज्ञानिक प्रयोगों का निर्देश किया है । उसमें बिना ऋतु के फल उत्पन्न करने के विषय में महत्त्वपूर्ण प्रकरण है । बृहत्संहिता के वृक्षायुर्वेद-प्रकरण में वनस्पति-शास्त्र के संबंध में वैज्ञानिक व्याख्यान है ।

प्राणि-विज्ञान

संस्कृति के प्रारम्भ से ही मनुष्य पशुओं की उपयोगिता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं । आरम्भ में पशुओं का खाने के लिए उपयोग होता था । इसके बाद कुछ पशु भारवहन और कृषि के उपयोग में लाए गए । मनोरञ्जन के लिए अनेक पशु पाले गए और उन्हें शिक्षित किया गया । चिकित्सा के लिए पशुओं के मांस, रक्त, स्नायु, चर्बी, हड्डी, सींग आदि का उपयोग किया गया । पशु-चिकित्सा का समारम्भ प्रायः वैदिक काल से सदैव चला आ रहा है । इसी प्रयोजन से पशुओं के आहार-विहार आदि का विचार किया गया ।

जैन-संस्कृति में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों का वर्गीकरण है । वृक्ष प्राण-धारी है—यह वैज्ञानिक सत्य भी जैन-दर्शन में निर्णीत है ।[1]

सूक्ष्म प्राणियों का अस्तित्व स्पष्ट रूप से निर्धारित किया गया था, जैसे—

"कुछ ऐसे भी सूक्ष्म योनि वाले तथा केवल तर्कगम्य प्राणी हैं, जो बरुनी के गिरने-मात्र से नष्ट हो जाते हैं ।"

अर्थशास्त्र के सूत्राध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, गोऽध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष आदि प्रकरणों में पशु-विज्ञान का विवेचन है । गुप्तकालीन वराहमिहिर की बृहत्संहिता में गज, अश्व, कुक्कुर आदि के शुभ तथा अशुभ लक्षणों का विवेचन किया गया है ।

धातु-विज्ञान

मनुष्य ने नवीन प्रस्तर-युग से ही स्वर्ण आदि धातुओं का उपयोग प्रारंभ कर दिया था । उस समय से भूमि तथा समुद्र के गर्भ और पर्वत के शिखरों में बहुमूल्य रत्न, मोती, माणिक्य आदि का प्राप्त करना सदैव प्रचलित रहा है । अर्थशास्त्र, और बृहत्संहिता का रत्न-परीक्षा-प्रकरण महत्त्वपूर्ण है । धातु-विज्ञान का चरमोत्कर्ष दिल्ली के गुप्तकालीन लौह स्तम्भ से प्रमाणित है । आज भी उस स्तम्भ में किसी प्रकार का विकार नहीं आया । उस स्तम्भ का निर्माण आश्चर्यजनक कुशलता का प्रदर्शक है । योरप में विज्ञान के द्वारा, गुप्त-युग के सहस्रों वर्ष पश्चात्, वैसे स्तम्भ का निर्माण सम्भव नहीं था ।

यन्त्र-विज्ञान

अथर्ववेद के सूक्तों से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में कृत्या यन्त्र के द्वारा चलाई जाती थी । मूर्तिमयी कृत्या अपने-आप चलने में समर्थ थी । परवर्ती युग में रामायण के अनुसार रामसेतु का निर्माण यन्त्र से उठायी गयी शिलाओं के द्वारा किया गया था । महाभारत के अनुसार युद्धोपयोगी यन्त्र-सूत्र प्रसिद्ध था । दुर्गों में युद्ध के लिए यन्त्र सुरक्षित रहते थे । गीता का निम्न श्लोक निःसंदेह यन्त्र की आपचालू परिचालन-शक्ति को प्रमाणित करता है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(हे अर्जुन, समस्त प्राणियों को अपनी माया के बल से घुमाता हुआ यन्त्रारूढ ईश्वर, समस्त प्राणियों के हृदयदेश में स्थित है ।)

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में युद्ध के लिए अनेक प्रकार के यन्त्रों के उपयोग का वर्णन है । जैसे—चक्र-यन्त्र भ्रमणशील था । स्थित-यन्त्र किसी स्थान पर स्थित रहता

१. जैन-संस्कृति के पद्मपुराण २४·६३ में जीवविज्ञान का उल्लेख है ।

था। चलयन्त्र प्रयोग के लिए यहाँ-वहाँ ले जाया जाता था। मनु ने महायन्त्र के प्रयोग को एक प्रकार का पातक माना है।

यन्त्र-निर्माण करने की विधि का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसका कारण भारतीय अन्धविश्वास प्रतीत होता है कि लिखने से उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। इसी बात को लक्ष्य करके समराङ्गण-सूत्रधार में कहा गया है—

"यन्त्रों के निर्माण की विधि केवल गुप्त रखने के निमित्त से ही नहीं कही गई है, न कि इस कारण से कि उन्हें इसका ज्ञान नहीं था। कारण यह है कि ये व्यक्त हो जाने पर फलप्रद नहीं होते।"

विमान-विज्ञान

भारतीय वैज्ञानिक विमानों का निर्माण करते थे अथवा नहीं, यह विवादास्पद है। साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि विमानों की रचना होती थी। रामायण के अनुसार रावण की राजधानी में अनेक विमान थे। पुष्पक विमान की कथा सुविदित ही है। महाभारत के अनुसार देवों के विमान विश्वकर्मा द्वारा बनाये जाते थे। शिशुपाल के भाई शाल्व ने युद्ध के लिए सौभविमान का प्रयोग किया था। कालिदास के रघुवंश और अभिज्ञान-शाकुन्तल में जिस विमान-यात्रा का वर्णन है, वह वास्तविक प्रतीत होती है।

विमान रचना की विधि का वर्णन समराङ्गण-सूत्र में मिलता है। भारद्वाज-रचित वैमानिक शास्त्र में विमान-रचना की रीति है।[1] उसके अनुसार १८९० ई० में बम्बई में एक विमान का निर्माण किया गया था और वह विमान आकाश में उड़ा भी था।

ऋग्वेद में सर्वप्रथम विमान का उल्लेख मिलता है।[2]

---

१. इस ग्रन्थ के कुछ अंश दिल्ली की आर्यसभा द्वारा वैमानिक शास्त्र नाम से प्रकाशित हो चुके हैं।

२. ऋग्वेद १. ११६.४। विमान-रचना के अन्य उल्लेखों के लिए नानजी-कालिदास-महेता-स्मृति ग्रन्थ पृष्ठ ४४७ द्रष्टव्य है।

चतुर्दश अध्याय

वैदेशिक प्रसार

भारतवासियों ने प्राचीन काल में अपनी सांस्कृतिक निधि का उदारतापूर्वक विदेशी जनों के लिए वितरण किया। इसके लिए सुदूर प्राचीन काल से बहुत से भारतीयों ने विदेशों में जाकर भारत का सांस्कृतिक संदेश दिया।[1] सहस्रों विदेशियों ने भारत में आकर उसके सांस्कृतिक सागर में अवगाहन करके जीवन के परम उद्देश्य की प्राप्ति की।[2]

सांस्कृतिक परिवेदन

प्राचीन काल में मनुष्य का अदम्य उत्साह उनके अद्भुत पराक्रम के इतिहास को प्रस्तुत करता है। निस्संदेह, उस समय विज्ञान के बल से प्राप्य साधनों का अभाव था। फिर भी हिमालय प्रदेश में गौतम बुद्ध के जीवन-काल से शिक्षण-संस्थाएँ प्रतिष्ठित थीं। वहाँ शङ्कराचार्य का विश्वविद्यालय स्थित था। उस युग में हिमालय के उन्नत भाग पर चढ़ने के लिए अगणित कष्टों का सामना करना पड़ता था। विद्या के अभिलाषी फाह्यान, ह्वेनसांग आदि विदेशी यात्रियों ने कष्टों की गणना न करते हुए हिमालय के ऊँचे भाग वाले मार्गों, जंगलों और सागरों को पैदल और नौकाओं द्वारा पार किया था। इस बात से भारतीय अथवा विदेशी प्राचीन मनीषियों के मनोबल और ज्ञान-तत्परता का परिचय मिलता है।

संस्कृति के प्रसार के लिए भारतीय 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदात्त भावना से प्रेरित होकर आचरण करते थे[3]। वे संध्यामंत्रों में नित्य, पृथ्वी की कल्पना हाथ पर

---

१. इस देश में उत्पन्न विद्वानों से, पृथ्वी में उत्पन्न सभी मानवों ने अपने-अपने चरित्र की शिक्षा प्राप्त की। मनुस्मृति २.२०

२. जैसे सप्तम शताब्दी में इस्लाम धर्म को ग्रहण करने के अनिच्छुक अनेक पारसियों ने बम्बई में शरण प्राप्त की।

३. आज भी सारी पृथ्वी को अपना देश मानने वाले जिप्सी (रोमनी) योरप और अमेरिका में भारतीय रीति-नीति लिए फिरते हैं। वे वहाँ सुदूर प्राचीन काल में जा पहुंचे थे।

स्थित आँवले के रूप में किया करते थे। भारतवासी विश्व की संस्कृति-संबंधी आवश्यकताओं को अपनी ही मानकर उसकी पूर्ति का प्रयत्न किया करते थे। वे पूर्वपुरुष आदर के पात्र हैं, जो समस्त विश्व को मानवता के एक सूत्र में गूँथने के लिए निष्काम कर्मयोगी बने। इन मनस्वियों में भारतवासियों की संख्या अविरल है।

अमेरिका से सम्बन्ध

प्राचीन काल में भारत का अमेरिका से सम्बन्ध सर्वप्रथम कब स्थापित हुआ, यह जानना असम्भव ही है। काबुल से पाँच भिक्षु ४५८ ई० में अमेरिका गये। मैक्सिको का इतिहास, आचार, प्राचीन कीर्ति-चिह्न आदि से भारत का उस देश से निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है। स्पेन के लेखकों ने जो प्राचीन मेक्सिको का वर्णन किया है, उससे सिद्ध होता है कि धर्म, शिल्प, गृह-निर्माण, मासगणना आदि की दृष्टि से तत्कालीन मैक्सिको एशिया की सस्कृति का ऋणी था।[१] वहाँ पालेङ्क में गौतम की मूर्ति है, जिसका नाम शाक माल (शाक्य मुनि) है। मैक्सिको के शासकीय इतिहास के अनुसार पहले-पहल भारतवासी अमेरिका में आये। उन्होंने बड़े मन्दिर, भवन और बाजार की रीति चलाई और सभ्यता फैलाई। मैक्सिको में स्थान-स्थान पर शिव, हनुमान, कूर्मावतार आदि देवी-देवताओं के मन्दिर, मूर्तियाँ आदि हैं। अमेरिका-यात्रा के दो मार्ग थे--पहला सामुद्रिक था, जो लङ्का, बङ्ग-समुद्र, जावा, बाली और मेक्सिको होकर जाता था। दूसरा स्थलमार्ग था, जो चीन, मंगोलिया, जापान, बेहरिंग और अलास्का होकर जाता था।[२] उसी प्राचीन काल के पहुँचे हुए बहुत से भारतीय जिप्सी अमेरिका में मिलते हैं। फ्रायर ने सिद्ध किया है कि १५०० वर्ष पहले बौद्ध अमेरिका से परिचित थे, जैसा तत्कालीन भित्तिचित्रों, उट्टङ्कित शिलाओं, स्तूप-विहारों और अलंकारों से सिद्ध होता है।

प्राचीन काल में वैदेशिक संबंध प्रायः पाँच प्रकार के होते थे--व्यापारिक, धार्मिक, राजनीतिक, कलात्मक और साहित्यिक। वास्तव में व्यापार के द्वारा राजनीति, धर्म, कला आदि का विदेशों में प्रसार स्वयं ही हो जाता है। कहीं पर राजनीति-सम्बन्ध भी व्यापार-वृद्धि के लिए होते हैं। व्यापारियों के साथ

---

१. *The Buddhist Discovery of America*, Published in Harper's magazine. डा० दिलीप कुमार कांजीलाल ने उत्कीर्ण लेख के आधार पर इस मत का समर्थन किया है।

२. भारत के अमेरिका से प्राचीन सम्बन्ध के प्रमाण निम्न प्रकार हैं—पेरू प्रदेश के सीताराम की कथा से सम्बन्धित उत्सव, भारत से मिलते हुए सांस्कृतिक अवशेष और गणेश-पूजा।

देशभ्रमण के लिए उत्सुक अथवा धर्मप्रचार करने वाले विद्वानों ने विदेशों में जाकर उपनिवेश स्थापित किए। प्राचीन काल में धर्मप्रचारक प्रायः शिल्पकला आदि में निष्णात होते थे। उपर्युक्त सभी कार्य साहित्य की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार वैदेशिक संबन्ध के प्रायः सभी आयोजन एक दूसरे पर आश्रित प्रतीत होते हैं।

दार्शनिक और धार्मिक प्रसार

प्राचीन काल में समस्त संसार में धर्म के प्रति उत्साह था। स्वदेशी अथवा विदेशी धार्मिक तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर, सभी लोग अपने जीवन की गतिविधि को तदनुकूल बनाने के लिए उत्सुक होते थे। उस समय ऐसा कोई धार्मिक आग्रह नहीं था कि अपना हीन धर्म भी अपरिवर्तनीय है और दूसरे का श्रेष्ठ धर्म अग्राह्य है। संसार में सर्वत्र धर्मप्रचारकों का सम्मान होता था। जैसे आजकल ईसाई धर्म के उपासक लोग विश्व के अनेक भागों में ईसाई धर्म का प्रचार करते हुए दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही प्राचीन काल में अन्य धर्म-प्रचारक काम करते थे।

विश्वव्याप्ति

भारतवासियों ने संभवतः संस्कृति के आदिकाल से अपने धर्म का प्रचार और परधर्म के ज्ञान के लिए देश-विदेशों का भ्रमण किया और वहाँ आश्रम-संस्थाओं का विकास किया। विदेशों में पाए जाने वाले प्रागैतिहासिक अवशेषों तथा प्राचीन कथाओं के परिशीलन से इन क्षेत्रों में भारतीयों द्वारा किए गए कार्यों का ज्ञान होता है। इस बात को लेकर विदेशी विद्वानों के मत उल्लेखनीय हैं। अमेरिका में प्रागैतिहासिक काल में भारतीय धर्म-संबन्धी उत्सव तथा रामकथा के प्रचलन का वर्णन पहले किया जा चुका है। रामकथा को लेकर विलियम जोन्स महोदय ने लिखा है—

Rama is Ramah of scriptures, father of Cush.[१]

रूफस जान्सन ने 'The Flowering of Mysticism में सिद्ध किया है Movement of Indian ideas through Persia, Alexandria, Cordoba. Padua and thence by Paris on to the Rhine, influencing and forming the thought and practice of the first great schools of western mysticism.,

सिसली के चर्च में पूजित सेण्ट बरलाम भारतीय बुद्ध हैं। यह निस्सन्दिग्ध प्रमाणित है।

वैदिक धर्म के प्रसार के विषय में मैक्समूलर लिखते हैं—

That civilisation pervades in every corner of the civilised world, and is aroused about us every day of our lives.[२]

---

१. *Asiatic Research Vol. ii p* 40.

२. **India** : *What can it teach us ? p.* 74

बौद्ध धर्म के विषय में कथा प्रचलित है—The footprints of the Buddha were worshipped by his followers and were called Phrabat. They were engraved on rocks and hills, where people flocked form all parts of the country to worship them......Six such Phrabats are found in the East, one of them in Mecca, where the Buddhists made pilgrimages long before the rise of Islamism.[१]

और भी—The so called Hermes scriptures (the name of the sacred writing of the Egyptians) contain a metaphysical treatise in the form of a dialogue between Hermes and the Thodh, Bodh Budh, which throughout exhibits the doctrines of Buddhism.[२]

मिस्र में ५०० ई. पू. का एक कृष्ण-मन्दिर मिलता है ।

कर्नल टाड कहते हैं—That a system of Hinduism pervaded the whole Babylonian and Assyrian empires. Scriptures furnish abundant proofs in the medium of the various types of Sungod Balnath, whose pillar adorned every mount and every grave.[३]

मानियर विलियम ने लिखा है—Pythagoras and Plato both believed in this doctrine (of the transmigration of souls) and that they were indebted for it to Hindu writers.[४]

भारतीय ब्राह्मण पाँचवी शती ई० पू० में एथेन्स में दर्शन और धर्म का प्रचार कर रहे थे ।

मैकडानल कहते हैं—The hero of the story prince Josaphat has an Indian origin, being in fact no other than the Buddha, The name has been shown to be a corruption of Bodhisattva, a well known designation of the Indian reformer. Josaphat rose to the rank of a saint both in Greek and Roman Churches. That the founder of an oriental religion should have developed into a Christian saint is one of the most astounding facts in religious history.[५]

विंसेंट स्मिथ कहते हैं—Before the year 256 B. C. when the rock edicts were published collectively, the royal missionaries had been

---

१. **Covnt Bjornstjerna** *Theogony of the Hindus. p.* 92-93.

२. *Theogony of the Hindus p.* 100.

३. **Tod's** *Rajasthan Vo. ii p.* 605.

४. *Indian Wisdom p* 68.

५. *Sonkrit Literature. p.* 420.

despatched to all the protected states and tribes on the frontierss of the empire, Ceylon and to the Hellenistic monarchies of Syria, Egypt, Cyrene, Macedonia and Epirus......... The missionary organisation thus embraecd thrce continents—Asia, Africa and Europe[1]

क्राइस्ट ने बारह् वर्ष तक भारतीय आचार्यों से शिक्षा ली थी, जैसा unknown Life of Jesus Christ में बताया गया है ।

अर्मीनिया के चतुर्थ शताब्दी के लेखक जेनब के अनुसार एशिया-माइनर में भारतीय धर्म की अच्छी प्रतिष्ठा हो चुकी थी । यथा

In the second century B. C. two Indian Princes settled in Taron, west of Lake Van and erected temples for the worship of Giasne, identified with krishna. To this is traced the influence of the Bhagavata or krishna-cult on Christianity in those regions, where a little later it had as many as five thousand followers. अरमीनिया के बहुत से निवासी ईसाई धर्म के पूर्व हिन्दू धर्मानुयायी थे ।

फिलिस्तीन में बौद्ध धर्म का प्रचार ईसा के आविर्भाव के समय था। वहाँ के बौद्ध धर्म के प्रचारकों के विषय में इतिहासकार महफी का कहना है--These Buddhist missionaries were the forerunners of Christ.

विंसेण्ट स्मिथ ने कहा है—Some orthodox forms of Christian teaching owe some debt to the lessons of Gautam.

बाइबिल की उदाहरणात्मक कथाएँ जातक शैली के अनुरूप हैं ।

फारस देश के सम्बन्ध में ह्वेनसाँग ने लिखा है--यहाँ पर हिन्दू-धर्मावलम्बी प्रायः समस्त नगरों में अपने-अपने धर्म के अनुसार जीवन-यापन करते हुए निवास करते हैं ।[2] वहाँ ख्वाजा पर्वत से ऊपर बौद्ध-चैत्यों के अवशेष विद्यमान हैं । इस्लाम धर्म-प्रवर्तन के पूर्व बौद्ध धर्म के प्रसार द्वारा कास्पियन समुद्र-तट से लेकर जापान तक समस्त भूभाग धार्मिकता के एक सूत्र में बँध गया था। फारस के राजा दारा ने भारत से ईख भूमध्यसागरीय प्रदेशों में भेजा ।

चीन में बौद्ध धर्म

भारतीय संस्कृति, विशेषतः बौद्धधर्म, ईसा के पूर्व ही चीन देश में पहुँच गई थी ।[3] अगणित चीनदेशवासी भारत में आए । उन्होंने नेपाल, स्याम, बंगाल आदि प्रदेशों में रहते हुए भारतीय संस्कृति को स्वीकार किया । असंख्य भारतीय बौद्ध भी वहाँ गए ।

---

१. *Early History of India Vol. i. p.* 94.

२. Beal : *Buddhist Records Vol. ii.*

३. इण्डोचाइना में भारत 'इन्दु' नाम से प्रख्यात है ।

चीन से अगणित बौद्ध धर्मानुयायी, उत्साहपूर्वक, मार्ग के कष्टों की उपेक्षा करके, भारत आये और वे यहाँ पर बौद्ध विहारों में अध्ययन कर तथा बौद्ध तीर्थस्थानों को देखकर स्वदेश लौटते समय बौद्ध ग्रन्थ और बौद्ध मूर्तियों को अपने साथ ले गए। इस प्रकार उन्होंने अपनी यात्रा को सफल बनाया।

सबसे प्रथम तृतीय शताब्दी ई० पू० में अठारह चीनी भारत आए। इसके पश्चात् कश्यप, मातङ्ग और धर्मरत्न ने ६८ ई० में चीन जाकर वहाँ पाँच ग्रन्थों की रचना की। फारस के किसी राजकुमार ने बौद्धधर्म का महापाण्डित्य प्राप्त करके भारतीय बौद्ध पंडितों की सहायता से अनेक पालिग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद किया। चीन के विद्वानों ने उनके साथ चीनी अनुवाद करने की शिक्षा प्राप्त की। इसके पश्चात् अनेक भारतीय कई बार चीन गए। उन विद्वानों में कुमारजीव विशेष प्रख्यात हैं। वे चतुर्थ शताब्दी में बौद्ध भिक्षु के रूप में चीन गए थे। उन्होंने बारह वर्ष तक लगभग १०० ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।[1] वे ४१३ ई० में दिवंगत हुए, किन्तु उनके सहयोगी पुण्यत्रात, बुद्धयश और धर्मयश ४१७ ई० तक अनुवाद-कार्य में संलग्न रहे।

पंचम शताब्दी ई० में भारतीयों की अनेक बस्तियाँ चीन के नगरों में स्थित थीं। कश्मीर का राजकुमार राजपद त्याग देने के बाद चीन के राजा द्वारा वहाँ आमन्त्रित किया गया और ४३१ ई० में वह नानकिंग नगरी में रहा। एक ही वर्ष में उसने ११ ग्रन्थों का अनुवाद किया। काठियावाड़-निवासी धर्मगुप्त काबुल के समीप स्थित कपिशा नगर में दो वर्ष तक रहकर पैदल ही काशगर गए थे। वे वहाँ भी थोड़े दिन ठहरकर ५९० ई० में चीन पहुँचे। धर्मगुप्त ने बहुत से ग्रन्थों का अनुवाद किया। उन्होंने अपने ग्रन्थ में परिचित देशों का स्वयं देखी हुई कृषि, प्राकृतिक रचना, वेशभूषा, घर, समाज, शासन, भोजन, वस्त्र, शिक्षा आदि का वर्णन किया है। परवर्ती युग में सप्तम शताब्दी ई० तक जिज्ञासुओं तथा धर्म-प्रचारकों का चीन में आना-जाना होता रहा। छठीं शताब्दी में लगभग ३००० बौद्ध-भिक्षु और १०,००० भारतीय कुटुम्ब चीन के लोयाँग प्रान्त में निवास करते थे। उन पंडितों ने अनेक ग्रन्थों को चीन ले जाकर वहाँ उनका अनुवाद किया।[2] चीनी भाषा में मौलिक ग्रन्थों की रचना भी उन्होंने की।

---

१. कुमारजीव के पिता कुमारायण भारतीय थे। वे एशिया महाद्वीप के मध्य भाग में गए और वहाँ कुची प्रदेश के राजवंश के गुरु हुए। उन्होंने जीवा नामक राजकन्या के साथ विवाह किया, जिससे कुमारजीव की उत्पत्ति हुई। कुमारजीव कश्मीर में अध्ययन करके पुनः कुची प्रदेश लौटे और वहाँ पर विश्वविद्यालय की स्थापना की। उस विश्वविद्यालय में बहुत दूर से विद्यार्थी आया करते थे।

२. सिंगपाओ नगर के पुस्तकालय में धर्म, दर्शन, ज्योतिष, गणित और आयुर्वेद के लगभग ८,००० ग्रंथ हैं।

गुप्तकाल में चीन से अनेक धर्मजिज्ञासु भारत आये। तृतीय शताब्दी ई० में २० बौद्ध श्रमण चीन से भारत आये। गुप्तवंशीय महाराज ने बोधगया के निकट चीनी श्रमणों के लिए विहार की रचना की थी। चीन से आने वाले यात्रियों में फाह्यान, ह्वेनसांग और इत्सिंग सबसे मुख्य थे।

चतुर्थ शताब्दी ई० में फाह्यान भारत आये। चीन से प्रस्थान करते समय उनके आचार्य कुमारजीव ने उन्हें उपदेश दिया था, "तुम्हें भली प्रकार से भारत का सांस्कृतिक अध्ययन करना चाहिए, जिससे तुम चीन-देशवासियों के लिए भारत का सन्देश पूर्ण रूप से देने में समर्थ हो सको। तुम्हें केवल धर्म का ही अध्ययन नहीं करना है।" फाह्यान स्थल-मार्ग से भारत आये और पाटलिपुत्र के विश्वविद्यालय में अध्ययन और भारत का भ्रमण करके ४०४ ई० में जलमार्ग से चीन लौट गये। उन्होंने भारत-यात्रा का वर्णन लिखा है। चीन में सम्पूर्ण 'विनय-पिटक' का प्रचार करना उनकी यात्रा का प्रमुख उद्देश्य था।

ह्वेनसांग हर्षवर्धन के शासन-काल में, सप्तम शताब्दी में भारत आये। उन्होंने कश्मीर से लेकर नालन्दा तक अनेक विश्वविद्यालयों में धर्म, दर्शन आदि का अध्ययन किया और अन्त में नालन्दा विश्वविद्यालय के कुलपति पद को सुशोभित किया। उन्होंने प्राय: भारत के समस्त भागों का भ्रमण किया था। उनकी भारत-यात्रा का विवरण पर्याप्त विस्तृत है। चीन जाते समय वे अनेक ग्रन्थों को परम धन मानकर अपने साथ ले गए और चीनी भाषा में उनका अनुवाद किया।

इत्सिंग ६७१ ई० में भारत आये। उन्होंने नालन्दा विश्वविद्यालय में अध्ययन करके भारत-भ्रमण सम्बन्धी एक ग्रन्थ की रचना की। वे ४०० ग्रन्थ चीन ले गए। उन्होंने चीनी-संस्कृत भाषा के एक शब्दकोश की रचना की थी। इस ग्रन्थ के द्वारा चीन-देशवासियों के लिए संस्कृत का अध्ययन करना सरल हो गया।

चीन देश में बौद्ध धर्म की अनेक नवीन शाखाएँ प्रस्फुटित हुई। वहाँ तृतीय शताब्दी ई० में हरिवर्मा के द्वारा प्रतिष्ठापित 'सत्यसिद्ध' सम्प्रदाय में हीनयान और महायान के शून्यवाद का समन्वय दिखाई देता है।

तिब्बत (त्रिविष्टप) में बौद्ध धर्म का समागम सप्तम शताब्दी ई० में हुआ। अष्टम शताब्दी में तिब्बत के राजा का निमन्त्रण पाकर बङ्गाल और बिहार से अनेक भिक्षु वहाँ गए। तिब्बत की लिपि का भारतीय लिपि के अनुकरण पर विकास हुआ है। नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य शान्तरक्षित तिब्बत के राजा के द्वारा निमन्त्रित होकर वहाँ गए और अत्यन्त सम्मानित हुए। राजा ने उन्हें 'आचार्य बोधिसत्त्व' नाम से विज्ञापित कर अपने देश के महोपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित किया। उसी घटना को लेकर तिब्बत में लामा-संप्रदाय का प्रारम्भ हुआ। इसके पश्चात् चीन

देश के किसी भिक्षु का प्रतिवाद करने के लिए राजा द्वारा आमन्त्रित होकर, मगध के श्रेष्ठ दार्शनिक कमलशील तिब्बत गए। नवम शताब्दी में बङ्गाल और बिहार के अनेक महापण्डित रल्पचन नामक राजा के द्वारा निमन्त्रित होकर तिब्बत गए। वह परम धार्मिक था। उसने धर्मग्रन्थों का संस्कृत से तिब्बती भाषा में अनुवाद कराया। परवर्ती युग में ग्यारहवीं शताब्दी में बंगाल के महापण्डित अतिस (दीपङ्कर) ने तिब्बत में बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान किया। वहाँ जाने से पहले दीपङ्कर ने सुवर्णद्वीप के आचार्य चन्द्रकीर्ति के चरणकमलों में १२ वर्ष तक अध्ययन करके अपने पांडित्य को परिपक्व किया था। इसके बाद श्रीलङ्का देश के मार्ग से वे भारत वापस आ गएं। वे विक्रमशिला विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे। उस समय तिब्बत के राजा ने अपने देश में धर्म का क्षय देखकर २१ विद्वान् भारत भेजे। उनमें से १९ विद्वान् तो भारत में ही दिवङ्गत हो गए, शेष दो विद्वान् अन्य १३ भारतीय विद्वानों के साथ लौटे। उन विद्वानों ने वहाँ जाकर दीपङ्कर की प्रशंसा की। राजा ने उन्हें तिब्बत आने का निमन्त्रण दिया। यद्यपि दीपङ्कर की तिब्बत जाने की इच्छा नहीं थी, किन्तु अनेक बार प्रार्थना किए जाने पर वे वहाँ गए। उन्होंने १३ वर्ष तक तिब्बत में भ्रमण करके बौद्धधर्म का प्रचार किया। दीपङ्कर द्वारा रचे गये २५ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। चीन में उनके लगभग १०० व्याख्यान आयोजित किये गए थे।

असंख्य भारतीय विद्वानों ने तिब्बत जाकर वहाँ भारतीय संस्कृति का प्रसार किया। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'केङ्गर' और 'तेङ्गर' संग्रह के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन ग्रन्थों में अनेक ऐसे भी हैं, जिनके मूलरूप भारत में नहीं हैं। भारतीय गवेषक उन्हें पुनः अपने देश में प्रतिष्ठित करके अपने को धन्य मानते हैं।

कोरिया और जापान में बौद्ध धर्म

भारतीय संस्कृति चीन से कोरिया और जापान में फैली। आठवीं शती से लेकर जापान में बौद्ध धर्म की तेन्दई, केगोन, शिङ्गोन, निचरेन तथा जेन शाखाएँ प्रस्फुटित हुईं। ये वस्तुतः महायान सम्प्रदाय के कतिपय प्रमुख ग्रन्थों का आश्रय लेकर स्थानीय परिस्थिति के अनुसार विकसित हुई हैं। कतिपय शाखाएँ पहले चीन देश में आविर्भूत हुईं और फिर जापान में प्रतिष्ठित हुईं। जापान के प्रत्येक गृह में सप्त मंगल देवता महाकाल, सरस्वती, गणेश आदि विराजमान हैं। टोकियों में महाकाल, सरस्वती और कुबेर के मन्दिर हैं और भारतीय पद्धति पर उपवास, श्राद्ध, पितृतर्पण आदि की रीति हैं। वहाँ नागरी लिपि का प्रचार भारत से हुआ।

पूर्वी प्रदेशों में भारतीय धर्म

एशिया महाद्वीप में पूर्वी प्रदेश चीन और भारत के मध्य में हैं। उन में दोनों देशों का प्रभाव लक्षित होता है। पहली ईसवी शती के प्रारम्भ से लेकर

मलय, कम्बोडिया (कम्बुज), अन्नम (चम्पा)--प्रायद्वीपों में तथा यव, सुवर्णद्वीप और बालि द्वीपों में भारतीयों के राज्य प्रतिष्ठापित थे। उन राज्यों में भारतीय संस्कृति स्वाभाविक रूप से फैली। वहाँ कतिपय प्रदेशों में भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अनुसार सामाजिक संगठन था। आज भी पूर्वकालीन संस्कृति का आभास कहीं-कहीं पर शुद्ध भारतीय लक्षणों के स्वीकार कर लेने से प्रत्यक्ष ही है। जैसे स्याम प्रदेश में आज भी राज्याभिषेक भारतीय विधि के अनुसार संस्कृत-मन्त्रों के उच्चारण के साथ होता है। राजा समीपवर्ती प्रजा को वैदिक रीति का अनुसरण करता हुआ सम्बोधित करता है। उन प्रदेशों में पहले बहुत से भारतवासी रहते थे। चम्पा, अङ्कोर आदि में श्रीविजयादि स्थानों पर संस्कृत-शिक्षा के बहुत से केन्द्र प्रादुर्भूत हुए। यव तथा बालि द्वीपों में धार्मिक कर्मकाण्ड की विधियाँ अब भी भारतीय प्रतीत होती हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव आदि के बहुत से मन्दिर उन प्रदेशों में आज भी विद्यमान हैं। शिव और विष्णु का कुटुम्ब, अवतार तथा दिक्पाल आदि मूर्ति के माध्यम से प्रदर्शित किये गये हैं। प्राचीन भारत का सर्वोत्तम नृत्य आज भी बाली में प्रचलित है।[1]

शिवपूजा

विश्व के विविध भागों में शिवाराधना होती थी। बेबीलोन का शिउन, रोम का प्रियेपस, फ्रिजिया का एटिस तथा ग्रीस का फैलस शिवलिंग ही हैं, जिनकी पूजा का प्रचलन उन देशों में रहा है।

शिव की पूजा विश्व के विविध भूभागों में सुदूर प्रागैतिहासिक काल से रही है। भारत में वैदिक संस्कृति के अतिरिक्त सिन्धु सभ्यता में शिव-पूजा का प्रचलन था। मध्येशिया के पेण्डजिकेण्ट में अभी एक चित्र मिला है, जिसमें एक नील नर्तक मृगच्छाल पहन कर त्रिशूल लेकर नाच रहा है। यह चित्र शिवका है। मिस्र में असीरिस नामक पूजित देव शिव का समकक्ष है। वहाँ त्रिकोणाकृत शक्तिरूपिणी आइसीस देवी का प्रतीक है। असीरिस का वृष से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस देव के सिर पर सर्प विराजमान और, हाथ में त्रिशूल है। उसका परिधान मृगच्छाल है। फिलिद्वीप में असीरिस का ७६० पात्रों के दूध से शिव की भाँति ही अभिषेक होता था। वहाँ लिंग-पूजा का विधान था।

ग्रीस में शिवलिंग की पूजा सैकड़ों मन्दिरों में होती थी। वहाँ एक शिवलिंग १२० हाथ ऊँचा था।

1, To day the finest Indian based, Indian Inspired dancing in the world is not in India but in Bali. The Theatre in the East. P. 7.

स्कैण्डिनेविया की भाषा में ईश शिव और ईशा पार्वती के समकक्ष हैं । वहाँ का ईशीश शब्द हरगौरी का पर्याय प्रतीत होता है । जित् जाति ईशीश-पूजक है ।

सीरिया में दम्पती-रूप में वृषारोही देव और सिंहवाहिनी देवी की पूजा होती थी। देव का वज्र, त्रिशूल और मूसल हाथ के अस्त्र-शस्त्र थे ।

राजनीतिक सम्बन्ध

राज्य-प्रसार तथा उपनिवेश

ईसा के पूर्व छठीं शताब्दी में फारस का राज्य पञ्चनद प्रदेश तक विस्तृत था । उसी युग में भारतीय सैनिकों ने फारस-देशवासियों के लिए ग्रीस देश में जाकर युद्ध किया था । परवर्ती युग में अलक्षेन्द्र ने उनको पराजित कर ग्रीक साम्राज्य को पञ्चनद प्रदेश तक फैलाया । उसके पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारतीय साम्राज्य को काबुल, कान्धार, हिरात आदि तक फैलाया । इस प्रकरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राजनैतिक क्षेत्र में पश्चिमोत्तर भारत प्राचीन युग में विदेशों के साथ सम्बद्ध था ।

सीरिया प्रदेश के लेखक जेनब महोदय प्रमाणित करते हैं कि ईसवी शती से पूर्व द्वितीय शतक में दो भारतीय सामन्त अरमीनिया प्रदेश में अपने अनुयायियों के साथ आये थे । वहाँ के राजा ने उन दोनों के लिए फरात नदी के किनारे पर तारुन प्रदेश का भू-भाग जीविका के लिए दिया था । वे दोनों एक नगर में रहते थे और स्वदेशीय पूजा-परम्परा में उन्होंने कृष्ण की मूर्ति का निर्माण किया । ईसा के पश्चात् चौथी शती के प्रारम्भिक भाग में सेण्ट ग्रेगोरी नाम से प्रसिद्ध ईसा की मूर्तियों को तोड़ने वाले ने वहाँ आक्रमण करके मन्दिरों को तोड़कर उनके स्थान में 'चर्च' बनवाये। इस प्रकार उसने भारतीयोपनिवेश-गाथाओं में एक रोमाञ्चकारी वृत्तान्त को उद्‌घाटित किया है ।

सुदूर प्राचीन काल में भारतीयों के उपनिवेश चीन से भारत आने जाने वाले मार्गों में प्रतिष्ठापित हुए । वहाँ अपरबर्मा प्रदेश में ईरावती, साल्वीन, मेकाङ्ग आदि नदियों की उपत्यकाओं में भारतवासियों के उपनिवेश थे । उनमें भारतीय राजशासन था । इण्डोचीन प्रदेश के मध्य भाग में वैसे ही कतिपय उपनिवेश बनाये गये ।

कम्बुज-साम्राज्य

भारतीय राज्यों की प्रथम स्थापना मलय, कम्बोडिया (कम्बुज) तथा अन्नम प्रदेशों में और जावा, सुमात्रा तथा बालि द्वीपों में दिखाई देती है। कम्बोडिया तथा मलय प्रायद्वीप पहले विशाल राज्यों के केन्द्र थे ।

चीनी प्रमाणों के अनुसार कम्बोडिया राज्य का नाम फूनान था । इसका प्रसार कम्बोडिया के चारों ओर कोचीन, चीन तथा मेकाङ्ग उपत्यका तक था । इसमें पहले स्त्रियों का राज्य था । अर्धसभ्य मनुष्य परिधान का प्रयोग नहीं जानते थे । ईसा की पहली शताब्दी में कौण्डिन्य नामक किसी वैदिक धर्मानुयायी तथा पराक्रमपरायण वीर ने शासन करने वाली रानी को पराजित करके आर्यशासन तथा संस्कृति को वहाँ व्यवस्थापित किया । कौण्डिन्य के वंशजों ने दो सौ वर्ष तक राज्य किया । उसके पश्चात् 'वर्मा' उपाधि से विभूषित कोई सामन्त प्रजा के द्वारा राज-पद के लिए चुना गया । उस महान् विजेता ने नौ-बल से दूर स्थित मलय-प्रायद्वीप तक का भाग अपने राज्य में मिला लिया । ईसा के पश्चात् तीसरी शताब्दी के मध्यकाल में उसका भागिनेय चन्द्रवर्मा साम्राज्याधिपति हुआ । चन्द्रवर्मा ने भारत तथा चीन के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित किया । उसका सम्बन्धी भारत में प्रणिधि बनाया गया, जो चार वर्ष तक पर्यटन करके भारतीय राजाओं के दूतों के साथ अपने देश लौट गया । दूसरी जनश्रुति के अनुसार कम्बुज 'कौण्डिन्य' नामक कोई भारतीय ब्राह्मण वहाँ आया । वह प्रजा के द्वारा राजपद के लिए निर्वाचित किया गया । कौण्डिन्य की सांस्कृतिक प्रतिभा समुज्ज्वल थी । शीघ्र ही उसने उस महाराज्य में भारत के अनुरूप धर्म-व्यवस्था, जीवन-विन्यास तथा शिल्पादि का प्रवर्तन किया । कौण्डिन्य वंश में जयवर्मा प्रख्यात हुआ । उसके मर जाने पर ५१४ ई० में रुद्रवर्मा राजा हुआ । उसके प्रणिधि ५१७-५३९ ई० के बीच में चीन-साम्राज्य में छः बार गये ।

सातवीं शती में रुद्रवर्मा को पराजित कर चित्रसेन ने कम्बुज प्रदेश में साम्राज्य स्थापित किया । उसके वंशजों ने सात सौ वर्षों तक राज्य किया । पूर्व की ओर अन्नमराज से तथा पश्चिम की ओर स्याम देश से घिरा हुआ कम्बुजराज्य पन्द्रहवीं शताब्दी में विघटित हो गया ।

श्रीविजय-साम्राज्य

श्रीविजय-साम्राज्य का संवर्धन शैलेन्द्र-वंशीय राजाओं ने किया । शैलेन्द्रों का प्रादुर्भाव मलय प्रायद्वीप में ७७५ ईसवी शती में दिखाई देता है । शीघ्र ही समग्र मलय प्रायद्वीप तथा सुमात्रा और जावा इस साम्राज्य में मिला लिये गये ।

शैलेन्द्रों का सम्बन्ध चीनी तथा भारतीय राजाओं से था । दसवीं शती में शैलेन्द्रों की राजधानी से दस प्रणिधि चीन भेजे गये । कतिपय प्रणिधि पाल तथा चोल राजाओं की राजसभा में आये ।

शैलेन्द्र राजाओं को भारत का सांस्कृतिक प्रकाश अपेक्षित रहा । उनके कतिपय गुरु भारत से लाये गये थे । सुवर्णभूमि के शैलेन्द्र-वंशीय राजा बलपुत्रदेव ने नालन्दा में विहार बनवाया और उसके लिए गौडराज देवपाल से राजगृह के निकट पाँच

ग्रामों का दान करावाया। नालन्दा में आधुनिक युग में प्राप्त मूर्त्तियों में से बहुत-सी जावा-द्वीप से लाई हुई सी प्रतीत होती हैं।

शैलेन्द्रराज-चूडामणिवर्मा ने अपने नाम से प्रसिद्ध विहार नागपत्तन में (दक्षिण भारत में) बनवाया। राजराज चोल ने १००५ ईसवी में उस विहार की सुरक्षा करने की योजना बनाई।

परवर्ती युग में चोल राजा शैलेन्द्रों के शत्रु हो गए। राजेन्द्र चोल ने नौ-सेना के द्वारा सुमात्रादि द्वीपों पर विजय प्राप्त की, किन्तु चोल पचास वर्षों तक शैलेन्द्रों को हराकर भी उनके सुदूर प्रदेशों में शाश्वत रूप से शासन स्थापित करने में असमर्थ रहे। दोनों राजवंशों की फिर से मैत्रीप्रतिष्ठा १०९० ईसवी के एक लेख के द्वारा प्रमाणित हुई है। शैलेन्द्रों की पुनः प्रगति प्रायः ४०० वर्षों के अनन्तर प्रारम्भ हुई। तेरहवीं शताब्दी में उन्होंने लङ्का विजय की। वीर पाण्ड्य नामक दक्षिण भारत के किसी राजा ने १२६४ ई० में शैलेन्द्रों को हराया। शैलेन्द्रों का राजवंश ६०० वर्ष तक चलता रहा। यह भारत के वैदेशिक राज्य-प्रसार की अनोखी कहानी है।

लघु राज्य

भारतीयों के राज्य मलय प्रायद्वीप में ईसा की पहली शती से लेकर पाँचवीं शती तक प्रतिष्ठित थे। शैलेन्द्रों के शासन के पश्चात् पन्द्रहवीं शती में वहाँ मलच्च-वंशीय राजाओं का राज्य था। तदनन्तर किसी राजा ने मुसलमान स्त्री के साथ विवाह किया। वह न केवल स्वयं मुसलमान हुआ, अपितु मलय-प्रायद्वीप में सर्वत्र इस्लाम के प्रवेश का द्वारा खोल दिया।

कम्बुज प्रदेश से पूर्व की ओर अन्नम में 'चम्पा' नामक भारतीयों का प्रसिद्ध राज्य था। ईसा के पश्चात् दूसरी शताब्दी में चम्पा में श्रीमार ने आधिपत्य कर लिया। उस प्रदेश में पन्द्रहवीं शताब्दी तक पाण्डुरङ्ग, श्रीविजय, कौथर और अमरावती प्रदेशों में रहने वाले भारतीयों ने राज्य स्थापित किया। चीन, मङ्गोल तथा अन्नम-प्रदेश के राजाओं द्वारा पुनःपुनः प्रतिहत किए जाने पर भी चम्पा राज्य का गौरव वहाँ के निवासियों के बाहुबल के कारण अक्षुण्ण तथा सुरक्षित रहा। अन्तिम युग में अन्नम-वासियों द्वारा पादाक्रान्त की हुई चम्पा सदा के लिए श्रीहीन हो गई। चम्पा प्रदेश की भारतीय सांस्कृतिक कृतियाँ तथा शिल्पादि आज भी उस युग की गौरव-गाथा गाते हैं।

जावा (यव) द्वीप में भारतवंशीय राज्य ईसा की पहली शती में स्थापित किया गया था। ईसा की दूसरी शती में वहाँ के राजा देववर्मा ने चीन देश में दूत भेजा। ईशा की छठीं शती में पूर्णवर्मा यवद्वीप का राजा हुआ। आठवी शती में वहाँ संजय नामक महापराक्रमी राजा हुआ। परवर्ती युग में यव द्वीप शैलेन्द्र साम्राज्य में समाविष्ट था। शैलेन्द्रों के पतन के पश्चात् फिर यव द्वीप में क्रमशः तीन भारतीय

राजवंश प्रादुर्भूत हुए। उनमें बिल्वतिक्त का साम्राज्य यव द्वीप के बाहर दूर तक फैला हुआ था। बिल्वतिक्तों के अन्तिम राजा ने ईसा की पन्द्रहवीं शती में भारतीय संस्कृति की सुरक्षा के लिए युद्ध करते हुए बालिद्वीप में शरण प्राप्त की। बालि द्वीप में आज भी भारतीय वैदिक धर्म शुद्धतम रूप में वर्त्तमान है।

मलय और यव द्वीप दोनों के मध्य में स्थित सुमात्रा-द्वीप भारत और चीन के मार्ग में महत्त्वपूर्ण था। ईसवी शताब्दी से पहले ही वहाँ भारतीयों के उपनिवेश होने की कल्पना की जाती है। शैलेन्द्रों का आधिपत्य सुमात्रा में दीर्घ काल तक रहा। वहाँ श्रीविजय नामक नगर राजधानी था और व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। शैलेन्द्रों के पश्चात् वहाँ मलय-वंश के राजाओं का प्रभाव बढ़ा। पन्द्रहवीं शताब्दी में समुद्र-वंशीय राजा वहाँ प्रतिष्ठित हुए। समुद्र नाम के कारण ही यह द्वीप सुमात्रा कहलाता है। जावा में पुत्तलियों के छायाभिनय द्वारा रामायण और महाभारत की कथा लोगों को आज भी समझाई जाती है।

बार्नियो द्वीप में ईसवी शती के पश्चात् पाँचवीं शताब्दी में भारतीयों का सुसमृद्ध राज्य स्थापित हुआ। वहाँ 'मूलवर्मा' नामक महाराज हुआ। मूलवर्मा के चार उत्कीर्ण लेख पाए जाते हैं। चौदहवीं शताब्दी में बोर्नियो द्वीप तक भारतीयों का आधिपत्य था।

बालि द्वीप में सुदूर प्राचीन युग में भारतीयों का राज्य था। परवर्ती युग में वहाँ यव द्वीप का राजनैतिक आधिपत्य फैल गया। कालान्तर में यव द्वीप के राजा ने वहीं शरण ली।

भारतीय व्यापारियों के उपनिवेश सुदूर प्राचीन युग में अफ्रीका महाद्वीप के मिस्र, इथिओपिया तथा अबीसीनिया प्रदेशों में स्थित थे। चीन, तिब्बत, मध्य एशिया आदि भूभागों में विद्वानों और धर्मप्रचारकों की अवस्थिति का वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

दौत्य-सम्बन्ध

वैदेशिक राजाओं के साथ भारतीय राजाओं की दौत्य-सम्बन्ध-परम्परा प्रायः सदैव रही है। मौर्य राजाओं का ग्रीक राजाओं के साथ दौत्य सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है। चन्द्रगुप्त मौर्य की राजसभा में मेगस्थनीज नामक राजदूत का महत्त्वपूर्ण स्थान था। तदनन्तर विन्दुसार की राजसभा में ग्रीकदूत डायनीसियस नियुक्त था। अशोक के दौत्य-सम्बन्ध वैदेशिक राजाओं के साथ मित्रता-स्थापित करने के लिए थे। अशोक के धर्मदूत पश्चिमी एशिया, मिस्र तथा योरप में भ्रमण करते थे। रोम के राजा ट्राजन (९८-११७ ई०), हैड्रियन (११७-१३८ ई०), अण्टोनियस (१३८-१६१ ई०), हलीओगबल (२१८-२२२ ई०) आरलियन (२७०-२७५ ई०), कांस्टैन्टाइन (३२३-

३५३ ई०), जूलियन (३६२-३६३ ई० के साथ भारतीय प्रणिधियों के द्वारा समागम प्रमाणित है। पहली शताब्दी ई० पू० में ग्रीक हेलियोदोर विदिशा में राजदूत था।

ह्वेनसांग के परामर्श से हर्ष ने चीन के राजा तांग के समीप दूत भेजा। मुहम्मद तुगलक ने इब्नबतूता को चीन देश में अपना राजदूत बनाकर भेजा।

दक्षिण-भारत के चालुक्य-वंशीय राजा पारसी राजाओं के समीप दूत भेजते थे। एक दौत्य-मिलन अजन्ता के गुफा-चित्रों में आज भी अमर दिखाई देता है। कुलोत्तुङ्ग प्रथम ने १०७७ ई० में चीन के राजा के समीप व्यापारिक प्रतिनिधिमंडल भेजा। मंडल ने अनेक बहुमूल्योपहार देकर चीन के राजा का परितोष किया। ई० १४४३ में विजय नगर में देवराय के पास फारस से राजदूत आये थे।

उपहार

मौर्यवंशीय राजाओं के उपहार सुपरिचित हैं। बिन्दुसार ने सिल्यूकस से ग्रीक देश में उत्पन्न होने वाली मदिरा तथा द्राक्षा (दाख) को भेजने की प्रार्थना की थी। उस देश से एक दार्शनिक को उपहार रूप में उसने माँगा। पहली दोनों वस्तुएँ उसको मिल गईं। सम्राट् अशोक ने विदेशी राजाओं के लिए औषधियों का बहुमूल्य उपहार भेजा। ईसा से २१ वर्ष पहले रोम-सम्राट् आगस्टस के अभिषेकोत्सव में भारतीय चीते का नाट्यमंच पर प्रदर्शन किया गया था। वह चीता उपहार-स्वरूप भारत से प्राप्त हुआ था।

ईसवी शती के आरम्भ-युग में वाणमंग नामक चीन देश के राजा के द्वारा अपने देश की अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ काञ्ची के राजा के लिए भेजी गईं। काञ्ची के राजा ने चीन देश का अभीष्ट गैंडा प्रत्युपहार रूप में भेजा। ईसा के पश्चात् दूसरी शती में सिन्धवासियों ने चीन के राजा के लिए बहुमूल्य उपहार भेजा।

ह्वेनसांग का भारतीय मित्रों के साथ पत्र-व्यवहार हुआ। स्थविरदेव ने उसके लिए वस्त्रयुग्म के साथ एक पत्र भेजा। ह्वेनसांग ने प्रज्ञदेव के लिए उपहार भेजा तथा कतिपय ग्रन्थों की कामना की। उसकी अभीष्ट वस्तुएँ उसे दी गईं।

श्रीलङ्का के राजा ने चीन के राजा के लिए महाप्रज्ञापारमिता-सूत्र भेजा। उपहार के साथ विद्वन्मंडल चीन भेजा गया।

सैयदुद्दीन नामक भारतीय राजा ने १४१४ ई० में अफ्रीका देश से प्राप्त 'जुर्राफ' पशु को चीन के मिगवंशीय राजा के लिए उपहार रूप में भेजा।

साहित्य

भारतीय वैदिक साहित्य संसार में प्राचीनतम है, यह निःसन्दिग्ध है। जहाँ-जहाँ भारतीय गये, वहाँ-वहाँ भारतीय साहित्य भी उनके साथ फैला। प्राचीन काल में

भारतीय साहित्य कहीं अनुवाद रूप से, कहीं विशुद्ध भारतीय भाषानुबद्ध तथा कहीं छायारूप से विश्व में परिव्याप्त था।

पाश्चात्य देशों में

भारतीय कथा-साहित्य का पाश्चात्य देशों में विशेष समादर हुआ। पहले छठीं शती में फारस के राजा खुसरो नौशेरवाँ के द्वारा भेजे गए बुरजोय नामक विद्वान् ने भारत में आकर पञ्चतन्त्र का अनुवाद किया। बूद नामक सीरिया-देशीय विद्वान् ने ५६० ई० में अपनी मातृभाषा में पञ्चतन्त्र का अनुवाद किया, जिसके आधार पर ७५० ई० में अब्दुल्लाह इब्नुलमोक्कफ ने अरबी भाषा में पञ्चतन्त्र का अनुवाद किया। यही अरबदेशीय अनुवाद योरपीय भाषाओं में पञ्चतन्त्र के अनुवाद का उपजीव्य है।

ग्यारहवीं शती में पञ्चतन्त्र का अनुवाद ग्रीक भाषा में हुआ। उसके बाद १५८३ ई० में योरप की इटालवी लैटिन, जर्मन और स्लव भाषा में पञ्चतन्त्र के अनुवाद हुए। पञ्चतन्त्र का हेब्रू भाषा का अनुवाद सर्वत्र समादृत हुआ। पञ्चतन्त्र के परिवर्ती जर्मन अनुवाद का अनुसरण करके हालैंड, डेन्मार्क तथा आइसलैंड आदि की भाषाओं में उसके पुनः अनुवाद हुए। पञ्चतन्त्र का स्पेन की भाषा में १४९३ ई०, तदनन्तर इटालवी भाषा में (१५४६ ई०) तथा उसके पश्चात् फ्रांस की भाषा में अनुवाद किए गए। इटालवी भाषा में १५५२ ई० शती में पञ्चतन्त्र का स्वतन्त्र रूप से अनुवाद हुआ। उसके प्रथम खंड का १५७० ई० में टामस नामक विद्वान् ने अनुवाद किया।

पंचतन्त्र के अनुवादों की दूसरी परम्परा अरब देश से ग्यारहवीं शती में प्रारम्भ हुई। अरबी भाषा से फारसी भाषा में पन्द्रहवीं शती में अनुवाद हुआ। उसकी ख्याति फ्रांस देश में अनुवाद के द्वारा सत्रहवीं शती में फैली। उसका अनुवाद अँग्रेजी, जर्मन भाषा तथा स्वीडिश भाषा में हुआ। अनुवाद की दूसरी परम्परा टर्की, जर्मनी, हंगरी, हालैण्डादि की भाषाओं के माध्यम से चली। अन्य बहुत से अनुवाद हुए तथा उनकी परम्परा भी सुदीर्घ है।

शुकसप्तति ग्रन्थ के अनुवाद की परम्परा योरपीय देशों में फैली। पहले फारसी भाषा में उसका अनुवाद चौदहवीं शती में मिलता है। फारसी अनुवाद से तुर्की भाषा में उसका अनुवाद किया गया। फारसी अनुवाद से योरपीय भाषाओं में शुकसप्तति का प्रचार हुआ।

उपर्युक्त पद्धति से अनेक भारतीय कथाएँ योरपीय देशों में पहुँचाई गईं। उन कथाओं में 'अरबियन नाइट्स' नाम से प्रसिद्ध रचना भारत से अरब देश में और उसके बाद योरपीय महाद्वीप में फैली।

पूर्वी द्वीपसमूह में

पूर्वी देशों में संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण लेखों की संख्या अगणित है। वहाँ कम्बुज तथा चम्पा प्रदेशों में कई सौ लेख हैं। मलय यव, बोर्नियो, सुमात्रादि द्वीपों में कतिपय लेख प्राप्त हुए हैं। ये लेख प्रायः छोटे-छोटे काव्य ही हैं। उनमें से कुछ लेखों में १०० से लेकर ३०० तक श्लोक हैं। उनके लेखकों का संस्कृत भाषा के ऊपर प्रकाम अधिकार प्रतीत होता है। कतिपय भारतीय पंडित स्वयं ही वहाँ जाकर लेखों के रचयिता बने। अन्य बहुत से जिज्ञासुओं ने भारत में आकर अपने पांडित्य को परिपक्व बनाया और फिर अपने देशों में साहित्यकार हुए।

भारतीय-यव साहित्य वस्तुतः विशेष परिचेय है। उस साहित्य का वर्ण्य विषय भारतीय ही है तथा उसमें प्रयुक्त छन्द संस्कृत के समान हैं। वहाँ के साहित्य में संस्कृत शब्दों और श्लोकों का प्रायः संकलन है। गद्यात्मक महाभारत का अनुवाद सुप्रसिद्ध है। रामायण का भी गद्य में प्रणयन किया गया, किन्तु भारतीय रामायण से कहीं-कहीं यह भिन्न दिखाई देता है। उसमें सीता का निर्वास अथवा मृत्यु का वर्णन नहीं है। अन्य कतिपय वर्ण्य विषय पुराण और इतिहासों से लिए गए तथा भारतीय-यव साहित्य में उपनिबद्ध किए गए। उदाहरणार्थ, निवातकवच से अर्जुन का युद्ध, कृष्ण का रुक्मिणी-हरण, माला के गिरने से इन्दुमती की मृत्यु, कौरव तथा पांडवों का युद्ध, शिव के द्वारा काम-दहन, नरकासुर के द्वारा इन्द्रादिकों की पराजय, कार्तवीर्य के द्वारा रावण की पराजय, समुद्रमन्थन, वृत्र तथा नहुष की विजय, कालयवन-कथा, तिलोत्तमा की प्राप्ति के लिए सुन्द और उपसुन्द का युद्ध, वासवदत्ता और उदयन की प्रणयकथा, सावित्री तथा सत्यवती की कथा तथा अन्य वैसे ही विषय कथा-साहित्य में निबद्ध हैं। अन्य भी भारतीय साहित्यिक निधि––पुराण तथा इतिहास-सम्बन्धी सृष्टि-कथाएँ, नीति-कथाएँ, व्याकरण, छन्द, कोश, आयुर्वेद कामशास्त्रादि लिखे गए हैं। 'बालि देश और भारत' के सम्बन्ध के विषय में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक रोचक काव्य रचा है।

अन्य देशों में व्यापकता

मेडेगास्कर प्रदेश की भाषा संस्कृत से प्रभावित दिखाई देती है। चीनी-तुर्किस्तान प्रदेश में खोतान के समीप ५०० गुफाएँ हैं। वहाँ पर एक गुफा में संस्कृत, चीनी तथा तिब्बती भाषाओं के ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। बौद्ध धार्मिक साहित्य को छोड़कर वहाँ दर्शन, साहित्य, इतिहास, भूगोलादि विषयों के ग्रन्थ हैं। ये पुस्तकें ग्यारहवीं शती में विध्वंसकों के आक्रमण से बचाने के लिए गुफा में छिपा दी गई होंगी। बंगताओ नामक चीन-देशीय विद्वान् ने १९०० ई० में उन पुस्तकों का उद्धार किया। वहाँ पुस्तकों की संख्या १५००० के लगभग है। ३००० ग्रन्थ मध्य एशिया की ब्राह्मी

लिपि में लिख गए हैं। चीन देश में ६६८ ई० में भारतीय कथाओं का विश्व-कोश रचा गया। इस कोश में २०२ पुस्तकों से अनेक कथाएँ संगृहीत की गई हैं। चीन-देश वासी संस्कृत तथा पालि भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित थे।

बौद्धभिक्षु बोधिसेन ने ७३६ ई० में जापान-देशवासी पुरोहित को संस्कृत भाषा सिखाई। आधुनिक युग में भी योरपीय और अमरीकी साहित्यिक धाराओं में प्राचीन भारतीय साहित्य का ऋण सुविदित है।

कला

भारतीय कलाओं का प्रसार विदेशों में विशेष रूप से देखा जाता है। सबसे पहले ७० ई० के लगभग बनी हुई हाथीदाँत की मूर्ति है, जो लक्ष्मी का प्रतीक है। यह पम्पियाई नगर में मिली है। सुमेरु प्रदेश के मन्दिरों की रचना तथा वहाँ का पूजा-विधान दक्षिण भारतीय मन्दिर विधान के समान है।

रूस के पोल्टावा नगर में गरुड पर सवार लक्ष्मीनारायण की तेरहवीं शती की मूर्ति मिली है, जो इस प्रकार की अन्य भारतीय मूर्तियों के साथ कीव के संग्रहालय में रखी गई है।

चीन प्रदेश में तीन हुअङ्ग, लाङ्गमेन तथा युनकाङ्ग में भारतीय शैली के अनुसार बनाई गई गुफाएँ हैं। वहाँ बुद्ध की विशाल मूर्तियाँ तथा चित्र पाये जाते हैं। पहले भारतीय तथा चीन देशवासी चीन आते-जाते समय भारत से मूर्तियाँ तथा बौद्ध चित्र ले गए थे।

तिब्बत प्रदेश के यात्री भारतीय कलाकृतियों का क्रय करके अपने देश में ले गए। उन कृतियों में बहुत-सी आज भी पाई जाती हैं। उनमें से प्रमुख है बोधगया मन्दिर का आदर्श। अजन्ता की कला के अनुरूप अनेक चित्रपट तिब्बत प्रदेश में पाये जाते हैं। भारतीय शैली का अनुकरण करके बनाई गई १००० से अधिक काँसे की मूर्तियाँ तिब्बत में पाई जाती हैं। प्राचीन-युग के जापान देश के चित्र भारतीय कला के अनुरूप बने हैं। खोतान प्रदेश की भित्तियों तथा रेशमी वस्त्रों पर भारतीय शैली का अनुकरण करके चित्र बनाये गए हैं।

पूर्वी द्वीपसमूह की मूर्तिकला तथा वास्तुकला भारतीय कला के अनुरूप विकसित हुईं। वहाँ की कला का भारतीय आदर्श गुप्तयुगीन है। अङ्गकोर नगर के मन्दिर में भारतीय परम्परा स्पष्ट दिखाई देती है। वैसी वस्तुएँ अब भारत में नहीं पाई जातीं। कम्बोडिया प्रदेश में कश्मीरी वास्तुकला विकसित हुई। वहाँ भारतीयों के द्वारा बनाये गए मन्दिर विशेष कौशल का प्रदर्शन करते हैं। यव द्वीप में भारतीय देवताओं की मूर्तियाँ असंख्य हैं। महिषासुर-मर्दिनी की मूर्ति की दस भुजाएँ

बनाई गई हैं। बोरोबुदुर नगर के मन्दिर वहाँ के कलाकारों के परम आश्चर्य-जनक चमत्कार प्रकट करते हैं। सर्वत्र दक्षिण भारत की द्राविड शैली का प्रयोग देखा जाता है।

सांस्कृतिक संस्थाएँ

पहले समस्त भारत जिज्ञासुओं के लिए तीर्थ था। भारतीय विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाने के लिए सभी देशों से विद्यार्थी आते थे। भारत आने वाले मार्गों में अनेक शिक्षण-संस्थाएँ पूर्व तथा पश्चिम की ओर से आने वालों के लिए स्थापित की गई थीं। उदाहरणार्थ चम्पा, अङ्कोर तथा श्रीविजय संस्कृत-विद्या के केन्द्र थे। काशगर का विश्वविद्यालय प्रख्यात था।

चीन देश में बहुत-सी संस्थाएं भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद तथा चीन भाषा में मौलिक ग्रन्थों की रचना करने के लिए स्थापित की गई थीं। एक संस्था ने नवम अथवा दशम शतक में 'महाव्युत्पत्ति' नामक संस्कृत, तिब्बती तथा चीनी भाषाओं के कोष की रचना की।

विदेशियों की औद्योगिक प्रगति के लिए भारतवासियों का प्रयत्न श्लाघ्य है। उदाहरणार्थ, जापान देश में कपास के बोने तथा सूती कपड़े बनाने की विधि भारतीयों के द्वारा सिखाई गई थी। चीन देश के पोतवमानादि भारतीय प्रणाली का अनुसरण करके बनाये गए।

पंचदश अध्याय

उपसंहार

भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप हमने प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार इसमें मानव के सर्वाङ्गीण विकास की योजनायें दृष्टिगोचर होती हैं। इस संस्कृति की आश्रम-व्यवस्था में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सब का समावेश है। आध्यात्मिक सुख की परकाष्ठा यदि संन्यासी या कर्मयोगी के जीवन में है तो काव्य और कलाओं की अनुभूति का माध्यम गृहस्थाश्रम है, जिसमें अर्थोपार्जन करके पंचमहायज्ञादि धार्मिक कृत्य सम्पादित हो सकते हैं। इस प्रकार इस संस्कृति में मानव जीवन के विभिन्न भागों को विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विशेष सक्षम माना गया।

भारतीय संस्कृति में व्यक्तित्व के विकास पर सर्वोपरि बल दिया गया है। अपनी सन्तान-परम्परा को गुणी बनाने के लिये आनुवंशिक विधि से आत्मगुणों का सातत्य शृंखलाबद्ध रखना चाहिये। इस विचार से अतीत और अनागत के सहस्रों वर्षों का आकलन करने वाला भारतीय मानव केवल अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये ही सचिन्त नहीं था, अपितु आगे आने वाली पीढ़ियों को ठीक रखने के लिए वह अपने को सत्पथ पर चलाना आवश्यक मानता था। शिशु को यशस्वी, मेधावी, पराक्रमी और उदार बनाने के लिये, उसके गर्भ में आने के पहिले से ही माता-पिता निजी संकल्पों के द्वारा तथा अदृष्ट शक्ति वाले देवताओं की अभ्यर्थित सहायता से नित्य प्रयत्नशील रहते थे। माता की लघु कुक्षि में परिसीमित शिशु के व्यक्तित्व का परिबृंहण करके इसे ब्रह्मनिष्ठ बना देने की प्रक्रिया अपने आचार्यों ने संस्कार और आश्रम की योजनाओं में प्रस्तुत की है।

भारत की वर्णाश्रम-व्यवस्था इस देश की जीवन-सम्बन्धी सनातन मान्यताओं पर प्रकाश डालती है। यदि भारत ने मोक्ष को सर्वोपरि उपलब्धि माना तो साथ ही मोक्ष के लिये सर्वस्व त्यागने वाले ब्राह्मण और श्रमण को समाज में अग्रगण्य स्थान दिया। वह ब्राह्मण गृहस्थ होते हुए भी स्वेच्छया अकिंचन रहता था। सुदामा का उदाहरण सुविदित है। शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना करने के लिये अपने प्राणों को हथेली पर लेकर चलने वाला क्षत्रिय स्वर्ग का प्रथम अधिकारी था। उसे धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिये नित्य जागरणशील होना चाहिये था। क्षत्रिय के कर्त्तव्यों को देखते हुए उसे देव उपाधि से विभूषित किया गया। स्मरण रहे, उपर्युक्त मान्यताएँ सच्चे कर्त्तव्य-पालकों के लिये थीं। जो ब्राह्मण ब्रह्मबल से नेतृत्व नहीं कर

सकता था, उसे ब्रह्मबन्धु कहा जाता था और जो क्षत्रिय प्रजा में आतंक फैलाते थे उनकी गणना असुर तथा राक्षसों में होती थी।

प्राचीन भारत में शूद्रों को कुछ विशिष्ट अधिकार प्राप्त थे। जितने भी शिल्प कला-सम्बन्धी व्यवसाय धनोपार्जन के साधन हैं, वे सभा के सभी एकाधिकार रूप से शूद्रों के लिये नियत थे। परिणामतः शूद्र धन-धान्य की दृष्टि से सबसे अधिक सुखी कहा जा सकता था। आज जिस वर्ग के हाथ में उपर्युक्त व्यवसाय हैं, वही सबसे अधिक समृद्धिशाली है। यह न समझें कि उपर्युक्त व्यवसायों के लिये शूद्र केवल श्रमिक थे, अपितु वे प्रबन्धक भी थे। उनके संघ होते थे और सारी आय उन्हीं को होती थी। वैश्यों की स्थिति आर्थिक दृष्टि से शूद्रों से किंचित् अच्छी कही जा सकती है। कृषि और पशुपालन के साथ ही व्यापार करने की सुविधा वैश्यों को दी गई थी और 'व्यापारे वसति लक्ष्मीः' के अनुरूप सुश्रीक तो वैश्य ही थे। प्राचीन भारत में असंख्य ब्राह्मण और क्षत्रियों ने वैश्य और शूद्रों के आधिभौतिक सुखों की स्पृहा से अपनी जाति छोड़कर वैश्य या शूद्र जाति अपना ली। कोई हीनतर जाति का मनुष्य बाधा न होने पर भी उच्चतर जाति को अपनाना नहीं चाहता था। आधुनिक युग में भी देखें--ब्राह्मण-वृत्ति को हममें से कितने अपनाना चाहते हैं ? प्राचीन काल में वृत्ति के अनुसार नाम मिल सकता था। भारत को प्रकृति ने पर्याप्त सम्पन्न बनाया है। भोजन-पान, वस्त्र-आवास, प्रसाधन और शिल्पकला आदि के लिये जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उनकी अक्षय निधि भारतीय वसुन्धरा के गर्भ में, वनों में, पर्वतों में, शस्य-श्यामला कृषि में और पशुपक्षियों में भरी पड़ी है। भारत के परिश्रमी कलाकारों- शिल्पियों और श्रमिकों ने उन-उन वस्तुओं को प्राप्त किया, सँवारा और देश-विदेश में उन्हें विक्रय करने का साहसिक काम वैश्य वर्ग ने किया। परिणाम यह हुआ कि भारत ने उपयोगी वस्तुएँ विश्व को दीं और विश्व की सम्पत्ति व्यापार के माध्यम से भारत में आने लगी। केवल आधिभौतिक अभ्युदय की दृष्टि से ही भारत का विदेशों से यह सम्बन्ध उपयोगी नहीं हुआ, अपितु सांस्कृतिक दृष्टि से भी हुआ। भारत ने विदेशों से बहुत कुछ सीखा और ग्रहण किया तथा विदेशियों को बहुत कुछ सिखाया। भारत की यही अर्थ-समृद्धि परवर्ती युग में विदेशी आक्रमणकारियों को इधर खींच लाने में प्रधान कारण हुई।

भारतीय धर्म में न केवल सम्भ्रान्त स्त्री और पुरुष--आर्य और आर्येतर, वन्य और नागरिक, छोटे और बड़े तथा धनी और निर्धन को ही सुख और शान्ति का सन्देश दिया गया है, अपितु वेश्याओं, गणिकाओं, चाण्डालों, मांस-विक्रेताओं, किरातों और म्लेच्छों के लिए भी मोक्ष पाने की योजनाएँ मिलती हैं। इसके अनुसार पवित्र जीवन का अधिकार सबको समान रूप से है। इस देश में धार्मिक सहिष्णुता अनुपम ही रही है।

प्राचीन भारत में राजा और ऋषियों का प्रधान काम राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा करना था। सभी वर्णों और सभी आश्रमों के लोग अपनी स्थिति के अनुकूल अपने कर्त्तव्यों का पालन करने की सुविधा पाते रहें और किसी को अपने कर्त्तव्य का पालन करने में दुःख का अनुभव न हो, इस उत्तरदायित्व का वहन करने वाले राजा महान् थे। जो काम राजा क्षत्र और दण्ड से करता था, वही ऋषि अपने आदर्श चरित और उपदेश-भरी वाणी से करता था।

भारतीय संस्कृति का क्षेत्र अतिशय विशाल रहा है। भारत तो महान् देश है ही, भारत के बाहर प्रायः समग्र एशिया, योरप तथा अफ्रीका के कुछ भागों में भी भारतीय संस्कृति को उर्वरा भूमि मिली। इसके साथ ही यह संस्कृति सुदीर्घ काल में—सहस्र वर्षों की मर्यादा में प्रसारित रही है। सैकड़ों प्रकार की मनोवृत्ति वाले जन-समुदायों को अपनी परिधि में लेकर चलने वाली यह संस्कृति असंख्य क्षेत्रों में परिव्याप्त रही है। ऐसी परिस्थिति में यदि कहीं इसमें कोई स्खलन या च्युति मिलती है तो उसे अपवाद रूप में ही समझें। परिवादिनी दृष्टि वालों को कालिमा ही विशेष दिखाई देती है। इससे हानि होती है।

भारतीय संस्कृति ने आदिकाल से असंख्य महापुरुषों को जन्म दिया है और उनकी कृतियों ने विश्व को आलोकित किया है। विश्व की संस्कृति के निर्माण में भारत के उन मनस्वियों और मनीषियों का हाथ रहा है। उन सभी के प्रति हम प्रणत हैं।

———

चित्रावलि

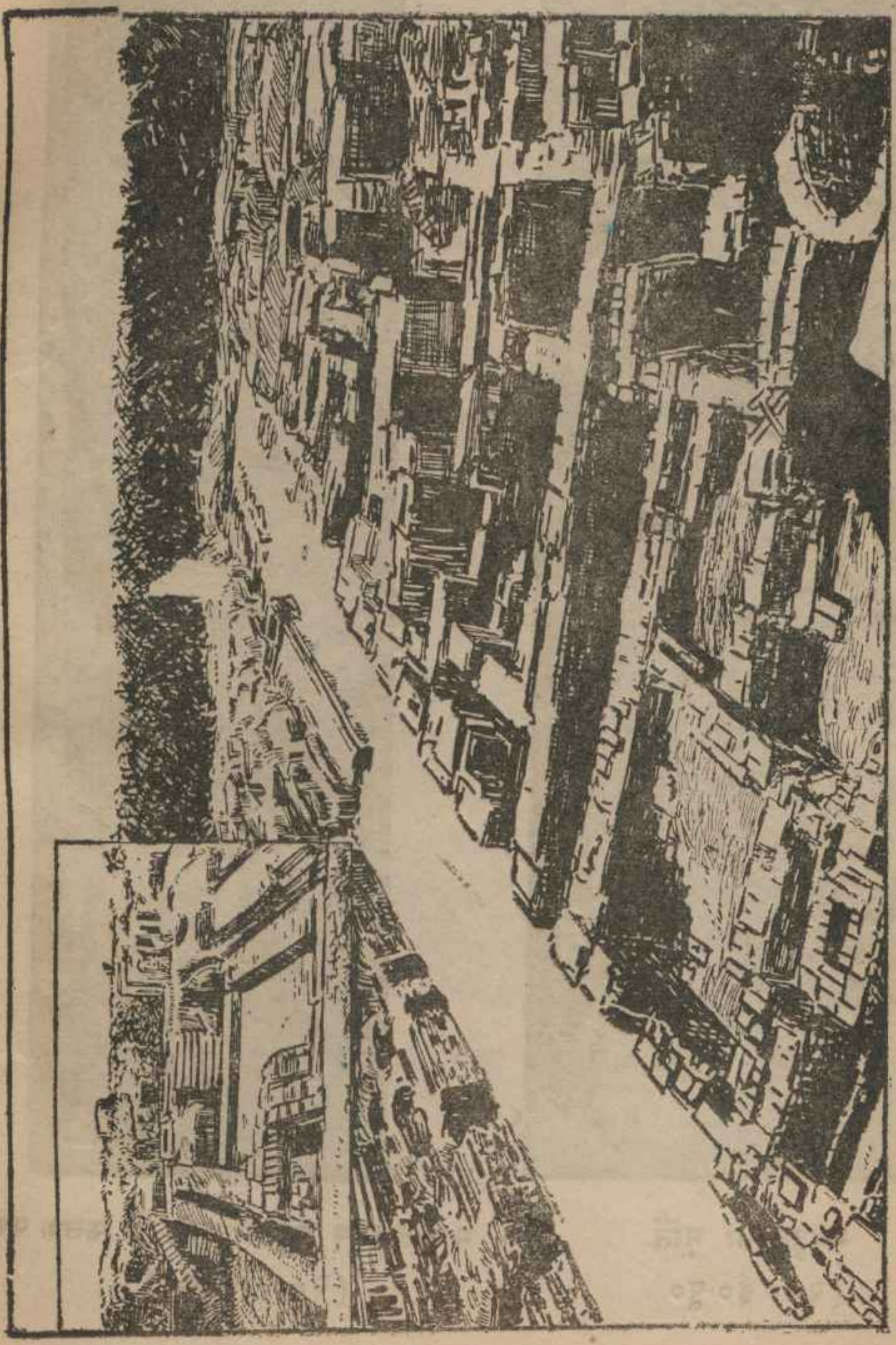

मोहेनजोदड़ो के खण्डहर का चित्र
(३२०० ई० पू०)

भरहुत की मूर्ति
(२०० ई० पू०)

भरहुत-स्तूप की परिवृत्ति के फलक पर
(२०० ई० पू०)

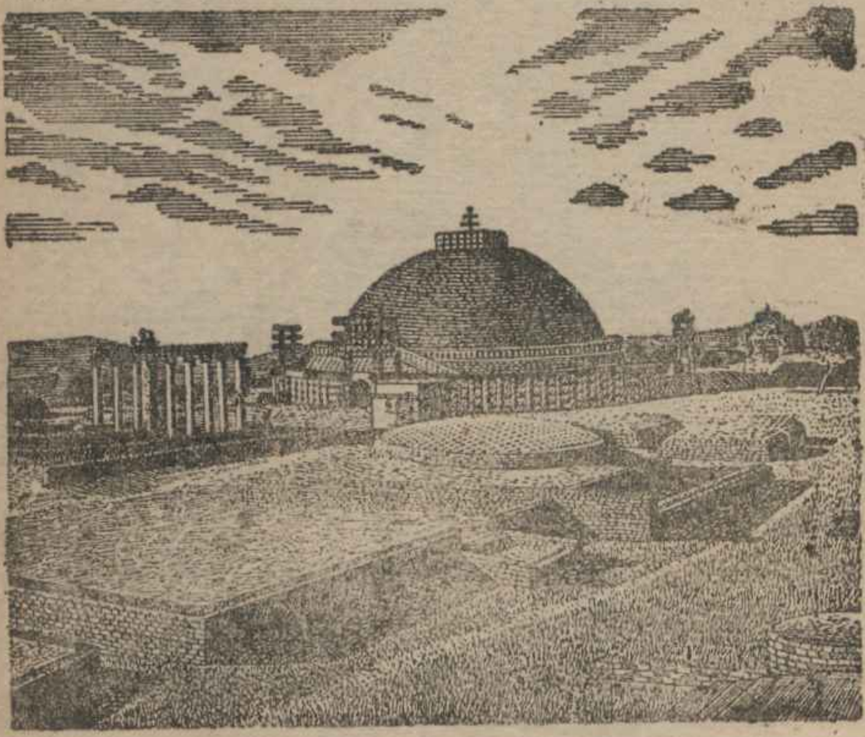

सांची के स्तूप का दृश्य (द्वितीय शती ई० पू०)

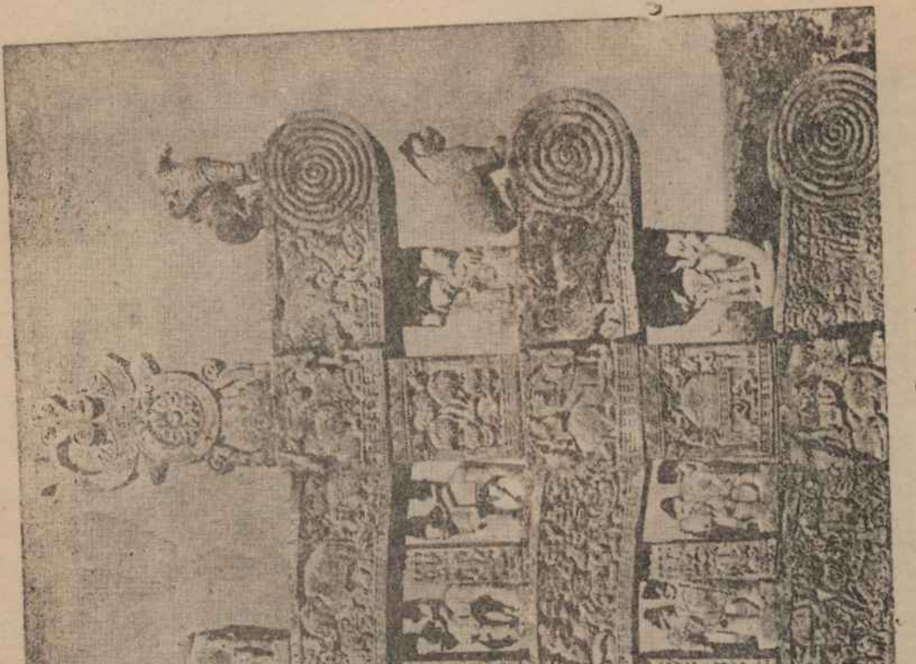

सांची में तोरणद्वार का उपरिभाग (२०० ई० पू०)

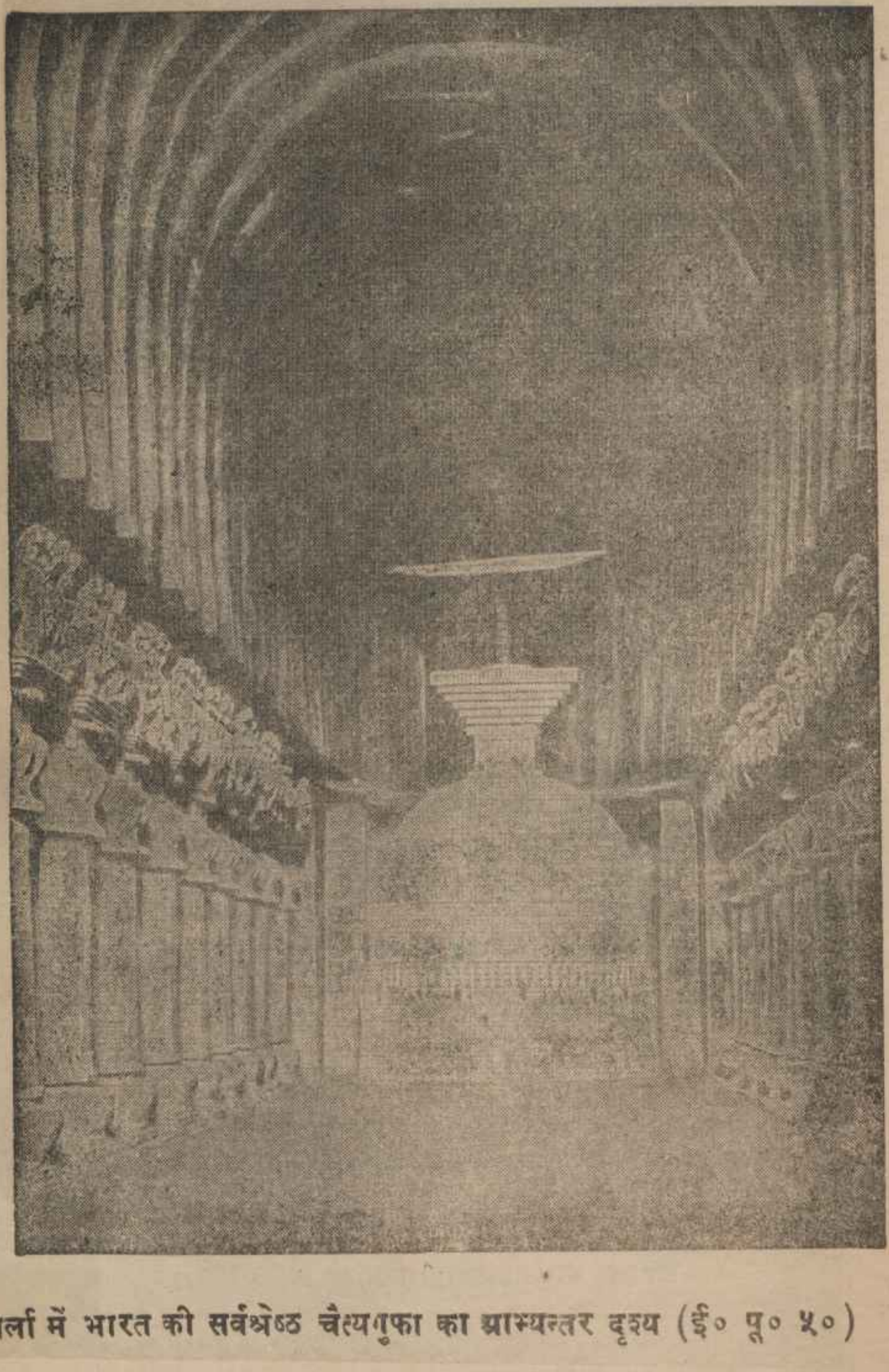

कार्ला में भारत की सर्वश्रेष्ठ चैत्यगुफा का आभ्यन्तर दृश्य (ई० पू० ५०)

सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में गौतम बुद्ध की मूर्ति (पाँचवीं शती)

अजन्ता चित्र—सत्रहवीं गुफा में बुद्ध को
माता के द्वारा राहुल का समर्पण
(५०० ई०)

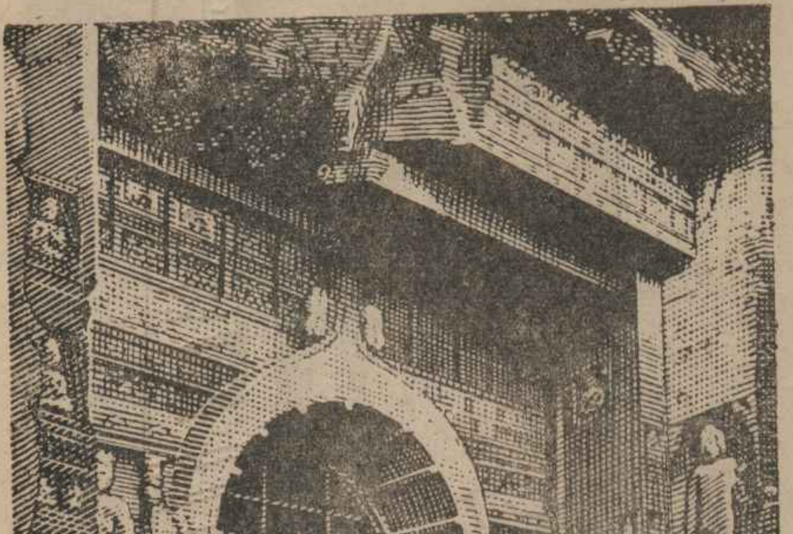

अजन्ता की १९वीं गुफा का बाह्य दृश्य (छठीं शती)

अजन्ता की प्रथम गुफा में पद्मपाणि अवलोकितेश्वर का चित्र
(सातवीं शताब्दी)

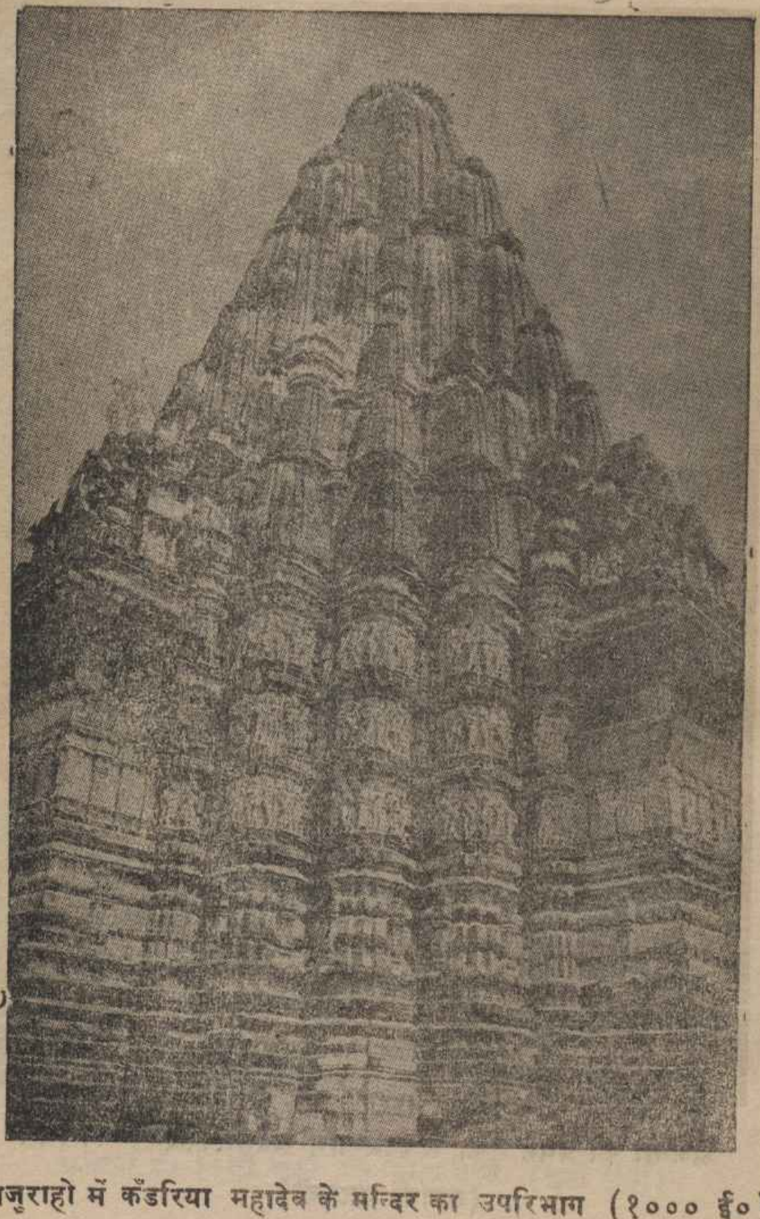

खजुराहो में कँडरिया महादेव के मन्दिर का उपरिभाग (१००० ई०)

तंजौर का मन्दिर (१००० ई०)

भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर (१००० ई०)

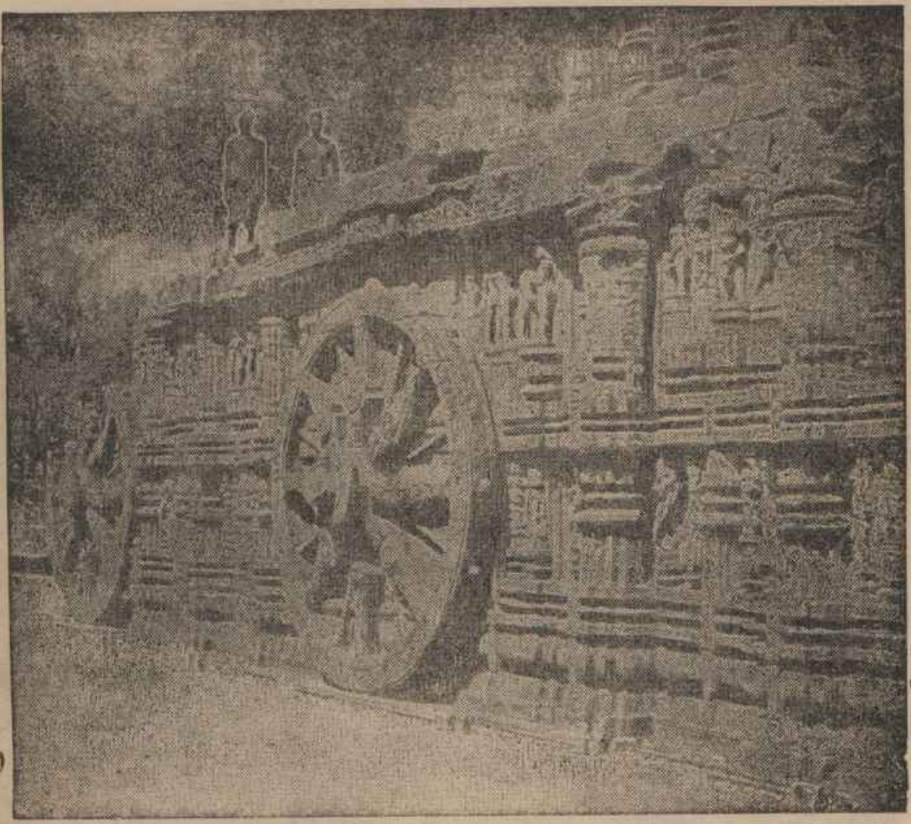

कोणार्क में सूर्यमन्दिर (तेरहवीं शताब्दी)

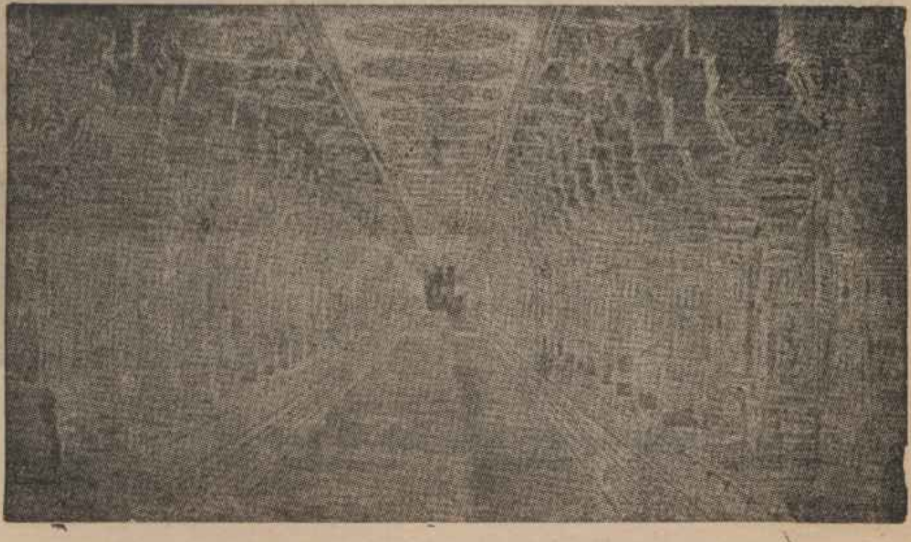

रामेश्वर के मंदिर का भीतरी दृश्य (पन्द्रहवीं शताब्दी)

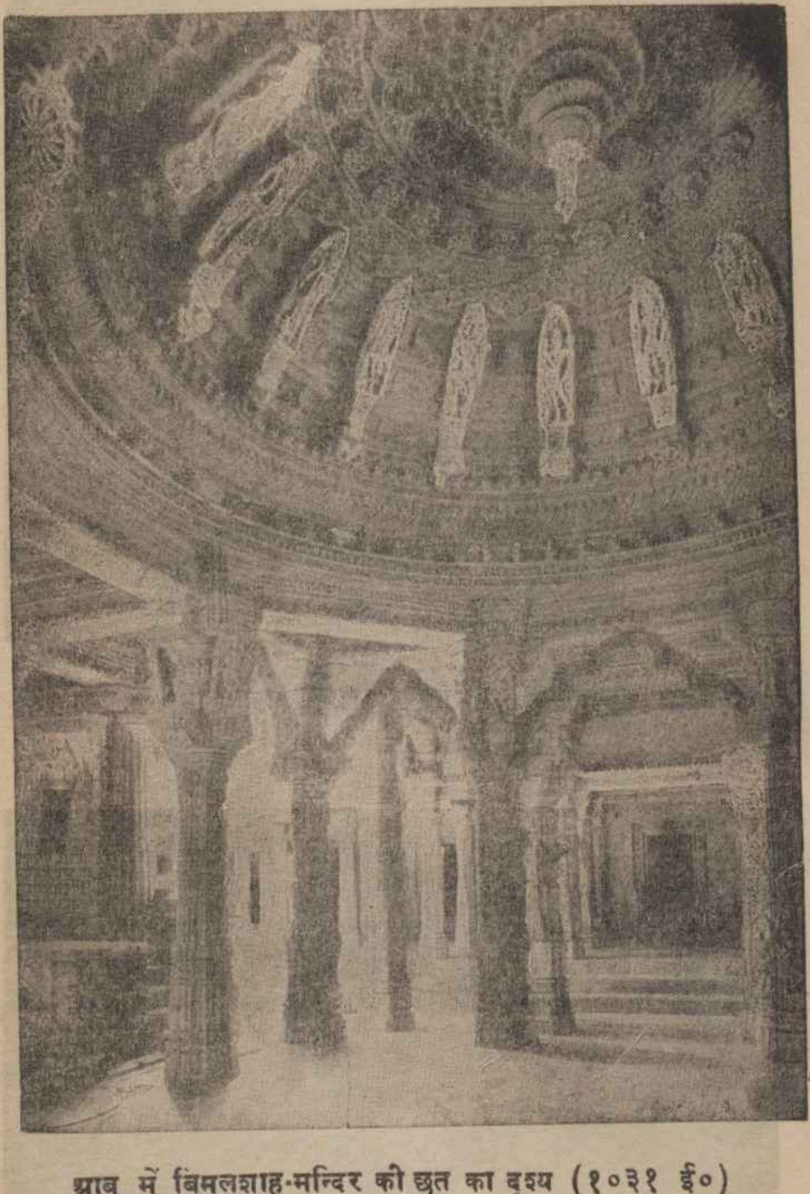

आबू में बिमलशाह-मन्दिर की छत का दृश्य (१०३१ ई०)

संस्कृत साहित्य के अद्वितीय ग्रंथ

- संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामजी उपाध्याय
  भाग १ (काव्य साहित्य) १७.००; भाग २ (नाट्य साहित्य-पूर्वार्द्ध) १२.००
- भारत की संस्कृति साधना—डा० रामजी उपाध्याय १०.००
- प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति—डा० रामजी उपाध्याय १२.००
- भारतीय संस्कृति का उत्थान—डा० रामजी उपाध्याय ७.५०
- भारत की सामाजिक क्रान्ति—डा० रामजी उपाध्याय ३.००
- संस्कृत के महाकवि और काव्य—डा० रामजी उपाध्याय ८.००
- भारतीय संस्कृति—डा० बल्देव प्रसाद मिश्र ७.५०
- संस्कृत व्याकरण प्रवेशिका—डा० बाबूराम सक्सेना ६.००
- संस्कृत निबन्ध दर्शिका—Aptes Guide to Sanskrit Composition ४.००
- सिद्धान्तकौमुदी-कारकदीपिका—पं० मोहन वल्लभ पंत १४.७५
- लघुसिद्धान्तकौमुदी—संज्ञा-संधि १.००; अजन्त पंल्लिग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग २.००
  कृदन्त कारक, समास, तद्धित, २.५०, पुंल्लिग सुबन्त, लकारार्थ, स्त्रीप्रत्यय ५.५०
- श्रीमद्वाल्मीकि रामायण—बाल काण्ड (सटीक)—द्वारका प्रसाद शर्मा २४.००
- रघुवंशम्—सर्ग २—२.२०; सर्ग १३—१.७५ व सर्ग, ३, ४, ५, ६ ८, १४ प्रत्येक २.००
- रघुवंशम्—सर्ग १ ३.००
- नलोपाख्यानम् ३.००
- प्रतिमानाटकम्—कपिलदेव द्विवेदी ३.५०
- मेघदूतम्—पूर्व ३.०० व उत्तर ३.००
- कुमारसंभवम्—सर्ग १ १.०० व सर्ग ५ २.००
- शिशुपालवधम्—सर्ग १ ४.०० व सर्ग २ २.००
- किरातार्जुनीयम्—सर्ग १ ३.०० व सर्ग २ २.००
- हर्षचरित—प्रथम उच्छ्वास ३.००
- काव्यप्रकाश—दशम उल्लास २.५०
- बुद्धचरितम्—सर्ग १—१.८०, सर्ग—३ ०.७५
- उत्तररामचरितम्—सर्ग ३ १.५०
- मित्रलाभ—हितोपदेश ३.२५
- चंद्रालोक पंचम मयूख २.५०
- कादम्बरी—कथामुख ८.५०
- दशकुमारचरित—पूर्व पीठिका २.००
- पंचतंत्रम्—अपरीक्षितकारक २.४०
- मुद्राराक्षस-नाटकम् ७.५०
- वेणीसंहार-नाटकम ५.५०
- स्वप्नवासवदत्तम ४.२५
- ऊरुभंगम २.२५
- रत्नावली-नाटिका ४ ५०
- मालविकाग्निमित्रम ३.००
- विक्रमोर्वशीयम् ६·००
- भोजप्रबन्ध २.५०
- नीतिशतक ३.००
- वैराग्यशतक २.५०
- अमरकोष ५.५०
- ईशावास्योपनिषद् १.००
- कठोपनिषद् २.५०
- शुकनासोपदेश १.५०
- महाश्वेतावृत्तान्तः ३.२५
- विश्रुतचरितम् २.००

रामनारायणलाल बेनीमाधव

प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता

२, कटरा रोड, इलाहाबाद—२